क्षय-रोग

प्रथम भाग

क्षय-रोग का कारण—प्रसार—उत्पत्ति—लक्षण—
परीक्षा-विधियाँ

रंगीन और सादे ११५ चित्रों सहित



लेखक
शङ्करलाल गुप्त, एम० बी० बी० एस०
सुपरिण्टेण्डेण्ट, यू० पी० जेल सैनेटोरियम,
सुलतानपुर (अवध)



प्रकाशक
हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग

पहला संस्करण]   १९३३   [मूल्य छः रुपये

Printed and published by R N Tripathi at the
Hindi-Mandir Press, Allahabad

समर्पण

मेजर जेनरल सी० ए० स्प्रौसन, एम० डी०,

एफ़० आर० सी० पी०, सी० आई० ई०,

आई० एम० एस; डाइरेक्टर जेनरल

इडियन मेडिकल सर्विस,

महोदय की सेवा में

सादर समर्पित ।

प्राक्कथन

क्षयरोग जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय पर इस ढग की पुस्तक की आवश्यकता बतलाने के लिए कुछ कहना व्यर्थ है। जन-सख्या की द्रुत वृद्धि और आर्थिक दुर्दशा के साथ-साथ यह दुष्ट रोग लगभग सारे देश में और विशेष कर हमारे प्रान्त मे बडा भयकर रूप धारण कर रहा है। ऐसी स्थिति में हिन्दी में इस विषय पर एक ऐसी पुस्तक लिखकर लेखक ने भारी देश-सेवा का कार्य किया है और जो लोग अंग्रेजी से अपरिचित हैं, उनकी शिक्षा के लिए उपयुक्त सामग्री एकत्रित कर दी है। हमारी देशी चिकित्सा-पद्धतियाँ जिस उत्साह के साथ आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों के समकक्ष होने की निरन्तर चेष्टा कर रही हैं, उसको देखते हुए ऐसी पुस्तक का लिखा जाना ठीक ही नही, बल्कि परमावश्यक है।

डा० शकरलाल ने आठ वर्ष से भी अधिक समय तक यू० पी० जेल सैनेटोरियम के सुपरिटेंडेट के पद पर काम करके क्षयरोग के सभी रूपो का वैज्ञानिक तथा व्यवहारिक विस्तृत ज्ञान प्राप्त किया है। उन्होंने इस उपयोगी पुस्तक की रचना मे अपने अमूल्य अनुभव का उपयोग किया है। जिस सफलता के साथ उन्होंने शुद्ध हिन्दी मे ऐसे कठिन चिकित्सा सम्बंधी विशिष्ट वैज्ञानिक विषय का स्पष्टीकरण किया है उससे उनकी हिन्दी की पूर्ण योग्यता प्रदर्शित होती है। उन्हे ऐसा करने मे अनेकों कठिनाइयों को पार करना पडा है, हिन्दी में कितने ही वैज्ञानिक शब्द गढने पडे हैं जो सम्भवत जब तक हिन्दी भाषा रहेगी, जीवित रहेंगे। आशा है, इस महान कृति को लेखक के परिश्रम के अनुरूप ही सफलता मिलेगी। लेखक ने इसके लिखने मे कितना परिश्रम किया है, इसका पता इस बात से भी लगता है कि इस पुस्तक को न केवल आवश्यक शुद्ध चित्रों से ही विभूषित किया गया है बल्कि रोग के कारण, निदान और परीक्षा इत्यादि विषयों की छोटी से छोटी बातो पर भी ध्यान दिया गया है।

देशी चिकित्सा-पद्धतियों के पृष्ठपोषकों को तो डा० शंकरलाल का और भी कृतज्ञ होना चाहिये कि उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली पर हिन्दी में क्षय-रोग पर एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित की है। इसके द्वारा उनके विद्यार्थियों को इस रोग के विषय में आधुनिक ढंग से वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने में सुगमता मिलेगी।

यह पुस्तक सर्वथा इस योग्य है कि सरकार तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, हिन्दी नागरी-प्रचारिणी सभा और हिन्दुस्तानी एकेडेमी आदि साहित्यिक संस्थायें इसको पूर्णतया अपनायें और ग्रन्थकार के उत्साह को बढ़ायें।

लखनऊ
२० नवम्बर, १९३३

बी० एन० व्यास,
एम० बी०, राय बहादुर,
प्रधानाध्यक्ष, निघण्टु-विभाग,
किंग जार्ज मेडिकल कॉलेज,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ

भूमिका

भारतवर्ष मे क्षय-रोग का भयंकर प्रसार है। हर साल लाखों मनुष्य इसकी भेंट चढ जाते हैं। विश्वस्त आँकडे बतलाते हैं कि यह रोग किस प्रकार दिन-बदिन बढती पर है। कोई प्रान्त नही, जहाँ इसकी संहारलीला जारी न हो, कोई घर नहीं, जहाँ यह मेहमान न हो। जितने मनुष्य इससे मरते हैं, उससे कई गुने अधिक बीमार पडे रहते हैं। इस रोग के कारण देश मे कितना धन और जन को नाश होरहा है, इसका अनुमान करना सहज नहीं है।

परन्तु ऐसे भयकर रोग के प्रतिकार के लिए इस देश मे अभीतक कोई सन्तोषजनक उद्योग नही हुआ है। पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि यथोचित उपाय करने से क्षय-रोग से बचाव हो सकता है और उसका प्रसार कम किया जा सकता है। यूरोप तथा अमेरिका मे क्षय-निवारक समितियों को इस रोग के रोकने के प्रयत्न मे आश्चर्यजनक सफलता मिली है। इस सफलता का प्रभाव भारतवर्ष मे भी पडा है। फलत विचारशील लोगों का ध्यान अब क्षय-रोग की समस्या की ओर आकर्षित हुआ है और जगह-जगह क्षय-निवारक समितियाँ खोली जा रही हैं।

इस कार्य में सबसे बडी कठिनाई है देश की जनता मे क्षय-रोग के सम्बन्ध में फैला हुआ अज्ञान, अशिक्षितों का तो पूछना ही क्या है, जो लोग शिक्षित और समाज के अगुआ हैं, वे भी इस रोग के बारे में अंधकार में हैं। इसका कारण है हिन्दी मे क्षय रोग-सम्बधी साहित्य का नितान्त अभाव। हिन्दी इस देश के जनसाधारण की प्रमुख भाषा होते हुए भी, खेद की बात है कि उसमें विज्ञान-विषयक पुस्तकें बहुत थोड़ी हैं। क्षय-रोग पर तो कोई पुस्तक है ही नहीं, कहना चाहिए। इने गिने अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के प्रयत्न से क्षय रोग के निवारण मे सफलता नहीं मिल

सकती। जब तक कि हिन्दी में इस विषय के साहित्य की यथेष्ट वृद्धि न होगी, घर-घर मे सच्चा ज्ञान नहीं फैलाया जायगा, जनसाधारण में क्षय-रोग से न जूझने की शक्ति पैदा होगी और न वे क्षय-निवारण के कार्य में सहयोग कर सकेगे। इन्ही बातो को सामने रखकर मैं 'क्षय-रोग' को लिखने मे प्रवृत्त हुआ हूँ। मुझे आशा है, कि इस पुस्तक के प्रकाशन से उपर्युक्त उद्देश्यो की कुछ अश तक पूर्ति अवश्य होगी। साधारण हिन्दी के जाननेवाले इसे पढ़कर इस बात को भलीभाँति समझ जायेंगे कि क्षय-रोग एक छूत की बीमारी है और सतर्कता तथा उचित उपायो के अवलम्बन से इसका प्रसार रोका जा सकता है।

चिकित्सको, वैद्यो और विद्यार्थियों के लिये तो मैने इस पुस्तक को विशेष रूप से उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। क्षय रोग-सम्बन्धी नई से नई खोजों तथा उनसे ज्ञात अनेक बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। विवाद-ग्रस्त प्रश्नों के समाधान तथा रोग की चिकित्सा सम्बन्धी कितनी ही गुत्थियो को सुलझाने के लिये इस विषय के भिन्न-भिन्न पाश्चात्य विद्वानो और आधुनिक लेखकों के मतो की विशद आलोचना की गई है। आजकल के वैद्यों और आयुर्वेद के विद्यार्थियो के लिये केवल चरक और सुश्रुत का अध्ययन ही यथेष्ट नही है। समय के समकक्ष बने रहने के लिए उनको नई नई परीक्षा-विधियों तथा इलाजो से परिचित होना चाहिये। इस पुस्तक मे इन सभी बातों का समावेश है। महत्त्वपूर्ण अशो को ध्यानाकर्षक बनाने के लिए, उनको 'वक्राक्षरों' मे दे दिया गया है। जटिल विषयो को समझाने के लिए पर्याप्त संख्या मे चित्र भी दिये गये हैं।

इस पुस्तक के लिखने मे मुझे कई कठिनाइयो का सामना करना पडा है। हिन्दी-भाषा का न मैं कोई विद्वान हूँ और न मुझे अच्छी हिन्दी लिखने का दावा ही है। मामूली बोलचाल की भाषा का ज्ञान रखते हुए केवल हिन्दी के प्रेम और जनसाधारण मे क्षय-रोग के बारे मे जागृति फैलाने की भावनाओ से प्रेरित होकर ही मैंने कुछ लिखने का साहस किया है। मेरे इस प्रथम प्रयास में भाषासम्बन्धी तथा और अनेक ऐसी त्रुटियाँ रह गई हैं जिनका दूर करना दूसरी आवृत्ति ही मे सम्भव होगा। आशा है, पाठकगण इन दोषों पर ध्यान न देकर पुस्तक को उसकी उपयोगिता ही की दृष्टि से देखेंगे।

इस पुस्तक मे अनेक नए वैज्ञानिक शब्दो की रचना की गई है। इस सम्बन्ध में भी कुछ निवेदन करना अनुचित न होगा। हिन्दी मे आधुनिक वैज्ञानिक शब्दो का अभाव है और उसका पूरा करना परमावश्यक है। परन्तु यह प्रश्न जितना ही महत्वपूर्ण है, उतना ही कठिन और विवाद-ग्रस्त भी है। कुछ लोगो का मत है कि अंग्रेजी के वैज्ञानिक शब्दो को ज्यों का त्यो हिन्दी मे ले लेना चाहिए। इससे एक तो बने बनाए शब्द मिल जॉयगे और दूसरा लाभ यह होगा कि भारतवर्ष की सब प्रान्तीय भाषाओं मे एक-से शब्द रहेंगे, जिससे उनका परस्पर भेद कम हो जायगा। यदि हिन्दी मे संस्कृत के शब्द लिये गये और उर्दू मे फारसी और अरबी के, तो उनकी बीच की खाई और भी बढ जायगी। राजनैतिक दृष्टि से भी यह एक बडे महत्व का प्रश्न है।

परन्तु भाषा की दृष्टि से इस मत का समर्थन करना कठिन होजाता है। अँग्रेजी के शब्दो को ज्यो का त्यों लेने मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि जो लोग अँग्रेजी नहीं जानते, वे उन शब्दो का न तो ठीक ठीक उच्चारण कर सकते हैं, न उन्हे आसानी से समझ सकते हैं और न स्मरण रख सकते हैं।

अन्य लोगो का मत है कि भारतवर्ष की अधिकाश प्रान्तीय भाषाओं का संस्कृत से सामान्य सम्बन्ध है। प्रान्तीय भाषाओं मे संस्कृत का वही स्थान है जो यूरोप की भाषाओं मे लैटिन का है। अँग्रेजी के अधिकाश वैज्ञानिक शब्दो की उत्पत्ति लैटिन भाषा से हुई है। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न प्रान्तीय भाषाओं मे जितने आयुर्वेदिक शब्दो का प्रयोग होता है वे प्राय सभी संस्कृत के शब्द हैं। इसलिए हिन्दी मे वैज्ञानिक शब्दो की रचना संस्कृत के आधार पर ही करनी चाहिए और तभी वे सर्वमान्य हो सकेंगे। मैंने इसी मत का अनुसरण किया है। यह अवश्य है कि बहुत से शब्दो के गढने में मैंने स्वच्छन्दता से और व्याकरण की दृष्टि से कहीं-कहीं बिलकुल निरकुशता से काम लिया है। इसप्रकार रचे हुए शब्द सभी निर्दोष और ग्राह्य होंगे, ऐसा सम्भव नही है। फिर भी मुझे आशा है कि इनमे से अनेक शब्दों को आगे चलकर हिन्दी के वैज्ञानिक शब्द भाण्डार मे स्थायी स्थान मिल जायगा।

अन्त मे मै उन ग्रन्थकारो तथा प्रकाशकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट किए बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने बडी उदारतापूर्वक मुझे

अपनी पुस्तकों से चित्रों को लेकर मुद्रित करने की अनुमति दी है। इनमें डाक्टर मॉरिस फिशवर्ग, डाक्टर जेम्स क्रॉकेट, डाक्टर आर० सी० विंगफील्ड, डाक्टर एडवर्ड आर० वाल्डविन, डा० एस० ए० पेट्रौफ तथा डा० एल० एस० गार्डनर महोदयों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी सम्बन्ध मे लडन के मेसर्स हेनरी किम्पटन, मेसर्स एच० के० लीविस एण्ड कम्पनी तथा मेसर्स कान्स्टेबिल कम्पनी भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

जिन-जिन बीमा कम्पनियों तथा हेल्थ आफिसर महोदयों ने अपने यहाँ की क्षय-रोग सम्बन्धी सूचनाएँ भेजने की कृपा की हैं, उनका भी मैं विशेष आभारी हूँ।

हिन्दी मंदिर प्रेस के मालिक श्रीमान् पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी भी, जिन्होंने अपनी अवधानता मे इस पुस्तक को छपवाने का कष्ट उठाया है, मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

सुलतानपुर
जुलाई, सन् १९३३ ई०

शंकरलाल गुप्त

विषय-सूची

पहला परिच्छेद

प्रस्तावना

दूसरा परिच्छेद

क्षय-कीटाणु

तीसरा परिच्छेद

क्षय-संक्रमण

थूक की फुहार से सक्रमण—श्वास-मार्ग से क्षय-कीटाणुओं के प्रवेश मे प्राकृतिक रुकावटे—अन्न-मार्ग—अन्न-मार्ग मे स्वाभाविक रुकावटें—रक्त-मार्ग—जनन तथा जरायु-मार्ग—शरीर पर क्षय-कीटाणुओं का प्रभाव—स्थानिक-प्रदाह—क्षय-सक्रमण में व्यापक शारीरिक परिवर्तन—अति चैतन्यता—अतिचैतन्यता की पहिचान—रोग-क्षमता। (पृष्ठ १९—३१)

चौथा परिच्छेद

क्षय-रोग का प्रसार

क्षय-कीटाणु सर्वत्र फैले हुए हैं—क्षय सक्रमण और क्षय-रोग—क्षय-सक्रमण की विश्व व्यापकता—शवच्छेदों मे गुप्त तथा निवृत्त विकारों का मिलना—आयु के अनुसार क्षयी-विकारो मे भेद—क्षयरोग—जीवित मनुष्यों मे क्षय-संक्रमण का प्रसार—असभ्य आदिम जातियों में क्षय सक्रमण का प्रसार—विभिन्न जातियो की क्षय ग्रहण-शीलता मे अन्तर—क्षय-प्रसार का भौगोलिक वितरण—शहर और देहात मे क्षय-सक्रमण और क्षय-रोग का प्रसार—सामाजिक और आर्थिक दशा का क्षय-रोग पर प्रभाव—लडाई और दुर्भिक्ष का प्रभाव—आयु का प्रभाव—शैशव और युवाक्षय—क्षय सक्रमण और क्षय-रोग के आयु वितरण मे अन्तर—स्त्रियो और पुरुषो मे क्षय-रोग का प्रसार—क्षय-रोग से मृत्यु—विभिन्न देशो की क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति मे न्यूनाधिकता—कुछ देशो मे क्षय-रोग की कमी के कारण। (पृष्ठ ३२–६४)

पाँचवाँ परिच्छेद

भारतवर्ष में क्षय-रोग का प्रसार

कठिनाई—विशेष स्थानो के आँकडे—कलकत्ता निवासी भारतीय ईसाइयो के श्मशान-रजिस्टर के आँकडे—कलकत्ता के योरोपियन और एङ्गलो इडियनो के श्मशान-रजिस्टर के आँकडे—वेसिल इवैजेलिकल मिशन, कालीकट के श्मशान-रजिस्टर के आँकडे—लाहौर के भारतीय ईसाइयो के श्मशान-रजिस्टर के आकडे—सिकन्दर के ईसाइयो मे क्षय-जनित मृत्यु के आँकडे—क्षय-रोग की प्रसारसम्बधी जाँचे—क्षय-रोग के प्रसार का भौगोलिक वितरण—नगर और देहात मे प्रसार—क्षय-रोग की मृत्यु-संख्या का आयु-वितरण—स्त्रियो और पुरुषों मे क्षय-रोग—बम्बई प्रान्त के कुछ

छठवाँ परिच्छेद

क्षय-रोग की उत्पत्ति

सातवाँ परिच्छेद

क्षय-रोग की उत्पत्ति

रोगक्षमता की विचित्र घटना

आठवाँ परिच्छेद

निदान और शरीर-विकृति

नवाँ परिच्छेद

निदान और शरीर-विकृति

फेफड़ों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों में विकार

दसवाँ परिच्छेद

क्षय-रोग की लक्षणावली

रोगी का हाल

ग्यारहवाँ परिच्छेद

खाँसी, कफ और स्वरभंग

बारहवाँ परिच्छेद

ज्वर और रात्रिस्वेद

तेरहवाँ परिच्छेद

रक्त-निष्ठीवन

चौदहवाँ परिच्छेद

पाचक-संस्थान, त्वचा तथा संधियों सम्बन्धी लक्षण

पाचन संस्थान के लक्षण

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

रक्त तथा मूत्र संस्थान सम्बंधी लक्षण

हृदय और नाड़ी संस्थान

सोलहवाँ परिच्छेद

राजयक्ष्मा के वात-संस्थान सम्बंधी लक्षण

सत्रहवाँ परिच्छेद

क्षय-रोगी की परीक्षा

अठारहवाँ परिच्छेद

निरीक्षण

उन्नीसवाँ परिच्छेद

स्पर्श-विधि

बीसवाँ परिच्छेद

विघातन परीक्षा

की विघातन-परीक्षा—शिखरों की गूँज का सीमाङ्कित करना—क्षय-रोग में शिखर की गूँज में परिवर्तन—विघातन में अन्तर डालनेवाली रोग दशायें—फेफड़े की दशायें—पूर्णमाद्य—टेंटुआ और श्वासनलों की ग्रन्थियों की वृद्धि। (पृष्ठ ३२५–३५५)

इक्कीसवॉ परिच्छेद

श्रवण-परीक्षा

विषय-प्रवेश—श्रवण-परीक्षा की विधियाँ—प्रत्यक्ष विधि—अप्रत्यक्ष विधि—एक कानवाला उरवीक्षक-यन्त्र—दो कानवाले उरवीक्षक-यन्त्र—श्रवण-परीक्षा के नियम—कुछ स्थानों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—श्रवण का क्रम—एककालिक श्रवण विधि—प्रकृतिस्थ श्वास-शब्द—कोष्ठीय श्वास-शब्द का कारण—श्वासनालिक श्वास—श्वासनल-कोष्ठीय श्वास—रोग में श्वास-शब्द—निर्बल कोष्ठीय श्वास—विषम या दानेदार श्वास—झटकेदार श्वास—दीर्घ निश्वास—प्रखर या कर्कश श्वास—श्वासनालिक श्वास के विकार—रान्ध्रिक श्वास—भृङ्गारिक या एम्फोरिक श्वास—बीच के (मध्य रूपवाले) श्वास-शब्द—श्वासनल कोष्ठीय श्वास—भ्रम होने के कारण—ऊपरी शब्द—ऊपरी शब्द क्या हैं ? ऊपरी शब्दों के उद्गम स्थान—फेफड़े के रोग से उत्पन्न विभिन्न ऊपरी शब्द—(१) करकर कण—उनके लक्षण और कारण—सूक्ष्म करकर कणों का महत्व, (२) चटपट या भर्जन कण—उनके लक्षण—चटपट कणों का महत्व, (३) श्लैष्मिक कण—श्लैष्मिक कणों का महत्व (४) रान्ध्रिक या सुरीले कण और उनके लक्षण—धातविक झंकार—छलक—कास कण और उनका कारण—मञ्जुल और प्रखर कासकण और उनका महत्व—कणों का देर तक रुकना—कणों पर खाँसने का प्रभाव—क्षय-रोग में कणों और श्वास-शब्दों का अनुक्रम—ऊपरी शब्दों का साध्या साध्य विचार सम्बन्धी महत्व—पार्श्वकला के रोगों से उत्पन्न ऊपरी शब्द—(१) रगड़-शब्द, (२) खुरच-शब्द, (३) करकर-शब्द, (४) खरखराहट—पार्श्वकला और फेफड़े के ऊपरी शब्दों में प्रभेद—वारि वायुवक्ष के ऊपरी शब्द—छलक—धातविक झंकार—गार्डनर का मुद्राशब्द—बोल की गूँज—बोल की गूँज के रूप के परिवर्तन—फुफ्फुस वक्ष-मौखर्य—बोल की गूँज और बोल की खरखराहट की तुलना—हैरिसन का रोग-चिह्न—खाँसी की श्रवण-परीक्षा—फेफड़े के क्षय-रोग में हृदय के शब्द। (पृष्ठ ३५६—३९०)

बाईसवाँ परिच्छेद

रोञ्जन-किरण-परीक्षा



चित्र-सूची

विकार, जो क्षय-कीटाणुओं से शरीर में उत्पन्न होते हैं, क्षय-रोग के अन्तर्गत समझे जाते हैं। इस व्यापक अर्थ में क्षय-रोग को अंग्रेजी में "ट्यूबरक्यूलोसिस" (Tuberculosis) कहते हैं। ट्यूबरक्यूलोसिस के लिए इस पुस्तक में 'यक्ष्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है। सब प्रकार के क्षय-रोगों में फेफड़ों का क्षय सर्वप्रधान और सबसे अधिक होता है। इसलिए साधारण व्यवहार में केवल क्षय-रोग कहने पर फुफ्फुस-क्षय का ही बोध होता है। फेफड़ों के साधारण क्षय को अंग्रेजी में थाइसिस (Phthisis) कहते है, जिसके लिए इस पुस्तक में राजयक्ष्मा शब्द का प्रयोग किया गया है। पाठकों को चाहिए कि यक्ष्मा और राजयक्ष्मा के इस अन्तर को भलीभाँति समझ ले और ध्यान में रक्खे।

क्षय-रोग का इतिहास—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, आजकल की भाँति प्राचीन काल में भी क्षय-रोग होता था और लोग उससे भलीभाँति परिचित थे, परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया और नई-नई वैज्ञानिक बातें ज्ञात होती गई, क्षय सम्बन्धी विचारों में भी परिवर्तन होता गया। इस विचार-परिवर्तन का इतिहास बड़ा मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है।

प्राचीन काल में संसार की सभी सभ्य जातियाँ भिन्न-भिन्न नामों से क्षय-रोग से परिचित थी। यूनान के चिकित्सा-साहित्य में इस रोग का निश्चयात्मक वर्णन मिलता है। ईसवी सन् से कई शताब्दी पूर्व भिन्न-भिन्न देशों में इस रोग का लोगों को यथेष्ट ज्ञान था। लंदन नगर के 'रायल कालेज आफ सर्जन्स' (Royal College of Surgeons) के अजायबघर में मिस्र देश से एकत्रित की हुई कुछ पुरानी अस्थियाँ हैं, जो ईसवी सन से कई शताब्दी पूर्व की कही जाती हैं। परीक्षा करने पर इनमें क्षय-रोग के चिन्ह मिले हैं। भारतवर्ष में भी लोग क्षय-रोग से भलीभाँति परिचित थे। इस रोग का वर्णन आत्रेय संहिता में, जो ईसवी सन् से कम से कम १००० वर्ष या इससे भी अधिक पूर्व की है, मिलता है। चरक और सुश्रुत-संहिता में तो इस रोग तथा इसके उपद्रव और इलाज का विस्तृत वर्णन मिलता है।

ईसवी सन से ४६० वर्ष पूर्व यूनान के प्रसिद्ध चिकित्सक हिपोक्रैटीज (Hippocrates) ने लिखा था कि यह रोग १८ से ३६ वर्ष तक की आयु में सबसे अधिक होता है। उनका मत था कि क्षय-रोग दूषित

शरीर-रचना का फल होता है और इस दोष विशेष को उन्होंने क्षयी प्रकृति (Tuberculous diathesis) का नाम दिया था। ईसवी सन से २५० वर्ष पूर्व एरीटियस् (Aeretaeus) ने समुद्र-यात्रा तथा सामुद्रिक जलवायु को क्षय-रोग के इलाज मे लाभदायक बताया था। सेल्सस (Celsus) और गेलिन (Galen) ने चरक और सुश्रुत का अनुकरण करते हुये बकरी के दूध को क्षय-रोग के इलाज मे हितकर और जलवायु-परिवर्तन को भी उपयोगी बताया था। प्लिनी (Pliny) ने लिखा है कि उनके समय मे समुद्र-यात्रा क्षय-रोग की लोकप्रिय चिकित्सा समझी जाती थी। अरब के चिकित्सक भी गेलिन की भाँति क्षय रोग के इलाज मे बकरी के दूध का अधिक प्रयोग करते थे।

अरब-चिकित्सा युग के पश्चात् कई शताब्दियों तक योरोप मे मध्यकालीन चिकित्सा की अवस्था शिथिल रही। उसके बाद भूमध्य सागर के निकटवर्ती देशों मे, विशेषकर इटली, फ्रान्स और स्पेन मे इसका पुनरुत्थान हुआ। उस समय इन देशों में यह विचार फैला हुआ था कि क्षय-रोग दूषित शारीरिक रचना से नहीं, परन्तु छूत (Contagion) से उत्पन्न होता है। क्षय-रोग के सक्रामक होने में उस समय इतना दृढ विश्वास था कि छूत के रोकने के लिए राज्य की ओर से बड बडे कठोर नियम बनाये गये थे। स्पेन मे पचम फिलिप के राजत्वकाल मे (सन १७००-७५ ई०) क्षय-रोगियो की अनिवार्य विज्ञप्ति (Compulsory notification) का नियम बनाया गया था। इटली मे भी सन १७५४ ई० मे इसी प्रकार का कानून बनाया गया था। इस कानून के अनुसार चिकित्सकों के लिए प्रत्येक क्षय-रोगी की रिपोर्ट करना अनिवार्य था। रिपोर्ट होने पर ऐसे रोगियो को पृथक् करके एक असाध्यालय (Institution for incurables) मे रख दिया जाता था। जहाँ रोगियों को प्राय मृत्युपर्यन्त रहना पडता था। परन्तु यह नियम ३८ वर्ष के बाद रद कर दिया गया, क्योंकि इससे प्रजा मे असन्तोष फैलता था और लोगो को बडा कष्ट होता था। फ्रान्स मे सन १८०९ ई० तक क्षय रोगियों के पृथक् करने के नियमों का पालन किया गया, परन्तु बाद को सफलता प्राप्त न होने पर इन नियमों में शिथिलता आ गई।

यद्यपि क्षय-रोग के सक्रामक होने के सम्बन्ध मे इतने दृढ विचार योरोप

सभी जातियाँ इस विषय में अधिकाधिक सचेत हो रही है। क्षय-कीटाणुओं की खोज से इतना अवश्य हुआ है कि अब यह आशा की जाती है कि एक दिन अवश्य ऐसा आयेगा जब कि मनुष्य-जाति क्षय-रोग पर विजय प्राप्त करेगी। इस आशा के सफल होने के चिन्ह प्रकट होने लगे हैं। इँगलैंड और अमेरिका मे प्रयत्न करने से गत ५० वर्षों मे क्षय-रोग मे बहुत कुछ कमी हो चुकी है। क्षय-रोग के इलाज मे भी अब बहुत कुछ उन्नति होगई है। प्राचीन तथा मध्य काल मे क्षय रोग बिलकुल असाध्य समझा जाता था, परन्तु अब यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि क्षय-रोग नितान्त असाध्य नही है। उचित समय पर इलाज करने से पर्याप्त संख्या मे रोगी अच्छे हो सकते हैं। इस समय क्षय-रोग को याप्य या कष्टसाध्य कहना अधिक ठीक होगा।

भारतवर्ष मे क्षय-रोग के विषय मे जागृति—गत कई वर्षो मे भारतवर्ष मे भी लोगो का ध्यान क्षय-रोग की ओर आकृष्ट हुआ है। योरोप और अमेरिका म इस रोग की ओर जो अधिक ध्यान दिया गया है, इस रोग के विषय में जो साहित्य की वृद्धि हुई है और इसके प्रसार के रोकने के लिये जो बडे-बडे प्रयत्न किये गये है, उनका प्रभाव भारतवर्ष पर पडना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त बडे-बडे शहरो मे क्षय के प्रसार की अधिकता ने भी विचारशील पुरुषो का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। भारतवर्ष मे क्षय-रोग की उत्पत्ति और प्रसार मे कुछ विशेष बाते ऐसी है जो अन्य देशो मे नही पाई जाती। कुछ सामाजिक कुरीतियो का इस देश मे क्षय-रोग के प्रसार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन सामाजिक कुरीतियो के दूर करने के विषय मे कुछ मतभेद होना सम्भव है, परन्तु फिर भी यह आवश्यक प्रतीत होता है कि विचारशील पुरुषो को कम से कम इस बात का ज्ञान तो हो जाय कि इन सामाजिक बुराइयो को जारी रखने में देश को क्या मूल्य देना पडता है और उनकी वेदी पर कितनी जाने प्रतिवर्ष बलिदान हो जाती हैं।

———

दूसरा परिच्छेद

—०※०—

क्षय-कीटाणु

(Tubercle Bacilli)

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, सन १८८२ ई० में जर्मनी के प्रसिद्ध डा० राबर्ट काक ने सर्वप्रथम इस बात का पता लगाया और प्रयोग द्वारा सिद्ध किया था कि क्षय-रोग एक प्रकार के कीटाणुओं से होता है। ये क्षय-कीटाणु एक प्रकार के सूक्ष्म वनस्पति होते हैं, जिनको देखने के लिए अणुवीक्षण यंत्र (Microscope) की सहायता लेनी पड़ती है।

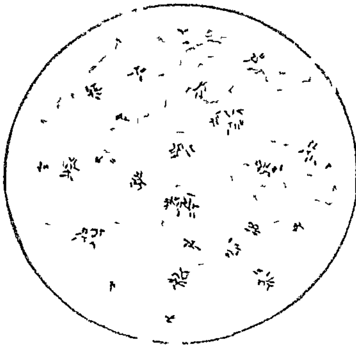
क्षय-कीटाणुओं का आकार और परिमाण—क्षय-कीटाणु आकार में एक बहुत छोटी और पतली सींक के समान होते हैं। ये प्रायः बिल्कुल सीधे होते हैं, परन्तु कभी-कभी कुछ टेढ़े भी दिखाई देते हैं। साधारणतः उनकी लम्बाई $\frac{१}{१५०००}$ इंच के लगभग होती है और चौड़ाई लम्बाई का दसवाँ भाग होती है। क्षयी मनुष्य के कफ में वे एक-एक या दो दो अथवा अनेक एक साथ पड़े दिखाई देते हैं। अणुवीक्षण यंत्र द्वारा देखने से उनका आकार कई सौगुना बड़ा दिखाई देने लगता है और इसलिये हम उनको देख सकते हैं। उनके आकार और परिमाण में कभी-कभी कुछ अन्तर भी होता है। इनके शरीर को एक प्रकार का स्निग्ध पदार्थ आच्छादित किये हुये होता है, जिससे इनकी बड़ी रक्षा होती है। क्षय-कीटाणुओं में चलने फिरने की शक्ति नहीं होती। एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने के लिये उन्हें किसी दूसरी वस्तु का सहारा लेना पड़ता है।

क्षय-कीटाणुओं के रँगने की विधि—क्षय कीटाणु वर्णहीन और छोटे होने के कारण अणुवीक्षण यंत्र से भी कठिनाई से दिखाई देते हैं।

इसके अतिरिक्त श्लेष्मादि में, जहाँ वे पाये जाते हैं, उन्हीं के आकार के छ
जातियों के कीटाणु भी पाये जाते हैं। अतएव उनको पहचानना और
कठिन हो जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये कीटाणु शा
वेत्ताओ ने क्षय-कीटाणुओं के रँगने की एक विशेष विधि निकाली है, जि
इनके पहचानने में बड़ी सुविधा होती है। जिस रोगी के कफ मे यह देख
हो कि क्षय-कीटाणु हैं या नहीं, उसके कफ का एक अश लेकर एक च
की पट्टी पर फैलाकर एक जाला-सा बना लिया जाता है। इस काँच की
को अगरेजी मे स्लाइड (Slide) कहते हैं। यह तीन इञ्च लम्बी, एक
चौडी और लगभग १/२० इञ्च मोटी होती है।

जब कफ का जाला सूखकर तैयार हो जाता है तो काँच की पट्टी
थोडा गरम करते हैं, जिससे कफ-जाल जमकर पट्टी पर चिपक जाय
पानी डालने से न छूटे। अधिक गरम करने से कफ-जाल जलकर ख
हो जाता है।

इसके बाद कार्बल फुचिसन (Carbol Fuchsin) नामक एक प्रका
लाल रंग से उस कफ-जाल को रँगते हैं। पट्टी पर यथेष्ट रग डाल
कफ जाल को ढक देते हैं और नीचे से एक स्प्रिट लैम्प (Spirit lan
से उसे इतना गरम करते हैं कि रग में से भाप निकलने लगे। अधिक ग
करने से रग उबलने लगता है और सब परिश्रम नष्ट हो जाता है। ग
करने से रग शीघ्र और अच्छा चढता है। यदि रग कम होने लगे तो
डाल देते हैं। इसीप्रकार लगभग ५ या ६ मिनट तक ठहरने के
रंग को फेंककर पट्टी को पानी से धो डालते हैं और धोने के उपरान्त ह
गंधकाम्ल (शुद्ध गंधक का तेजाब एक भाग + पानी चार भाग) में उ
थोड़ी देर तक डाले रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि गंधक
से कफ-जाल का सब लाल रग छूट जाता है। केवल क्षय-कीटाणुओं
रंग नहीं छूटता। इसलिए इनको 'अम्ल-स्थाई' (Acid fast) अर्थात् ते
से न छूटने वाले रग के कीटाणु भी कहते हैं। गंधकाम्ल से निकाल
और स्वच्छ पानी से धोकर उस कफ-जाल को फिर 'मैथिलिन
(Methylene blue) नामक एक प्रकार के नीले रग से रँगते
इस रग को केवल एक मिनट तक कफ-जाल पर छोड़ने से प
रंग चढ जाता है। फल यह होता है कि उस कफ के अन्य



चित्र नं० १—[illegible] द्वारा प्रदर्शित [illegible]
[illegible] में [illegible] सूक्ष्म [illegible] सूचित [illegible]।
(पृष्ठ [illegible])

अधिक गरमी कीटाणुओं के लिए हानिकर होती है। ६०° शतांश के ताप पर वे आधे घंटे में, ७०° शतांश ताप पर १५ मिनट में और ९०° शतांश पर पाँच मिनट में मर जाते हैं। परन्तु जब वे कफ में मिले रहते हैं तो उनके मरने में कुछ अधिक समय लगता है। इसीप्रकार जब वे दूध में मिले होते है तो और भी देर में मरते हैं, विशेषकर जब दूध एक खुले वर्तन में गरम किया जाता है, क्योंकि दूध के ऊपर जो मलाई की चादर जम जाती है, उसमें उनकी अधिक रक्षा होती है, परन्तु यह देखा गया है कि कीटाणु किसी भी अवस्था में क्यों न हो, ५ मिनट तक पानी में उबालने से अवश्य मर जाते हैं।

गरमी की अपेक्षा शीत से उनको कम हानि पहुँचती है। अधिक शीत से उनकी वृद्धि रुक जाती है और उनका विषैलापन अर्थात् रोगोत्पादक शक्ति (Virulence) कम हो जाती है, परन्तु वे मरते नहीं। शीत के कम होने ही वे पुन उत्तेजित हो उठते हैं, और उनकी वृद्धि होने लगती है।

मक्खन में क्षय-कीटाणु बहुत समय तक जीवित बने रहते हैं और इसीप्रकार गीले कफ में भी वे बहुत समय तक जीवित रहते हैं। जब कफ सूखकर धूल में मिल जाता है तब भी कई दिन तक वे जीवित बने रहते हैं।

सूर्य-प्रकाश इन कीटाणुओं के लिए अत्यन्त हानिकर होता है। तेज धूप में वे ५ या ६ मिनट में मर जाते हैं और साधारण सूर्य-प्रकाश में भी वे अधिक समय तक जीवित नही रह सकते। अँधेरी कोठरियों में, जहाँ सूर्य-प्रकाश नही पहुँच पाता, वे महीनों तक जीवित और विषैले बने रहते हैं। इससे यह स्वत प्रकट होता है कि सूर्य-प्रकाश इन कीटाणुओं से मनुष्य की बहुत कुछ रक्षा करता है, परन्तु मनुष्य अपनी अज्ञानता के कारण इससे पूरा लाभ नहीं उठाता और प्रकृति के नियमों की अवहेलनाकर प्रकाश-विहीन मकानों में रहता है, फलत उसको प्रकृति की ओर से क्षय रोगरूपी दंड मिलता है।

ऐसे अनेक रासायनिक पदार्थ हैं जो शरीर के बाहर क्षय-कीटाणुओं को क्षणभर में नष्ट कर सकते हैं, परन्तु अभी तक ऐसा कोई भी रस नहीं निकला है, जो शरीर के अन्दर उन कीटाणुओं को मार सके और साथ ही शरीर पर उसका कोई हानिकारक प्रभाव न हो।

क्षय-कीटाणुओं की आयु—शरीर के बाहर क्षय-कीटाणु बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकते, क्योंकि सूर्य के प्रकाश इत्यादि से उनका शीघ्र नाश हो जाता है। कृत्रिम माध्यमो में उगाकर यह देखा गया है कि यह डेढ़ वर्ष से अधिक जीवित नहीं रह सकते, परन्तु शरीर के अन्दर वे वर्षों तक जीवित रहते हैं। निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि शरीर के अन्दर ये कितने समय तक जीवित रह सकते हैं।

क्षय-कीटाणुओं में सन्तानोत्पत्ति—क्षय-कीटाणुओ में सन्तानोत्पत्ति का ढग बडा ही विचित्र होता है। एक कीटाणु जब खा-पीकर पुष्ट हो जाता है, तो उसके अपने आप दो टुकडे हो जाते हैं, जिनसे दो पृथक् पृथक् कीटाणु बन जाते हैं। इनकी वृद्धि इतनी शीघ्रता से होती है कि दिन-रात मे एक से लाखो कीटाणु बन जाते हैं। क्षय कीटाणु केवल शरीर के अन्दर ही पुष्ट और फलीभूत होते हैं। शरीर के बाहर इनकी वृद्धि नही हो सकती। इसलिये इनको परोपजीवी (Parasite) कीटाणु कहते हैं।

क्षय-कीटाणुओं की जातियाँ—मनुष्यों की भाँति पशुओं में भी क्षय-रोग होता है। क्षय-रोग की खोज के प्रारम्भिक काल मे यह देखा गया था कि मनुष्य और पशुओं के क्षय में भेद होता है, परन्तु उस समय इस विषय पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया।

सबसे पहले सन् १८९८ ई० मे डा० थ्योबोल्ड स्मिथ ने इस विषय मे पूरी-पूरी जाँच की और यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य और पशुओं का क्षय भिन्न भिन्न जाति के कीटाणुओं से होता है और इन दोनो जाति के कीटाणुओं की आकृति, उगने की विधि और रोगोत्पादक शक्ति मे अन्तर होता है। सन १९०१ मे राबर्ट काक ने भी अपना मत प्रगट किया कि उनके प्रयोगात्मक अनुशीलन से भी यही विदित होता है कि मनुष्यो और पशुओं के क्षय-कीटाणु भिन्न भिन्न होते हैं।

उपरोक्त कीटाणुओ के अतिरिक्त अन्य प्रकार के क्षय-कीटाणु भी ज्ञात हुए हैं। रिवोल्टा और मैफुसी ने यह सिद्ध किया है कि क्षयो पक्षियो में जो क्षय-कीटाणु मिलते हैं, वे मनुष्य और पशु क्षय कीटाणुओं से भिन्न होते हैं। भिन्न भिन्न देशों मे वहाँ की सरकार द्वारा नियुक्त की हुई समितियो ने इस बात की खोज की है। उन सबकी खोज से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुष्य क्षय-कीटाणु पशु क्षय-कीटाणुओ से भिन्न होते हैं। ब्रिटिश रायल कमीशन

(British Royal Commission) की खोज का सारांश यह है कि क्षय-कीटाणु तीन जाति के होते हैं—मनुष्य, पशु और पक्षी क्षय-कीटाणु। अधिकांश मनुष्य क्षय में केवल मनुष्य क्षय कीटाणु ही पाये जाते हैं, किन्तु कुछ संख्या मे पशु क्षय-कीटाणु भी मिलते हैं। पशुओं के स्वाभाविक रोग मे केवल पशु क्षय-कीटाणु ही पाये जाते हैं। डा० पार्क भी अपनी विस्तृत खोज से इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि मनुष्यो में क्षय-रोग दो जातियो के क्षय कीटाणुओं से होता है, एक मनुष्य क्षय कीटाणु और दूसरे पशु क्षय कीटाणु।

मनुष्य क्षय-कीटाणु—ये कीटाणु सब कृत्रिम माध्यमों मे भलीभाँति उगते हैं। ग्लिसिरीन मिलाने से इनकी वृद्धि और भी बढ जाती है। उगाए हुए कीटाणुओ की आकृति लम्बी और सीधी या कुछ-कुछ टेढी सींक-सी होती है।

मनुष्य क्षय-कीटाणु पशुओं के लिए साधारणत कम विषैले होते हैं। केवल गिनीपिग पशु मनुष्य-कीटाणुओं के प्रति अधिक रोगग्रहणशील (Susceptible) होते हैं और उनमें इन कीटाणुओ से आसानी से सक्रमण उत्पन्न किया जा सकता है। खरगोश कम ग्रहणशील होता है। इनकी शिरा मे मनुष्य क्षय-कीटाणुओं की पिचकारी लगाने से केवल हल्का और पुरातन क्षय-रोग उत्पन्न होता है, जो अच्छा हो जाता है। त्वचा के नीचे पिचकारी लगाने से केवल स्थानिक प्रदाह उत्पन्न होता है और उस स्थान से सम्बन्ध रखनेवाली लसिका ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं, परन्तु पकती नहीं। उदर कला में पिचकारी लगाने से उस कला मे प्रदाह उत्पन्न हो जाता है। घरेलू पशुओं में केवल शिरा में और अधिक मात्रा में पिचकारी लगाने से क्षय-सक्रमण हो सकता है, परन्तु त्वचा के नीचे पिचकारी लगाने से थोडा-सा स्थानिक प्रदाह होकर शीघ्र अच्छा हो जाता है। मनुष्य क्षय कीटाणुओं को भोजन में मिलाकर खिलाने से बछडों मे रोग उत्पन्न नही होता। सूअर, कुत्ते, बिल्ली और भेडों पर मनुष्य क्षय-कीटाणुओं का कोई प्रभाव नहीं होता। बन्दरो पर शीघ्र प्रभाव हाता है। कुछ पक्षी भी इन कीटाणुओ के प्रति रोगग्रहणशील होते हैं।

पशु क्षय-कीटाणु—पशु क्षय-कीटाणुओं का उगाना बडा कठिन होता है। आकृति में ये कीटाणु मनुष्य क्षय-कीटाणुओं को अपेक्षा कुछ

छोटे, मोटे और प्राय कुछ मुडे हुए होते हैं। दोनो जातियों के कीटाणुओं की आकृति मे इतना अन्तर नहीं होता कि साधारण कीटाणु-विज्ञानवेत्ता उन्हें पहचान सके।

मनुष्य क्षय-कीटाणुओं की अपेक्षा पशु क्षय-कीटाणु खरगोश, बछडे और सूअरों के लिए अधिक विषैले होते हैं। गिनीपिग पशु भी बहुत ग्रहणशील होते हैं। दोनों जाति के कीटाणुओं के विषैलेपन का अन्तर खरगोशों मे भलीप्रकार प्रदर्शित होता है। पशु क्षय-कीटाणुओं से सदा उग्र व्यापक बजरीला क्षय (Acute miliary Tuberculosis) उत्पन्न होता है, जिससे उनकी मृत्यु हो जाती है। उसी मात्रा मे मनुष्य क्षय-कीटाणुओं की पिचकारी लगाने से या तो रोग होता ही नहीं और यदि होता भी है तो बहुत हल्का और पुरातन रूप का। उग्र व्यापक रोग कभी नही होता। पशु क्षय कीटाणुओं की अपेक्षा मनुष्य क्षय कीटाणुओं की सौगुनी अधिक मात्रा मे पिचकारी लगाने पर भी उग्र व्यापक रोग नहीं होता।

अन्य पशुओं पर भी पशु क्षय-कीटाणुओं का कहीं अधिक प्रभाव होता है। इन कीटाणुओं की पिचकारी पशुओं की शिरा मे लगाने से उग्र व्यापक रोग उत्पन्न हो जाता है और भोजन में मिलाकर खिलाने से पशुओं की आँतों में क्षय-रोग हो जाता है। त्वचा के नीचे पिचकारी लगाने से स्थानिक प्रदाह होकर उस स्थान से सम्बन्ध रखने वाली लसिका ग्रन्थियाँ फूल जाती है और अन्त मे उग्र व्यापक क्षय होकर पशु की मृत्यु हो जाती है। सूअर, भेड, बकरी, बिल्ली और बन्दरों पर पशु क्षय कीटाणुओं का अधिक प्रभाव होता है, परन्तु कुत्ते और चूहे बहुत कम प्रभावित होते हैं। मुर्गियो पर इन कीटाणुओं का कुछ भी असर नही होता।

पक्षी क्षय कीटाणु—उपरोक्त दोनों जातियों के कीटाणुओं की अपेक्षा पक्षी क्षय-कीटाणुओं की वृद्धि कृत्रिम माध्यमों में अधिक होती है। ये कीटाणु ४१° शतांश ताप-परिमाण पर भी बढते रहते हैं, परन्तु इस ताप पर उपरोक्त दोनों जाति के कीटाणुओं की वृद्धि नहीं होती। इनकी आकृति भी उनसे कुछ भिन्न होती है।

पशुओं में केवल खरगोश और चूहों में, पक्षी क्षय-कीटाणुओं से रोग उत्पन्न किया जा सकता है। मुर्गियों के लिए ये कीटाणु बड़े विषैले होते

हैं। क्षयी पक्षियों की रोग-ग्रस्त इन्द्रियों के खाने से मुर्गियों में तुरन्त क्षय रोग हो जाता है। परन्तु इन्हीं मुर्गियों पर क्षयी मनुष्य के कफ को अधिक मात्रा में खिलाने पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। तोतों में तीनों जातियों के कीटाणुओं से रोग हो जाता है। मनुष्यों में इन कीटाणुओं से रोग नहीं होता।

विभिन्न जाति के क्षय-कीटाणु कहाँ-कहाँ पाये जाते हैं?

मनुष्य क्षय कीटाणु—मनुष्यों में क्षय-रोग इन्हीं कीटाणुओं से होता है। फेफड़ों का साधारण पुरातन-क्षय तो केवल इन्हीं कीटाणुओं से उत्पन्न होता है। कभी-कभी कुछ पशुओं में, जिनका मनुष्यों से घनिष्ठ सम्पर्क रहता है, ये कीटाणु पाये जाते हैं। पक्षियों में से केवल तोतों में इन कीटाणुओं से कभी कभी रोग उत्पन्न हो जाता है।

पशु क्षय-कीटाणु—इन कीटाणुओं से साधारणत गाय, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़े इत्यादि घरेलू पशुओं में क्षय-रोग होता है। बहुधा सूअर, कुत्ते, बिल्लियों और बन्दरों में भी क्षय-रोग इन्हीं कीटाणुओं से होता है।

पक्षी क्षय-कीटाणु—इन कीटाणुओं से साधारणत पक्षियों में क्षय-रोग होता है। कभी कभी इनसे घोड़ों, बन्दरों और चूहों में भी क्षय होते देखा गया है। मनुष्यों में भी इन कीटाणुओं से उत्पन्न क्षय रोग के कुछ उदाहरण लोगों ने दिये हैं, परन्तु वे पूर्णत विश्वसनीय नहीं हैं।

मनुष्यों में पशु कीटाणुकृत क्षय रोग—यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि अनेक मनुष्यों में विशेषकर बच्चों में क्षय-रोग पशु क्षय कीटाणुओं से होता है। डा० मोलर ने २०४८ क्षय रोगियों के रोग का एक विवरण लिखा है। इनमें से तरुण अवस्था वाले रोगियों में केवल २ १ प्रतिशत में पशु क्षय-कीटाणु मिले थे और इनमें से अधिकांश में लसिका ग्रन्थियों तथा उदर का रोग था। फेफड़े के क्षय में केवल ५ १ प्रतिशत में ये कीटाणु मिले थे। पशु कीटाणुकृत क्षय रोग से पीड़ित १८६ रोगियों में से १४५ सोलह वर्ष से कम आयु के थे और इनमें से १०१ को ग्रीवा तथा उदर की लसिका ग्रन्थियों का रोग था। उन्होंने यह भी पता लगाया कि जब पशु कीटाणुओं से मनुष्य में रोग होता है तो बहुत हल्का होता है। इसीप्रकार की एक खोज डा० पार्क और क्रम्वोड ने ८४० क्षय रोगियों के सम्बन्ध में की थी, जिससे यह विदित

हुआ था कि १६ वर्ष की आयु के बाद पशु-कीटाणुओं से केवल त्वचा, उदर और लसिका ग्रन्थियों का क्षय-रोग होता है। फुफ्फुस क्षय के ७७८ रोगियों में से केवल तीन में पशु-कीटाणु पाये गये थे। इससे यह स्पष्ट है कि फेफड़ों के क्षय-रोग में पशु कीटाणुओं का प्रभाव नहीं होता है।

परन्तु बच्चों में बात इसके विपरीत होती है। ५ वर्ष से कम आयु में ग्रन्थि क्षय ६१ प्रतिशत, उदर-क्षय ५८ प्रतिशत और उग्र व्यापक तथा मस्तिष्कावरण के क्षय का ६६ प्रतिशत पशु क्षय-कीटाणुओं से होता है।

अर्वाचीन अन्वेषकों ने भी इस बात का समर्थन किया है कि पशु क्षय-कीटाणुकृत क्षय बचपन में बहुत होता है और युवावस्था के उपरान्त बहुत कम होता है। डा० स्टैन्ले ग्रिफिथ को १०६८ रोगियों की खोज करने पर ८०३ में मनुष्य-क्षय कीटाणु, १९४ में पशु क्षय-कीटाणु और ५ में मिश्रित कीटाणु मिले थे।

आयु के अनुसार इन रोगियों का विवरण इस प्रकार है —

आयुकाल	रोगी संख्या	पशु क्षय-कीटाणुओं की प्रतिशत संख्या
०— ५ वर्ष	२२१	३७ ५५
५—१० ,,	३१३	२९ ४५
१०—१६ ,,	१५०	१४ ६६
१६ से ऊपर	३८४	६ २५
कुल योग	१०६८	२०.५%

रोग-भेदानुसार डा० ग्रिफिथ को पशु क्षय कीटाणु इस प्रकार मिले थे —

अस्थि और संधि-क्षय	१९ ७ %
जननेन्द्रियों का क्षय	१७ ६५%
कंठमाला	४६ ३%
मस्तिष्कावरण का क्षय	२०%
लसिका ग्रन्थियों का क्षय	३४ ६५%
त्वचा का क्षय	४८ ९%

डा० मिचेल का कहना है कि कंठमाला रोग में ९० प्रतिशत में पशु क्षय-कीटाणु पाये जाते हैं।

पशु क्षय-कीटाणु सदा पशुओं से मनुष्यो तक पहुँचते हैं। मनुष्य से मनुष्य को पशु-कीटाणुकृत सक्रमण नही होता।

पशु-कीटाणुओं का मनुष्यों के लिये विषैलापन—इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि पशु-कीटाणुओ से मनुष्यों में जो रोग होता है वह बहुत हल्का होता है और उसमे कदाचित ही मनुष्य की मृत्यु होती है। यह सब लोग जानते हैं कि फेफड़ों का क्षय ही प्राणघातक होता है और लसिका ग्रन्थि, अस्थि और संधियों का क्षय बहुधा अच्छा हो जाता है। परिवेष्ठन-कलाओं (Lining membranes) के क्षय की प्रवृत्ति भी अच्छा होने की ओर होती है। झिल्लियों मे केवल मस्तिष्कावरण का क्षय घातक होता है। यह भी ज्ञात है कि उदर की परिवेष्ठन-कला का रोग बहुधा पशु-कीटाणुओं से होता है। यद्यपि बाल्यावस्था मे ग्रीवा और वक्षस्थल की लसिका ग्रन्थियो का रोग बहुत होता है, फिर भी इस अवस्था मे क्षय-रोग से मृत्यु बहुत कम होती है। परन्तु कुछ लोगो का विचार है कि बाल्यकाल के विभिन्न प्रकार के हल्के रोगों से शरीर में कुछ रोग-क्षमता (Immunity) उत्पन्न हो जाती है जो वर्षों तक रहती है और जिसके कारण मनुष्य-कीटाणुकृत क्षय-रोग से बहुत कुछ रक्षा होती है।

भारतवर्ष में पशु-कीटाणुकृत रोग—पश्चिमी देशों की तरह भारतवर्ष में इस बात की अभी तक कोई खोज नहीं हुई है कि विभिन्न प्रकार के क्षय-रोगों का कितना प्रतिशत, मनुष्य क्षय-कीटाणुओ से और कितना प्रतिशत, पशु क्षय-कीटाणुओं से होता है। इतना अवश्य विदित हुआ है कि पश्चिमी देशो की अपेक्षा भारतवर्ष में पशु-कीटाणुकृत क्षय कम होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस देश में पशुओं मे क्षय-रोग कम होता है।

क्षय-कीटाणुओं की रोगोत्पादक शक्ति—क्षय-कीटाणु बडे विषैले होते हैं। अभी तक यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि किन किन कारणों से उनका विषैलापन न्यूनाधिक होता है। साधारणत यह कहा जा सकता है कि विषैलापन कीटाणुओं के अनुकूल अवस्था में रहने से अधिक और प्रतिकूल अवस्था में रहने से कम होता है। कीटाणुओं को कृत्रिम माध्यमो मे उगाने से भी विषैलापन कम हो जाता है। तीनों जाति के कीटाणुओं के विषैलेपन में अन्तर होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है।

कि मनुष्य क्षय-कीटाणुओं से केवल मनुष्यों मे ही क्षय उत्पन्न होता है, परन्तु प्रयोग द्वारा कुछ पशुओं मे भी इनसे रोग उत्पन्न किया जा सकता है। घरेलू पशुओं पर तो इनका प्रभाव बहुत कम पड़ता है, परन्तु बन्दर और गिनीपिग मे शीघ्र रोग उत्पन्न हो जाता है। इसलिये इन पशुओं को 'ग्रहणशील' (Susceptible) पशु कहते हैं। पशु क्षय-कीटाणुओं से स्वत तो पशुओं में रोग होता है, परन्तु जैसा कि पहले लिखा जा चुका है इनसे मनुष्यों मे भी क्षय-रोग होता है, विशेषकर बाल्यावस्था मे। पक्षी क्षय-कीटाणु केवल पक्षियों के लिए ही विषैले होते हैं, मनुष्य और पशुओं मे इनसे रोग उत्पन्न नहीं होता।

भिन्न भिन्न प्रकार के क्षय-रोगों से अलग किये हुये कीटाणुओं के विषैलेपन मे प्राय कुछ कुछ अन्तर होता है। इसलिए कुछ लोग क्षय-रोग के रूप-भेदों का कारण विषैलेपन का अन्तर मानते है, परन्तु अभी तक इस विषय के यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

क्षय-कीटाणुओं के विष—जब क्षय कीटाणु मनुष्य शरीर मे प्रवेश करते हैं तो कई प्रकार से हानि पहुँचाते हैं। जिस स्थान पर वे जाकर टिकते हैं, उसको नष्ट कर देते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी सम्वृद्धि से समस्त शरीर में विकार उत्पन्न होता है। इससे यह विदित होता है कि इन कीटाणुओं मे कुछ ऐसे विष होते हैं जो रक्त मे मिलकर समस्त शरीर को हानि पहुँचाते हैं। परन्तु अभी तक इन विषों को अलग करने मे सफलता प्राप्त नहीं हुई है, क्योंकि ये विष कीटाणुओं के शरीर के अन्दर ही रहते हैं, केवल उनके मरने पर, जब उनका शरीर छिन्न भिन्न होता है, बाहर निकलते हैं। उनके रासायनिक सघटन का अभी तक ठीक ठीक पता नहीं लगा है, क्योंकि उनको शुद्धावस्था मे कीटाणुओं से पृथक् नहीं किया जा सका है। कुछ वैज्ञानिकों ने क्षय कीटाणुओं को भिन्न भिन्न कृत्रिम माध्यमों मे उगाकर और घोंट पीसकर ऐसे पदार्थ तैयार किये हैं, जिनमे यह विष सम्मिलित रहते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि इन पदार्थों मे क्षय विषों के अतिरिक्त कीटाणुओं के भग्नावशेष और माध्यम पदार्थ भी सम्मिलित रहते हैं। इन मिश्रित पदार्थों को अँग्रेजी मे 'ट्यूबरकुलीन' (Tuberculin) कहते हैं। हिन्दी मे इन पदार्थों को उपयुक्त नाम के अभाव के कारण तथा अँग्रेजी नाम के आधार पर 'यक्ष्मिन' कहना अनुचित न

होगा। भिन्न भिन्न विधियों से और अनेक माध्यमों मे बनने के कारण अनेक प्रकार की यक्ष्मिन बनाई गई हैं, जिनमे आपस में थोडा थोडा अन्तर होता है।

यक्ष्मिन के गुण—सबसे पहले सन् १८९० ई० मे डा० रावर्ट काक ने उपरोक्त कृत्रिम क्षय विष (यक्ष्मिन) तैयार किये थे और पशुओं पर प्रयोग करके उनके गुणों की जाँच की थी।

उन प्रयोगों के फल का साराश इसप्रकार है। यदि यक्ष्मिन की पिचकारी किसी स्वस्थ पशु मे त्वचा के नीचे लगाई जाय तो कुछ असर नहीं होता, परन्तु इसके विपरीत यदि किसी क्षयी पशु के इसीप्रकार अधिक मात्रा में पिचकारी लगाई जाय तो रोग अति तीव्र होकर पशु की मृत्यु हो जाती है और यदि यक्ष्मिन की मात्रा कम हो तो पिचकारी के स्थान पर केवल प्रदाह उत्पन्न होकर दो एक दिन मे शान्त हो जाता है। यदि कुछ दिन के अन्तर से अल्प मात्रा मे यक्ष्मिन की पिचकारी लगाई जाय तो क्षयी पशु को लाभ होता है।

इसीप्रकार स्वस्थ मनुष्य पर भी यक्ष्मिन की पिचकारी का कोई प्रभाव नहीं होता, परन्तु क्षयपीडित या क्षयसक्रामित मनुष्य मे पिचकारी के स्थान पर प्रदाह और समस्त शरीर में आलस्य, हडफूटन और हरारत उत्पन्न हो जाती है। इन्हीं प्रयोगों के आधार पर क्षय-रोग की परीक्षा और इलाज में यक्ष्मिन का प्रयोग आरम्भ किया गया था।

क्षय-कीटाणुओं के उत्पत्ति-स्थान—क्षय-कीटाणुओं के प्रधान उद्गम-स्थान क्षयी मनुष्य और पशु होते हैं। क्षयी मनुष्य के कफ में करोडो कीटाणु प्रतिदिन उसके शरीर से बाहर निकलते हैं। कार्नेट का अनुमान है कि एक दिन में एक क्षयरोगी लगभग ७२०,००,००,००० कीटाणु अपने शरीर से बाहर निकालता है। इसके अतिरिक्त रोग के स्थानानुसार रोगी के मल-मूत्र और पीव इत्यादि मे भी क्षय-कीटाणु रोगी के शरीर से बाहर निकलते हैं। क्षयी पशु का माँस खाने और उसका दूध पीने से क्षय-कीटाणु मनुष्य-शरीर तक पहुँच सकते हैं।

तीसरा परिच्छेद

क्षय-संक्रमण

क्षय-संक्रमण की समस्या—सन् १८८२ ई० में क्षय-कीटाणुओं के अनुसंधान के बाद लोग समझने लगे कि अब क्षयोत्पत्ति सम्बन्धी सब प्रश्न हल हो गये। रोगोत्पादक कीटाणु मनुष्य-शरीर में प्रवेश करके किसी स्थान पर टिक जाते हैं और अपनी वृद्धि तथा संवर्तन क्रियाओं से विष उत्पन्न करके शरीर का नाश कर देते हैं। इतना ज्ञान होने पर लोग सोचने लगे कि क्षय-रोग का रोकना कोई कठिन बात नहीं है। जहाँ कहीं मिलें, क्षय-कीटाणुओं को नष्ट कर देना चाहिये और यदि किसी कारणवश नष्ट करने के प्रयास में सफलता न मिले तो मनुष्य शरीर में उनको प्रवेश न करने देना चाहिए।

क्षय-कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए यह जानना आवश्यक था कि प्रकृति में वे कहाँ पाये जाते हैं। प्रकटतः यह एक आसान बात थी। हम यह जानते है कि क्षय-कीटाणु परोपजीवी होते हैं। वे केवल मनुष्य, पशु और पक्षियों के शरीर में रहते हैं और वहीं उनकी वृद्धि होती है। शरीर के बाहर वे अधिक देर तक जीवित नहीं रह सकते। क्षयी मनुष्य और क्षयी पशु के स्रावों तथा मलों में वे शरीर से बाहर निकलते हैं। इसलिए केवल क्षयी मनुष्य और पशु ही क्षय-रोग के फैलने के कारण होते हैं।

यह बताया जा चुका है कि क्षय-कीटाणु तीन जाति के होते हैं। इनमें से पक्षी क्षय-कीटाणुओं का मनुष्यों के क्षय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतएव मनुष्य के क्षय के सम्बन्ध में विचार करने के लिये केवल मनुष्य और पशु जाति के कीटाणु शेष रह जाते हैं।

होगा। भिन्न भिन्न विधियों से और अनेक माध्यमो मे बनने के कारण अनेक प्रकार की यक्ष्मिन बनाई गई हैं, जिनमे आपस में थोडा थोडा अन्तर होता है।

यक्ष्मिन के गुण—सबसे पहले सन् १८९० ई० में डा० रावर्ट काक ने उपरोक्त कृत्रिम क्षय विष (यक्ष्मिन) तैयार किये थे और पशुओ पर प्रयोग करके उनके गुणों की जॉच की थी।

उन प्रयोगों के फल का साराश इसप्रकार है। यदि यक्ष्मिन की पिचकारी किसी स्वस्थ पशु मे त्वचा के नीचे लगाई जाय तो कुछ असर नहीं होता, परन्तु इसके विपरीत यदि किसी क्षयी पशु के इसीप्रकार अधिक मात्रा में पिचकारी लगाई जाय तो रोग अति तीव्र होकर पशु की मृत्यु हो जाती है और यदि यक्ष्मिन की मात्रा कम हो तो पिचकारी के स्थान पर केवल प्रदाह उत्पन्न होकर दो एक दिन मे शान्त हो जाता है। यदि कुछ दिन के अन्तर से अल्प मात्रा में यक्ष्मिन की पिचकारी लगाई जाय तो क्षयी पशु को लाभ होता है।

इसीप्रकार स्वस्थ मनुष्य पर भी यक्ष्मिन की पिचकारी का कोई प्रभाव नही होता, परन्तु क्षयरोडित या क्षयसक्रामित मनुष्य में पिचकारी के स्थान पर प्रदाह और समस्त शरीर में आलस्य, हड़फूटन और हरारत उत्पन्न हो जाती है। इन्ही प्रयोगों के आधार पर क्षय-रोग को परीक्षा और इलाज में यक्ष्मिन का प्रयोग आरम्भ किया गया था।

क्षय-कीटाणुओं के उत्पत्ति-स्थान—क्षय-कीटाणुओं के प्रधान उद्गम-स्थान क्षयी मनुष्य और पशु होते हैं। क्षयी मनुष्य के कफ में करोडों कीटाणु प्रतिदिन उसके शरीर से बाहर निकलते हैं। कार्नेट का अनुमान है कि एक दिन में एक क्षयरोगी लगभग ७२०,००,००,००० कीटाणु अपने शरीर से बाहर निकालता है। इसके अतिरिक्त रोग के स्थानानुसार रोगी के मल-मूत्र और पीव इत्यादि मे भी क्षय-कीटाणु रोगी के शरीर से बाहर निकलते हैं। क्षयी पशु का मॉंस खाने और उसका दूध पीने से क्षय-कीटाणु मनुष्य-शरीर तक पहुँच सकते हैं।

तीसरा परिच्छेद

क्षय-संक्रमण

क्षय-संक्रमण की समस्या - सन् १८८२ ई० में क्षय-कीटाणुओं के अनुसंधान के बाद लोग समझने लगे कि अब क्षयोत्पत्ति सम्बन्धी सब प्रश्न हल हो गये। रोगोत्पादक कीटाणु मनुष्य-शरीर में प्रवेश करके किसी स्थान पर टिक जाते हैं और अपनी वृद्धि तथा सवर्तन क्रियाओं से विष उत्पन्न करके शरीर का नाश कर देते हैं। इतना ज्ञान होने पर लोग सोचने लगे कि क्षय-रोग का रोकना कोई कठिन बात नहीं है। जहाँ कहीं मिलें, क्षय-कीटाणुओं को नष्ट कर देना चाहिये और यदि किसी कारणवश नष्ट करने के प्रयास में सफलता न मिले तो मनुष्य शरीर में उनको प्रवेश न करने देना चाहिए।

क्षय-कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए यह जानना आवश्यक था कि प्रकृति मे वे कहाँ पाये जाते हैं। प्रकटत यह एक आसान बात थी। हम यह जानते है कि क्षय-कीटाणु परोपजीवी होते हैं। वे केवल मनुष्य, पशु और पक्षियो के शरीर में रहते हैं और वहीं उनकी वृद्धि होती है। शरीर के बाहर वे अधिक देर तक जीवित नहीं रह सकते। क्षयी मनुष्य और क्षयी पशु के स्रावो तथा मलों में वे शरीर से बाहर निकलते हैं। इसलिए केवल क्षयी मनुष्य और पशु ही क्षय रोग के फैलने के कारण होते हैं।

यह बताया जा चुका है कि क्षय-कीटाणु तीन जाति के होते हैं। इनमें से पक्षी क्षय-कीटाणुओं का मनुष्यो के क्षय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतएव मनुष्य के क्षय के सम्बन्ध में विचार करने के लिये केवल मनुष्य और पशु जाति के कीटाणु शेष रह जाते हैं।

सावधानी से जाँच करने पर यह ज्ञात हुआ है कि तरुणावस्था के साधारण फुफ्फुस-क्षय का ९९ प्रतिशत और बाल्यावस्था के क्षय का ९० प्रतिशत रोग मनुष्य जाति के कीटाणुओं से होता है। पशु जाति के कीटाणु बाल्यावस्था के क्षय मे केवल १० प्रतिशत रोगियो मे पाये जाते है और तरुणावस्था के राजयक्ष्मा-रोग मे ये कीटाणु इतने कम पाये जाते हैं कि उन पर विचार करना निरर्थक है।

उपलब्ध साक्षो से यह विदित होता है कि बाल्यावस्था मे पशु क्षय-कीटाणुओं से जो रोग होता है वह प्रधानत हल्का होता है और लसिका-ग्रन्थियों, त्वचा, अस्थियो तथा सधियो मे होता है। दूसरे शब्दो मे क्षयी पशुओ के दूध के साथ पशु-कीटाणुओं के भक्षण से जो रोग उत्पन्न होते हैं, उनका महत्व मानव क्षय-कीटाणुओं से उत्पन्न युवावस्था के राजयक्ष्मा की समस्याओ के महत्व की तुलना मे तुच्छ है।

क्षय-कीटाणुओं का रूपान्तर—अधिक अध्ययन से यह समस्या जटिल होगई है। अनेक विशेषज्ञो का कहना है कि पशु क्षय-कीटाणु मानव शरीर मे बहुत दिनो तक रहने पर अपने को नये वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं और मनुष्य-कीटाणुओ के लक्षण प्राप्त कर लेते है। यह एक प्रकार का जीव-शास्त्रीय रूपान्तर है। यह स्पष्ट है कि राजयक्ष्मा के निर्मूल करने के प्रयास मे यह प्रश्न बडे महत्व का है। सभ्य देशो मे जिन बालको मे हल्के रोग होते है, उनमे से १० प्रतिशत के शरीरो मे पशु-कीटाणु वर्षों तक बने रहते हैं। इस काल मे वे अपने आप को मानव-शरीर के वातावरणों के अनुकूल बना लेते हैं। और जब प्रौढावस्था मे उनसे राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है तो उनमे मनुष्य-कीटाणुओं के लक्षण उत्पन्न हो जाते है। इस प्रश्न के सम्बन्ध मे अनेक लोगों ने जाँच की है। यद्यपि इस रूप-परिवर्तन की सम्भावना अस्वीकार नही की जा सकती, परन्तु अभी तक इस सम्बन्ध मे जो खोज हुई है उसमे ऐसा होना प्रमाणित नही होता। अधिकतर उपलब्ध साक्षी इस बात के पक्ष मे हैं कि मनुष्य का राजयक्ष्मा रोग केवल मनुष्य-कीटाणुओ से होता है और बाल्यावस्था के पशु-कीटाणुजात सक्रमण को प्रौढावस्था के राजयक्ष्मा रोग का कारण नही माना जा सकता, क्योकि अभी तक यह सिद्ध नही हुआ है कि एक जाति के कीटाणुओ का दूसरी जाति मे रूपान्तर होता है।

जिन कीटाणुओं से वयस्कों में राजयक्ष्मा होता है और शिशुओं तथा बालकों में घातक क्षय-रोग होता है, उनका उद्गम-स्थान क्षयी मनुष्य प्रतीत होते हैं। इनके कफ में लाखों क्षय-कीटाणु निकलते हैं जो स्वस्थ मनुष्यों में प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं। इसलिये कुछ लोगों का विचार है कि राजयक्ष्मा के निर्मूल करने में केवल मनुष्य क्षय-कीटाणुओं का ही सामना करना है।

क्षय-कीटाणुओं के प्रवेश-मार्ग—क्षय रोग के रोकने के उपाय करने के लिये यह जानना आवश्यक है कि क्षय-कीटाणु किसप्रकार मनुष्य शरीर में प्रवेश करते हैं। साधारण मनुष्यों के लिये यह प्रश्न सन्तोषपूर्वक हल होगया है। जब क्षय कीटाणु क्षयी मनुष्यों से आते हैं तो वे साधारणत श्वास तथा भोजन के साथ शरीर में प्रवेश करते हैं और जब वे क्षयी पशुओं से आते हैं तो भोजन के साथ मनुष्य शरीर में प्रवेश करते हैं। परन्तु बिना किसी प्रतिवाद के भय के यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक दृष्टि से यह समस्या अभी पूर्णत हल नहीं हुई है। क्षय-रोग के क्षेत्र में महान् प्रयोगक और कार्यकर्त्ता रोमर का कहना है कि क्षय-कीटाणुओं के बताए हुए प्रवेश मार्गों में से ऐसा कोई नहीं है जिससे क्षय संक्रमण संबन्धी सब प्रश्न पर्य्याप्त रूप से हल हो जाते हो। यह स्पष्ट है कि कीटाणुओं के लिए चार प्रवेश-मार्ग सम्भव हैं।

(१) त्वचा अथवा श्लेष्म-कला (Mucous membrane) को वेधकर।

(२) श्वास-मार्ग में श्वास के साथ।

(३) भोजन के साथ अशन-मार्ग में।

(४) जनन तथा जरायु-मार्ग अर्थात् जन्म से पूर्व माता पिता से गर्भाधान के समय गर्भ में पहुँचकर।

त्वचा-मार्ग—क्षय-कीटाणुओं की विश्व-व्यापकता पर विचार करने से तो यह अनुमान होता है कि कदाचित् मनुष्य के शरीर में उनके प्रवेश करने का मुख्य और सुगम मार्ग त्वचा होगी, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। यदि ऐसा होता तो आज कदाचित ही कोई भाग्यशाली मनुष्य क्षय-रोग से बचा दिखाई पड़ता, क्योंकि क्षय-कीटाणुओं का त्वचा तक पहुँचना अत्यन्त सरल है। सैकड़ों तरह से कीटाणुओं का त्वचा से स्पर्श हो सकता है—जैसे दरवाज़ा, रोगी के बर्तन, रुपये-पैसे, किताब, समाचार-पत्र

इत्यादि छूने से और हाथ मिलाने से। डा० पामर ने छूत के ऐसे साधनों की संख्या की गणना करके ११९ बताई है जो किसी भी दशा में पूर्ण नहीं कही जा सकती। परन्तु ईश्वर की कृपा से क्षय-कीटाणुओं में त्वचा को बेधने की शक्ति नहीं होती। भग्न त्वचा और आघातों से ये शरीर में अवश्य घुस सकते हैं। इसके अनेक उदाहरण भी पाये जाते हैं। मुसलमान और यहूदी बच्चों में खतना के समय अस्वच्छता से, डाक्टरों में चीर फाड़ करते समय उँगली इत्यादि कट जाने से, मांस-व्यवसायियों में क्षयी-पशुओं को काटते समय चोट लग जाने से, कर्ण-बेधन में दूषित सूई चुभने से और थूकदान के टूटने पर चोट लग जाने से क्षय-संक्रमण होता देखा गया है। इसके अतिरिक्त प्रयोगशाला में पशुओं के शरीर में त्वचा बेधकर क्षय-कीटाणुओं को शरीर में प्रविष्टकर क्षय-रोग उत्पन्न किया जा सकता है।

त्वचा की रोग-क्षमता—मनुष्य की त्वचा में क्षय-कीटाणुओं के आक्रमण को रोकने की यथेष्ट स्वाभाविक शक्ति होती है। त्वचा के रोग-क्षम (Immune) होने का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा त्वचा का क्षय बहुत कम होता है और जब कभी होता भी है तो बहुत हल्का और त्वचा ही में परिमित रहता है, अधिक फैलता नहीं, क्योंकि त्वचा में क्षय-कीटाणुओं का न तो पोषण होता है और न उनकी वृद्धि ही होने पाती है। जहाँ तक ज्ञात हुआ है, यह कहा जा सकता है कि त्वचा-मार्ग से क्षय-कीटाणु स्वत बहुत कम शरीर में प्रवेश कर पाते हैं। इसलिये क्षयोत्पत्ति में त्वचा-मार्ग को कीटाणु-प्रवेश का साधारण मार्ग नहीं कहा जा सकता।

श्वास-मार्ग—क्षय-कीटाणु के शरीर में प्रवेश करने का यह सर्व-प्रधान मार्ग समझा जाता है। प्राचीन काल से ही लोग श्वास-मार्ग को प्रधान मार्ग मानते आये हैं, परन्तु सबसे पहले यह काक और उनके शिष्य कॉर्नेट का ही काम था कि इन्होंने प्रयोग द्वारा यह सिद्ध किया कि सूखे कफ से मिली हुई धूल श्वास के साथ अन्दर जाने से गिनीपिग पशुओं में क्षय-रोग हो जाता है। उन्होंने इस बात को इसप्रकार सिद्ध किया था। एक कमरे में एक कालीन बिछाकर और उस पर क्षयरोगी का सूखा हुआ कफ डालकर गिनीपिग पशुओं को उस कालीन पर रक्खा था। जब कालीन पर झाड़ू लगती थी तो कफ-मिश्रित धूल हवा में उड़कर श्वास के साथ उन पशुओं के फेफड़ों में

पहुँचती थी। ऐसा करने से पशुओं में क्षय-रोग उत्पन्न हो जाता था। इसप्रकार के अन्य वैज्ञानिकों ने भी अनेक प्रयोग-सिद्ध प्रमाण एकत्रित किये हैं, जिनसे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि कफ मिली हुई धूल श्वास के साथ अन्दर जाने से क्षय-रोग उत्पन्न हो जाता है। इस बात से विदित होता है कि जिन घरों में असावधान क्षयरोगी रहते है, उनमें रहने वाले लोगो को सूखे हुए कफ से कितना डर रहता है।

सूर्य-प्रकाश से खुले हुये स्थानों में क्षय-कीटाणु शीघ्र मर जाते हैं। इससे उनके अधिक फैलने में रुकावट पड़ती है। परन्तु सूर्य के प्रकाश की कमी से क्षय-रोग बहुत फैल सकता है और साधारणत क्षय-रोगी ऐसे ही घरों मे रहते हैं जहाँ सूर्य-प्रकाश बहुत कम पहुँचता है। इसीलिए क्षय-कीटाणु बहुत दिनों तक जीवित बने रहते हैं।

थूक की फुहार से संक्रमण—इसके अतिरिक्त क्षयरोगी के बोलने, खाँसने और छींकने मे जो कफ की फुहार बाहर निकलती है, उसमें मिले हुए क्षय-कीटाणु निकटस्थ मनुष्यों के श्वास के साथ उनके शरीर में प्रवेश करते हैं। प्रयोग द्वारा सिद्ध हो चुका है कि रोगी के कफ के कणों में, जो इस प्रकार बाहर निकलते है, क्षय-कीटाणु होते हैं। यदि रोगी के खाँसते समय काँच की पट्टी उनके सामने रख दी जाय तो एक गज दूर तक रक्खी हुई पट्टी पर क्षय-कीटाणु पाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि यदि गिनीपिग पशुओं को सामने खड़ा करके क्षयरोगी लगातार खाँसे तो उनमें से बहुत से पशुओं को क्षय-रोग हो जाता है। मनुष्यों मे भी इस प्रकार के कई एक उदाहरण पाये जाते हैं। हेम्बर्गर ने एक पागल लड़के को तीन क्षयी लड़कियों के साथ एक कमरे में रख दिया था। लड़के के पागल होने के कारण तीनों लड़कियाँ उससे बचती रहती थी, इसलिये वह लड़का सात महीने साथ रहने पर भी क्षय-संक्रमण से बचा रहा। इसके प्रतिकूल एक रोगी के साथ एक कमरे में चार लड़कों को रक्खा गया था। एक मास के भीतर उन चारों को क्षय-संक्रमण होगया। इसीप्रकार का प्रयोग न्यूयार्क नगर के एक शिशु-आश्रम में किया गया था, जिसमें एक क्षय-पीडित उपचारिका से अनेक शिशुओं को क्षय-संक्रमण हो गया था। इसीप्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि कफ की फुहार से क्षय-संक्रमण

होता है। कुछ लोगों का मत है कि श्वास मार्ग से क्षय संक्रमण होने में धूल की अपेक्षा कफ की फुहार का महत्व अधिक होता है।

श्वास-मार्ग से क्षय-कीटाणुओं के प्रवेश में प्राकृतिक रुकावटें— त्वचा की भांति श्वास मार्ग से भी कीटाणुओं के प्रवेश करने में कुछ प्राकृतिक रुकावटें होती हैं जिनके कारण कीटाणुओं का फेफड़ों तक पहुँचना कठिन हो जाता है। सर्व प्रथम नाक, मुँह और कंठ छन्नी का काम करते हैं। श्वास वायु में जो धूल इत्यादि हानिकारक पदार्थ होते हैं इन्हीं स्थानों में रुक जाते हैं। इसके अतिरिक्त श्वास-मार्ग की श्लेष्म-कला (Mucous membrance) में लोमप सेलें (Ciliated cells) होती हैं जिनके लोमों की गति बाहर की ओर होती है। श्लेष्म एक चिकना और चिपकने वाला पदार्थ होता है, इसलिये धूल और कीटाणु इत्यादि उसमें चिपक जाते हैं और फिर वह कला की सेलों की लोम गति से बाहर निकाल दिया जाता है। आवश्यकता होने पर श्लेष्म के बाहर निकलने में खाँसने से भी बड़ी सहायता मिलती है।

इतने पर भी जब कुछ कीटाणु फेफड़ों तक पहुँच जाते हैं तो उनके किसी स्थान पर जमने से पहले ही लसिका-कण (Lymphocytes) या तो उनको नष्ट कर देते हैं या पकड़कर लसिका ग्रन्थियों में ले जाते हैं जहाँ पर वे कैद हो जाते हैं। इन ग्रन्थियों में वर्षों तक क्षय-कीटाणु जीवितावस्था में बन्द पड़े रहते हैं और अवसर पाकर फिर उत्तेजित होकर क्षयरोग उत्पन्न करते हैं। कीटाणुओं के इस प्रकार शरीर की लसिका ग्रन्थियों में बन्द पड़े रहने को गुप्त-क्षय (Latent Tuberculosis) का एक रूप समझना चाहिए।

अन्न-मार्ग— यह मार्ग भी क्षय कीटाणुओं के शरीर में प्रवेश करने का एक मुख्य मार्ग है। दूषित खाना, पानी, दूध इत्यादि के प्रयोग से कीटाणु बड़ी सरलता से शरीर में प्रवेश कर सकते हैं और करते हैं।

दूध दो प्रकार से क्षय-कीटाणुओं से दूषित हो सकता है। एक, दूधवाले पशु के क्षयी होने से और दूसरा शुद्ध दूध के दुहे जाने के बाद उस पर मक्खियों के बैठने या क्षयी मनुष्य के छूने से। मक्खियाँ जब क्षयरोगी के कफ या मल पर बैठती हैं तो वह (कफ या मल) उनके पैर और मुँह में लग जाता है। फिर जब वही मक्खियाँ खुले दूध पर उड़कर बैठती हैं तो

कफ और मल के कण दूध मे मिल जाते हैं। इसीप्रकार खाने की किसी भी वस्तु को मक्खियाँ दूषित कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त क्षयरोग के छूने और उसके साथ या उसके बर्तनों मे खाने से भी खाद्य पदार्थ दूषित हो जाते हैं।

अन्न मार्ग के दो प्रधान स्थान हैं, जहाँ से क्षय कीटाणु शरीर मे प्रवेश करते हैं, पहला ऊर्ध्व भाग, (मुख, कण्ठ इत्यादि) और दूसरा अधोभाग, (अँतडियाँ इत्यादि)। जब क्षय-कीटाणु मुख अथवा कण्ठ की श्लेष्म-कला मे प्रवेश करते हैं तो पहले ग्रीवा की लसिका ग्रन्थियों मे पहुँचते हैं जो कभी कभी कुपित होकर बडी हो जाती हैं। गर्दन की इन बढी हुई ग्रन्थियो को कण्ठमाला रोग कहते हैं। ग्रीवा ग्रन्थियो से क्षय-कीटाणु वक्षस्थल की ग्रन्थियों मे पहुँच जाते हैं और वहाँ से फेफडो मे पहुँच जाते हैं।

जब क्षय कीटाणु अँतडियों से प्रवेश करते हैं तो पहले अन्नधरा-कला (Mesentry) अर्थात् आँतो की झिल्ली की ग्रन्थियों मे पहुँचते हैं, जो कभी बढ जाती हैं और उनके बढ जाने से उदर की गिल्टियो का क्षय हो जाता है, जिसको अंग्रेजी मे 'ऐब्डामिनल ट्यूबरक्लोसिस' (Abdominal Tuberculosis) कहते हैं। इन ग्रन्थियों से लसिकाद्वारा लसिका महाशिरा (Thoracic duct) से होते हुये कीटाणु फेफडो मे पहुँच जाते हैं।

अन्न-मार्ग मे स्वाभाविक रुकावटें—स्वस्थ श्लेष्म कला को चीरकर शरीर में प्रवेश करने की शक्ति क्षय कीटाणुओं मे नहीं होती, परन्तु अन्न-मार्ग की सम्पूर्ण कला का सदैव अभग्नावस्था मे रहना असम्भव है। अतएव कीटाणुओं को कहीं न कहीं प्रवेश करने का अवसर मिल ही जाता है। त्वचा की भाँति अन्न मार्ग की श्लेष्म कला मे भी क्षय-कीटाणुओं के रोकने की कुछ स्वाभाविक शक्ति होती है। यही कारण है कि श्लेष्म कला का क्षय बहुत कम होता है।

अन्न मार्ग के पाचक रसो मे क्षय कीटाणुओं के नाश करने की और उनकी रोगोत्पादक शक्ति को कम करने की शक्ति होती है। जब कीटाणुओं की संख्या कम होती है तो पाचक रसो से उनका पूर्णतया नाश हो जाता है। खाने-पीने के पदार्थों के दूषित होने की अधिक सम्भावना पर ध्यान देते हुये इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इतनी रुकावटों के होते हुये भी अन्न-मार्ग क्षय कीटाणुओं के शरीर-प्रवेश का एक मुख्य मार्ग है। कुछ

वैज्ञानिको का मत है कि क्षय-कीटाणुओं के शरीर मे प्रविष्ट होने में श्वास मार्ग की अपेक्षा अन्न मार्ग का महत्व अधिक होता है।

रक्त-मार्ग—श्वास-मार्ग और अन्न-मार्ग की स्वाभाविक रुकावटों पर विचार करते हुये कुछ लोगों का मत है कि क्षय-कीटाणु चाहे जहाँ से प्रविष्ट हों, रक्तद्वारा ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचते हैं। रक्त समस्त शरीर मे भ्रमण करता है और जहाँ कहीं अनुकूल स्थान होता है क्षय-कीटाणु वहीं टिककर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

इसके पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि कम से कम जोड और हड्डियों का क्षय तो केवल रक्त मार्ग से ही हो सकता है, क्योंकि वहाँ तक पहुँचने के लिये कीटाणुओ को और दूसरा कोई मार्ग नही होता। समस्त शरीर के रक्त का सशोधन फेफडो मे ही होता है। इसलिये जो क्षय-कीटाणु किसी भी स्थान से रक्त मे प्रविष्ट होते हैं, सर्वप्रथम फेफडो मे पहुँचते हैं और वहीं पर रोक लिये जाते हैं। इसलिये फेफडो का क्षय बहुत होता है।

जनन तथा जरायु-मार्ग—माता-पिता से गर्भ मे सक्रमण होकर सन्तान मे क्षय-कीटाणुओ का पहुँचना सिद्धान्त रूप मे सम्भव तो है, परन्तु वास्तव मे यह इतना कम होता है कि नही के बराबर है। इस विषय की विस्तृत आलोचना 'क्षयोत्पत्ति पर पैतृकता का प्रभाव' सम्बन्धी शीर्षक में की जायगी।

शरीर पर क्षय-कीटाणुओं का प्रभाव

जब पहले पहल क्षय-कीटाणु शरीर मे फेफडा अथवा अन्य किसी भी स्थान मे पहुँचते हैं तो उस स्थान पर खलबली मच जाती है। इस स्थानिक खलबली को वैज्ञानिक भाषा में प्रदाह कहते हैं। इस स्थानिक प्रदाह के अतिरिक्त कीटाणुओं के विष रक्त मे मिलकर समस्त शरीर में फैल जाते हैं। और इसलिये शरीर भर पर विष व्याप्ति (Toxemia) का कुछ न कुछ प्रभाव पड जाता है।

स्थानिक प्रदाह—कीटाणुओं के पहुँचते ही उनके उत्पात से कुपित होकर स्थानिक बंधक ततु की सेलो से एक विशेष प्रकार की सेलें उत्पन्न हो जाती हैं, जो कीटाणुओं के प्रतिरोध के लिये आकर चारोंओर से उनको घेर लेती हैं। इन स्थानिक सेलों की सहायता के लिये लसिका से लसिका

कण और रक्त से श्वेत रक्तकण उस स्थान पर पहुँच जाते हैं। इनका मुख्य कार्य शरीर-रक्षा होता है, इस कारण हम इनको शरीर के सिपाही कह सकते हैं। बहुत सी सेलों के एकत्रित होने से उस स्थान पर एक गुठली-सी प्रकट होने लगती है। क्षय कीटाणुओं की उत्तेजना से उत्पन्न होने के कारण उसको यक्ष्म या क्षयार्बुद (Tubercle) कहते हैं। चूँकि इस प्रदाह मे सेलों की उत्पत्ति होती है, इसलिये इसको उत्पादक प्रदाह (Productive Inflammation) कहते हैं।

जब क्षय-कीटाणुओ की संख्या अथवा उनका विषैलापन कम होता है तो शरीर की रक्षक सेले उनको नष्ट कर देती हैं और क्षयार्बुद विलीन होकर फेफड़े का भाग फिर ज्यों का त्यों हो जाता है। परन्तु क्षय-कीटाणुओं का मारना बड़ा कठिन होता है, इसलिए लसिका और रक्त-कण उनको पकड़कर उस स्थान से सम्बन्ध रखनेवाली लसिका ग्रन्थियों मे ले जाते हैं। वहाँ पर वे रोक लिये जाते हैं और वर्षों तक जीवित अवस्था में बन्द पड़े रहते हैं। आगे चलकर यही बन्दी कीटाणु अवसर पाकर फिर उत्तेजित होकर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

जब कीटाणुओं की संख्या अधिक होती है या उनकी रोगोत्पादक शक्ति (Virulence) प्रबल होती है तो वे शरीर की रक्षक सेलो को मारकर शरीर के उस भाग को नष्ट कर देते हैं। शरीर के विनाश का प्रकट रूप यक्ष्म का पकना होता है। उस स्थान पर विजय प्राप्त कर क्षय-कीटाणु क्रमश आगे बढते जाते हैं और इसप्रकार नये नये यक्ष्म बनते जाते हैं। कीटाणु लसिका और रक्त में मिलकर अन्य स्थानों मे पहुँच जाते हैं और वहाँ पर भी रोग उत्पन्न कर देते हैं। इसप्रकार कीटाणुओं का आक्रमण-क्षेत्र विस्तीर्ण होता जाता है और अन्त मे उग्र व्यापक क्षय (Acute generalised tuberculosis) से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। इसप्रकार का उग्र व्यापक रोग बहुधा शिशु-काल के प्रथम दो वर्षों मे पाया जाता है।

जब कीटाणुओं की और शरीर की शक्ति लगभग बराबर होती है तो दोनों में से कोई भी दूसरे को नष्ट नहीं कर सकता। ऐसी दशा में शरीर की रक्षक सेलें कीटाणुओं को आगे नहीं बढने देतीं और उसी स्थान पर बन्द करने की चेष्टा करती हैं। इसके लिए वे कीटाणुओं के चारोंओर सौत्रिक तन्तु का घेरा बना देती हैं और उसमे स्फटिक पदार्थ जमा होने लगता है। इसप्रकार

कीटाणुओ के चारोओर एक प्रकार की व्यूह-रचना हो जाती है ताकि क्षय-कीटाणु उस स्थान से बाहर न निकल सके। खटिक जमा होने से यक्ष्म ककड़ीले और कठोर हो जाते हैं। इन ककड़ीले (Calcified) यक्ष्मो मे क्षय कीटाणु वर्षों तक जीवित अवस्था मे बन्द पडे रहते हैं और अवसर पाकर पुन उत्तेजित होकर उत्पात करने लगते हैं।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि क्षय-कीटाणु कई प्रकार से शरीर मे गुप्त रूप से बन्द पडे रहते हैं। इसलिए इन दशाओं को गुप्त क्षय (Latent tuberculosis) कहते हैं। गुप्त क्षय आगे चलकर अवसर पाकर फिर जाग्रत हो सकता है।

क्षय कीटाणुओं के शरीर मे प्रविष्ट होकर आक्रमण करने को क्षय-सक्रमण कहते हैं। क्षय-सक्रमण के प्रकट लक्षण कुछ नही होते। इसलिए मनुष्य को यह पता नही चलता कि वह कब सक्रामित हुआ है। यद्यपि क्षय-सक्रमण के कोई प्रकट लक्षण नहीं होते तथापि शारीरिक अवस्था मे कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाता है जो विशेष परीक्षा द्वारा जाना जा सकता है। इस शारीरिक परिवर्तन का भावी क्षय-रोग से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

क्षय संक्रमण में व्यापक शारीरिक परिवर्तन

क्षय-सक्रमण से मनुष्य-शरीर मे दो प्रकार की विशेषता उत्पन्न हो जाती है—(१) पहले को अपेक्षा कीटाणुओ के प्रति शरीर अधिक सचेत हो जाता है, (२) कुछ अधिक रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

अति चैतन्यता (Hypersensitiveness)—जब तक किसी देश में शत्रु के आक्रमण का भय नहीं होता तब तक समस्त देश अचेत रहता है और युद्ध के लिए तत्पर नही होता। इसलिए जब पहले शत्रु का आक्रमण होता है तो देश तुरन्त और तत्परता के साथ शत्रु का प्रतिरोध नहीं कर पाता। परन्तु जब एक बार शत्रु-सेना देश के किसी भाग मे आ पहुँचती है तो पहले की अपेक्षा समस्त देश अधिक सचेत हो जाता है और फलत शत्रु का आक्रमण होते ही तुरन्त उसका घोर प्रतिरोध करने मे समर्थ होता है। ठीक यही हाल मनुष्य-शरीर का है। जब तक क्षय-कीटाणु मनुष्य-शरीर मे प्रवेश नहीं करते तब तक वह अचेत रहता है। परन्तु जहाँ एक बार कीटाणुओं ने प्रवेश किया तो समस्त शरीर पहले की अपेक्षा अधिक सचेत हो जाता है। फलत

जब दुबारा कभी कीटाणुओं का आक्रमण होता है तो पहले से सचेत रहने के कारण शरीर उनका तुरन्त घोर प्रतिरोध करने लगता है।

सबसे पहले डा० राबर्ट कॉक ने इस परिवर्तित शारीरिक दशा का पता लगाया था। प्रयोग करते समय उन्होंने देखा कि जब किसी पशु के पहले पहल क्षय-कीटाणुओं की पिचकारी त्वचा के नीचे लगाई जाती है तो लगभग दो सप्ताह तक कुछ भी प्रतीत नहीं होता। इसके पश्चात् पिचकारी के स्थान से सम्बन्ध रखनेवाली लसिका ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। यदि उसी पशु के पहली पिचकारी के दो या तीन सप्ताह के बाद दूसरी पिचकारी लगाई जाय तो पहली पिचकारी से कहीं भिन्न प्रभाव होता है। जहाँ पहली पिचकारी के बाद लगभग दो सप्ताह तक कुछ भी प्रतीत नहीं होता, वहाँ दूसरी पिचकारी के बाद २४ घण्टे के अन्दर ही पिचकारी के स्थान पर तीव्र प्रदाह उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त उस पशु में शीत, ज्वर, हड्फूटन, आलस्य और अरुचि इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस भेद का यह कारण है कि पहली पिचकारी के समय उस पशु का शरीर क्षय-कीटाणुओं के आक्रमण से अपरिचित होने के कारण अचेत था। इसलिये जब प्रथम पिचकारी लगाई गई तो वह कीटाणुओं का इतना शीघ्र और घोर प्रतिरोध न कर सका जितना कि दूसरी पिचकारी लगाने पर। दूसरी पिचकारी लगाने के समय उसका शरीर सचेत हो चुका था।

सचेत होने के कारण शरीर और क्षय-कीटाणुओं के बीच युद्ध अधिक तीव्र होता है। युद्ध तीव्र होने के कारण क्षय-कीटाणु और शरीर के अवयव दोनों का अधिक मात्रा में नाश होता है। कीटाणुओं के मरने से और उनके शरीर के छिन्न-भिन्न होने पर उनके विष बाहर निकलते हैं। इसके अतिरिक्त नष्ट-भ्रष्ट शरीरांश भी विषैले होते हैं। दोनों प्रकार के विषैले पदार्थ रक्त में मिलकर समस्त शरीर में फैल जाते हैं और ज्वरादि लक्षण उत्पन्न कर देते हैं। यदि दूसरे संक्रमण में कीटाणुओं की संख्या कम होती है तो प्रदाह इत्यादि रूपी प्रतिक्रिया भी हलकी होती है और यदि कीटाणुओं की संख्या अधिक होती है तो प्रतिक्रिया भी बड़ी तीव्र होती है। अत्यन्त तीव्र होने के कारण कभी कभी घातक भी हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि ज्वरादि लक्षण कीटाणु और शरीर के परस्पर युद्ध की तीव्रता के

सूचित करते हैं और किसी सीमा तक लाभदायक भी हैं। क्योंकि उनसे यह प्रकट होता है कि शरीर कीटाणुओं का भलीप्रकार प्रतिरोध कर रहा है। परन्तु साथ ही ज्वर आदि का वेग अधिक होने से हानि पहुँचती है।

शरीर की प्रतिक्रिया सूचक इस प्रदाह का रूप कीटाणुओं से उत्पन्न उत्पादक प्रदाह से भिन्न होता है। उत्पादक प्रदाह में सेलों की वृद्धि होकर यक्ष्मों की उत्पत्ति होती है, परन्तु इस प्रदाह में रक्त-केशिका फूलकर उनसे रक्त-तरल और कणों का स्राव होता है। इसलिये इस प्रदाह को स्रावक प्रदाह (Exudative Inflammation) कहते हैं।

इसीप्रकार जब मनुष्य-शरीर मे पहली बार क्षय-कीटाणुओं का प्रवेश होता है तो उनका इतना शीघ्र और तीव्र प्रतिरोध नही होता। परन्तु एक बार सक्रमण होने से शरीर अत्यन्त सचेत हो जाता है और इसलिये जब कभी फिर कीटाणुओं का आक्रमण होता है तो उनका बहुत शीघ्र और तीव्र प्रतिरोध होता है।

अतिचैतन्यता की पहिचान—यदि दूसरी पिचकारी मे जीवित कीटाणुओं के स्थान मे मृत कीटाणु या यक्ष्मिन का प्रयोग किया जाय तो वही फल होता है। इसलिये अति चैतन्यता की परीक्षा यक्ष्मिन की पिच-कारी लगाकर की जाती है। यदि ऐसे मनुष्यों मे, जिनमे क्षय-सक्रमण नहीं हुआ है, यक्ष्मिन की पिचकारी लगाई जाय तो कुछ भी असर नहीं होता। परन्तु यदि क्षय-सक्रामित मनुष्यो मे यक्ष्मिन की पिचकारी लगाई जाय तो पिचकारी के स्थान पर प्रदाह हो जाता है और ज्वर आदि लक्षण भी हो जाते हैं।

यह अतिचैतन्यता प्रथम सक्रमण के दस दिन पश्चात् प्रकट होती है और उस समय तक जारी रहती है जब तक क्षय-कीटाणु शरीर के अन्दर जीवित अवस्था मे रहते हैं।

'रोग-क्षमता—यह सब लोग जानते हैं कि चेचक का रोग एक बार होकर फिर दुबारा नही होता। रोग के प्रथम आक्रमण से शरीर मे एक विशेष शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है जिससे पुनराक्रमण से शरीर रक्षित रहता है। इस विशेष शक्ति को रोग-क्षमता (Immunity) कहते हैं। अन्य सक्रामक रोगों मे भी चेचक की भाँति रोग के आक्रमण से न्यूनाधिक रोग-क्षमता प्रगट हो जाती है। इसीप्रकार एक बार क्षय-सक्रमण होने से शरीर मे क्षय-

क्षय-संक्रमण और क्षय-रोग—सच तो यह है कि क्षय-कीटाणुओं के आक्रमण से बहुत कम लोग बच पाते हैं, विशेषकर वे जो शहरों में रहते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बतलाना आवश्यक है कि क्षय संक्रमण और क्षयरोग में बड़ा अन्तर होता है। क्षय कीटाणुओं के शरीर में प्रवेशमात्र को क्षय संक्रमण कहते हैं, चाहे उनके आक्रमण से रोग के लक्षण व्यक्त हों अथवा नहीं। क्षय-रोग तभी कहलाता है, जब लक्षण व्यक्त होजाते हैं। संक्रमण के फलस्वरूप जितने लोगों को रोग होता है अथवा जितने लोगों की मृत्यु होती है, उससे कहीं अधिक संक्रामित मनुष्य आजीवन अच्छे बने रहते हैं। क्षय रोग से पहले क्षय-संक्रमण का होना अनिवार्य है। परन्तु क्षय-संक्रमण होने पर क्षय रोग का होना आवश्यक नहीं। गत कई वर्षों की खोज से यह निस्सन्देह सिद्ध हो चुका है कि क्षय-कीटाणुओं के आक्रमण से उन लक्षणों का प्रकट होना आवश्यक नहीं है, जिनको हम क्षय-रोग के नाम से पुकारते हैं। सिवाय इसके कि शरीर संक्रामित होने पर पहले की अपेक्षा क्षय-कीटाणुओं के प्रति अत्यधिक सचेत हो जाता है, क्षय संक्रमण से स्वास्थ्य में और कोई विकार होना आवश्यक नहीं है। इस अतिचैतन्यता की पहचान यक्ष्मिन (Tuberculin) से की जाती है। क्षय-संक्रमण से जितने लोगों में क्षय-रोग के लक्षण व्यक्त होते हैं, उनमें कहीं अधिक को उसके होने का आभास भी नहीं होता। ऐसे लोग क्षयी तो अवश्य कहे जा सकते हैं, परन्तु साधारण अर्थ में वे क्षय रोगी नहीं हैं, यद्यपि उनके शरीर में कीटाणु जीवित अवस्था में बराबर बने रहते हैं। इन में से कुछ को अन्त में क्षय-रोग हो जाता है। वस्तुतः अधिकांश रोगियों में राजयक्ष्मा बाल्यावस्था में प्राप्त संक्रमण से विकसित होता है जैसा कि क्षयोत्पत्ति के प्रसंग में बतलाया जायगा।

क्षय-संक्रमण की विश्व व्यापकता—सावधान अन्वेषणों से ज्ञात हुआ है कि क्षय-संक्रमण और सभ्यता का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे जैसे सभ्यता का प्रसार होता जाता है, क्षय-संक्रमण भी फैलता जाता है। बड़े-बड़े शहरों में कदाचित् ही कोई मनुष्य प्रौढ़ावस्था तक क्षय-संक्रमण से बच पाता है। संक्रमण के प्रसार का पता लगाने के लिए जिन मृतशरीरों की परीक्षा की गई है, उनसे यह विदित होता है कि संसार की सभ्य जातियों में प्रौढ़ावस्था तक ९० प्रतिशत जनसंख्या में क्षय-संक्रमण हो जाता है, परन्तु

चौथा परिच्छेद

क्षय-रोग का प्रसार

क्षय-रोग की उत्पत्ति के प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व रोग के प्रसार के सम्बन्ध मे जो बातें ज्ञात हो चुकी हैं, उन पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि क्षयोत्पत्ति की समस्या पर प्रकाश डालने मे इनसे बड़ी सहायता मिलेगी।

क्षय-कीटाणु सर्वत्र फैले हुए है—क्षय-रोगजनक कीटाणु विश्व-व्यापी हैं। जहाँ कहीं मनुष्य सभ्य दशा मे पाये जाते हैं वहाँ क्षय-कीटाणु भी मिलते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि इन कीटाणुओं के प्रमुख उद्गम स्थान क्षयी मनुष्य और पशु होते हैं और वे भी लगभग सब जगह पाये जाते हैं। यह अनुमान किया जाता है कि जितनी ससार की जन-संख्या है, उतने क्षय-कीटाणु प्रतिदिन एक रुग्णवाले क्षय-रोगी के शरीर से बाहर निकलते हैं। यदि एक रोगी के एक दिन के निकले हुए कीटाणुओ की पंक्ति बनाई जाय तो वह बारह मील लम्बी होगी और अनुकूल दशाओ मे सौ से कुछ ही अधिक कीटाणुओं से सक्रमण हो जाता है।

प्रयोग और अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि क्षय रोगियो के कफ और क्षयी पशुओ के दूध से उपयुक्त दशाओ मे क्षय-सक्रमण (Tuberculous Infection) हो जाता है। यह भी ज्ञात हो चुका है कि क्षय कीटाणु श्वास और भोजन मार्गो की श्लेष्म कलाओ से अथवा भग्न त्वचा से शरीर मे प्रवेश कर सकते हैं। यद्यपि इन मार्गो मे अनेक स्वाभाविक रुकावटे होती हैं, फिर भी क्षय-कीटाणुओ की विश्व-व्यापकता पर विचार करने पर इसमें कोई आश्चर्य की बात प्रतीत नहीं होती कि ससार मे जितनी मृत्यु होती हैं, उनमे प्रत्येक आठ में से कम से कम एक क्षय-रोग से होती है, आश्चर्य तो इस बात का है कि अन्य सात कैसे बचे रहते हैं।

क्षय-सक्रमण और क्षय-रोग—सच तो यह है कि क्षय-कीटाणुओ के आक्रमण से बहुत कम लोग बच पाते हैं, विशेषकर वे जो शहरो मे रहते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह बतलाना आवश्यक है कि क्षय सक्रमण और क्षयरोग म बडा अन्तर होता है। क्षय कीटाणुओ के शरीर मे प्रवेशमात्र को क्षय-सक्रमण कहते हैं, चाहे उनके आक्रमण से रोग के लक्षण व्यक्त हो अथवा नही। क्षय-रोग तभी कहलाता है, जब लक्षण व्यक्त होजाते है। सक्रमण के फलस्वरूप जितने लोगो को रोग होता है अथवा जितने लोगो की मृत्यु होती है, उससे कहीं अधिक सक्रामित मनुष्य आजीवन अच्छे बने रहते हैं। क्षय-रोग से पहले क्षय-सक्रमण का होना अनिवार्य है। परन्तु क्षय सक्रमण होने पर क्षय रोग का होना आवश्यक नही। गत कई वर्षो की खोज से यह निस्सन्देह सिद्ध हो चुका है कि क्षय-कीटाणुओं के आक्रमण से उन लक्षणो का प्रकट होना आवश्यक नही है, जिनको हम क्षय-रोग के नाम से पुकारते हैं। सिवाय इसके कि शरीर सक्रामित होने पर पहले की अपेक्षा क्षय-कीटाणुओं के प्रति अत्यधिक सचेत हो जाता है, क्षय सक्रमण से स्वास्थ्य मे और कोई विकार होना आवश्यक नही है। इस अतिचैतन्यता की पहचान यक्ष्मिन (Tuberculin) से की जाती है। क्षय-सक्रमण मे जितने लोगो मे क्षय-रोग के लक्षण व्यक्त होते हैं, उनसे कही अधिक को उसके होने का आभास भी नही होता। ऐसे लोग क्षयी तो अवश्य कहे जा सकते हैं, परन्तु साधारण अर्थ मे वे क्षय रोगी नहीं हैं, यद्यपि उनके शरीर मे कीटाणु जीवित अवस्था मे बराबर बने रहते हैं। इन मे से कुछ को अत मे क्षय-रोग हो जाता है। वस्तुत अधिकाश रोगियो मे राजयक्ष्मा बाल्यावस्था मे प्राप्त सक्रमण से विकसित होता है जैसा कि क्षयोत्पत्ति के प्रसग मे बतलाया जायगा।

क्षय-सक्रमण की विश्व व्यापकता—सावधान अन्वेषणो से ज्ञात हुआ है कि क्षय-सक्रमण और सभ्यता का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे जैसे सभ्यता का प्रसार होता जाता है, क्षय-सक्रमण भी फैलता जाता है। बडे-बडे शहरो मे कदाचित ही कोई मनुष्य प्रौढावस्था तक क्षय-सक्रमण से बच पाता है। सक्रमण के प्रसार का पता लगाने के लिए जिन मृतशरीरो की परीक्षा की गई है, उनसे यह विदित होता है कि ससार की सभ्य जातियो म प्रौढावस्था तक ९० प्रतिशत जनसख्या मे क्षय-सक्रमण हो जाता है, परन्तु

असभ्य जातियों के मृतशरीरों में क्षय-संक्रमण के कोई चिन्ह नहीं मिलते।

डा० लेनेक की पुस्तक से जो सन् १८३१ में प्रकाशित हुई थी, ज्ञात होता है कि डा० लौम्बार्ड को पैरिस नगर के बच्चों के अस्पताल में मृतशरीरों की परीक्षा करने पर अनेक शवों में क्षयी-विकार (Tuberculous Lesions) मिले थे। परन्तु उस समय लोगों ने इस ओर कुछ ध्यान नहीं दिया था। परन्तु जब सन् १९०० ई० में डा० नगेली ने एक ऐसी ही परीक्षा की रिपोर्ट प्रकाशित की कि उनको ५०० मृतशरीरों की जाँच करने पर ७१ प्रतिशत में क्षयी-विकार मिले हैं तो लोग दंग रह गये। इनमें से १८ वर्ष से कम आयुवाली लाशों में ७५ प्रतिशत और १८ वर्ष से अधिक आयुवाली लाशों में ९८ प्रतिशत में क्षयी-चिन्ह मिले थे। इनमें से केवल २८ प्रतिशत की मृत्यु क्षय-रोग से हुई थी। शेष में क्षयी-विकार निवृत्त अथवा शान्त रोग के थे।

जब पहले पहल यह रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो लोगों को विश्वास नहीं हुआ। इसलिये अन्य लोगों ने भी जाँच करना आरम्भ कर दिया और अन्त में उन सबको भी यही बात मिली कि चाहे मृत्यु का कारण कुछ भी रहा हो और चाहे लोगों को पता रहा हो या नहीं कि उनको क्षय-रोग था या नहीं। बड़े शहरों में ५० से १०० प्रतिशत शवों में सक्रिय शान्त और निवृत्त रोग के चिन्ह मिलते हैं। इन सब लोगों की खोज से यह स्पष्ट विदित होता है कि युवावस्था तक बहुत कम मनुष्य क्षय-संक्रमण से बच पाते हैं। इस बात में सब विशेषज्ञ एक मत हैं। अन्तर इतना है कि कुछ लोग केवल ७० प्रतिशत और कुछ लोग १०० प्रतिशत जनसंख्या को क्षय-संक्रामित मानते हैं।

इन शवच्छेद-परीक्षाओं में एक और महत्त्वपूर्ण बात यह ज्ञात हुई है कि नवजात शिशु में क्षयी विकार कभी नहीं मिलते। इससे यह सिद्ध होता है कि क्षय-संक्रमण जन्म के बाद ही होता है। जिन बालकों की मृत्यु प्रथम वर्ष में हो जाती है उनके शरीरों की परीक्षा करने पर क्षयी-विकार बहुत कम मिलते हैं। दूसरे वर्ष में क्षयी विकारों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगती है। न्यूयार्क नगर के ५ वर्ष से कम आयुवाले १३२० लाशों की परीक्षा करने पर केवल १२५ प्रतिशत में क्षयी-विकार मिले थे।

इंगलैंड में डा० ग्रिफिथ ने ७१५ बालकों के शवों की जो परीक्षा की थी उसका निम्नलिखित विवरण है—

आयु		संक्रमण की प्रतिशत संख्या
०—२	वर्ष	३५%
२—४	,,	५२%
४—६	,,	५८%
६—१०	,,	७७%

यदि यह भी मान लिया जाय कि जीवित बालकों की अपेक्षा मरे हुए बालकों में क्षय पीड़ितों की संख्या अवश्य कुछ अधिक होगी तो भी बालकों में ६० या ७० प्रतिशत का संक्रामित होना बहुत है।

स्वेडन देश में इसी प्रकार की जो परीक्षा की गई थी उसका विवरण इस प्रकार है—

आयु		परीक्षितसंख्या	क्षय चिह्नों की संख्या
०—१	वर्ष	२०१	२०%
१—२	,,	६५	२६·२%
३—४	,,	४४	३१·८%
५—६	,,	२८	६७·९%
७—१०	,,	५३	६२·७%
११—१४	,,	५३	८०·१%
१५	,,	४०	८०%
कुल		४८४	५१·०८%

इसके अतिरिक्त एक बात यह और देखी गई थी कि बालक की जितनी कम आयु होती है, रोग उतना ही तीव्र और प्रगतिशील मिलता है। हाल में डा० रेनहार्ट ने एक ऐसी ही परीक्षा की रिपोर्ट प्रकाशित की है। उन्होंने बर्न नगर में ४६० मृत शरीरों की परीक्षा की। इनमें २८ नवजात शिशु थे, जिनमें से एक में भी क्षयी-विकार नहीं मिले। एक वर्ष से कम आयु वाले बच्चों में केवल ७·१४ प्रतिशत में क्षयी विकार मिले थे। इसके विपरीत ३६० प्रौढ़ शरीरों में ९६·३८ प्रतिशत में क्षयी-विकार मिले थे।

शवच्छेदों में गुप्त तथा निवृत्त विकारों का मिलना—इस परीक्षा से एक बात यह भी ज्ञात हुई है कि अनेक लोगों में क्षय-रोग होकर स्वत अच्छा हो जाता है। डा० रनहार्ट को प्रौढ शरीरों में जो क्षयी-विकार मिले थे, उनमें से ६३.९ प्रतिशत निवृत्त रोग के चिह्न थे। मनुष्यों की आयु जितनी ही अधिक होती है, निवृत्त क्षयी-विकारों की संख्या उतनी ही अधिक मिलती है। अन्य लोगों का भी यही अनुभव है कि प्रौढावस्था में जो क्षयी-विकार मिलते हैं वे प्राय निवृत्त रोग के चिह्न होते है। ४०६ मृत-शरीरों की परीक्षा करने पर डा० नगेली को ७८.१ प्रतिशत में पुराने हुए क्षयी विकार मिले थे। डा० बरखार्ट को १४५८ मृत-शरीरों की परीक्षा करने पर ८४.१ प्रतिशत में क्षयी-विकार मिले थे, जिनमें से ३९.४ प्रतिशत चिह्न निवृत्त-रोग के थे। इससे स्पष्ट है कि पर्याप्त संख्या में लोगों में क्षय-रोग होकर स्वत अच्छा हो जाता है। यह भी देखा गया है कि अनेक लोगों में क्षय-रोग होकर अच्छा हो जाता है और उनको पता तक नही चलता।

आयु के अनुसार क्षयी-विकारों में भेद—प्राण-घातक, जाग्रत और प्रगत क्षयी-विकार विशेषकरके बचपन में मिलते हैं। एक वर्ष से कम आयु वाले मृत-शरीरों की परीक्षा करने पर जो क्षयी-विकार मिलते हैं वे उग्रव्यापक रोग के होते हैं। स्थानाबद्ध क्षयी-विकार बचपन में बहुत कम मिलते है। उपलब्ध साक्षी से यह विदित होता है कि क्षय-संक्रामित व्यक्ति की आयु जितनी कम होती है, क्षय रोग से उसकी मृत्यु होने की उतनी ही अधिक सम्भावना होती है और उसकी जितनी आयु अधिक होती है, उतनी ही उग्रव्यापक और घातक रोग होने की कम सम्भावना होती है। ल्यूबार्श का कथन है कि अधिक आयुवालों में क्षय-रोग अपेक्षाकृत बहुत कम हानिकारक होता है, क्योंकि उसकी रुझान अच्छा होने की ओर होती है। अपने कथन के समर्थन में उन्होंने निम्नलिखित प्रमाण दिये हैं।

एक वर्ष से कम आयुवाले ५०७ शिशुओं के शरीरों की मरणोत्तर परीक्षा करने पर उनको ४५.८ प्रतिशत में क्षयी-विकार मिले थे जो सब के सब उग्रव्यापक रोग के थे और जिनकी स्थानाबद्ध होने की ओर कोई चेष्टा नहीं दिखाई देती थी। दो वर्ष की आयुवाले १०३ बच्चों में से २०.३ प्रतिशत

मे क्षयी विकार मिले थे जो सब के सब जाग्रत और प्रगत रोग के थे। यद्यपि रोग के स्थानाबद्ध होने की कुछ-कुछ चेष्टा देख पडती थी, परन्तु क्षयी विकारो के पुरने की कोई चेष्टा नहीं थी। तीन वर्ष की आयु मे २४.७ प्रतिशत मे क्षयी-विकार मिले थे जिनमें से केवल एक मे पुरने की कुछ चेष्टा दिखाई पडती थी। उनको ज्ञात हुआ था कि १५ वर्ष की आयु तक क्षय-रोग जाग्रत और प्रगत अवस्था मे बहुत मिलता है। उसके बाद स्थानाबद्ध रोग मिलने लगता है।

सत्रह वर्ष की आयु के बाद पुरे हुए क्षयी-विकार मिलने लगते हैं और जैसे जैसे आयु बढती जाती है उनकी सख्या भी क्रमश बढती जाती है और ४० वर्ष की आयु मे जाग्रत क्षयी-विकार की अपेक्षा पुरे हुए विकार अधिक मिलने लगते हैं। निम्नलिखित तालिका मे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

आयु	जाग्रत रोग-चिह्नो की प्रतिशत सख्या	सुप्त या निवृत्त क्षय-चिह्नो की प्रतिशत सख्या
१७—२० वर्ष	७७.४	२२.६
२०—३० ,,	७६.७	२३.३
३०—४० ,,	५२.६	४७.४
४०—५० ,,	३८.९	६०.१
५०—६० ,,	३३.५	६६.५
६०—७० ,,	२३.३	७६.७
७०—८० ,,	१४.७	८५.३
८०—९० ,,	९.३	९०.७

उपरोक्त आँकडो मे क्षयी-विकारो की सख्या का जो अनुमान होता है वह वास्तविक सख्या से कुछ कम ही होता है, क्योंकि फेफडो की परीक्षा करते समय कुछ छोटे छोटे क्षयी-विकारो का छूट जाना सम्भव है। इसलिए डा० ओपी ने ९३ बालक और ५० युवको की लाशो की परीक्षा करते समय उनके फेफड़ो को निकालकर उनकी एक्सरे द्वारा भी परीक्षा की। उनको पता

लगा कि कुछ फेफड़ों में क्षयी विकार इतने छोटे होते हैं जो फेफड़ों को चीरने पर भी दिखाई नहीं पड़ते यद्यपि एक्सरे चित्र में साफ साफ दिखाई पड़ते हैं।

उनकी जाँच का फल निम्नलिखित तालिका में दिया गया है:—

आयु	परीक्षित लाशों की संख्या	क्षयरोग				अन्य कारणों से मरे हुए लोगों में प्राप्त विकारों की प्रतिशत संख्या
		प्राप्त चिह्न		प्राणघातक था	प्राणघातक नहीं था	
		संख्या	प्रतिशत			
०-१ वर्ष	४३	४	६९ ३	४	०	० ०
१-२ "	१६	१	६ २	१	०	० ०
२-५ "	१४	६	४२ ८	३	३	२७ ३
५-१० "	११	५	४५ ५	२	३	३३ ३
१०-१८ "	९	६	६६ ७	१	५	६२ ५
१८-३० "	६	६	१०० ०	१	५	१०० ०
३०-५० "	२३	२३	१०० ०	१	२२	१०० ०
५०-७० "	१५	१५	१०० ०	१	१४	१०० ०
७० से ऊपर	६	६	१०० ०	०	६	१०० ०

उपरोक्त तालिका से मनुष्य-जाति में क्षय की विकराल व्यापकता विशदरूप में दिखाई देती है।

जीवित मनुष्यों में क्षय-संक्रमण का प्रसार—जीवित मनुष्यों में भी क्षय-संक्रमण के प्रसार की जाँच की गई है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, क्षय-संक्रमित मनुष्यों में यक्ष्मिन की पिचकारी या टीका लगाने पर एक विशेष प्रतिक्रिया व्यक्त होती है जो स्वस्थ मनुष्यों में नहीं होती। इस प्रतिक्रिया

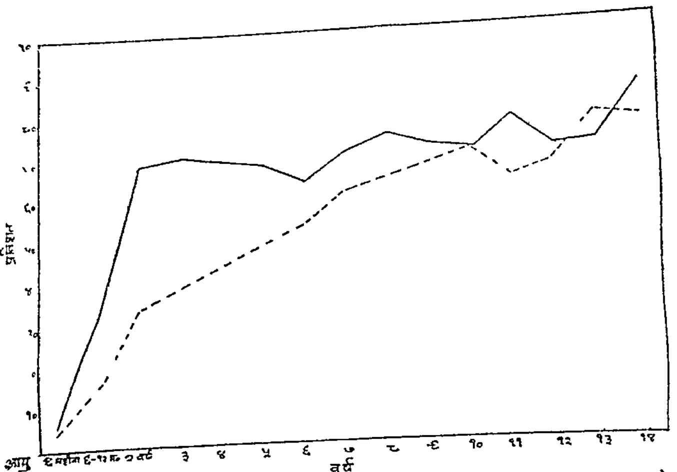
के प्रयोग की खोज से भी यही परिणाम निकलता है कि प्रौढावस्था तक लगभग सब मनुष्य क्षय-कीटाणुओं से सक्रामित हो जाते हैं। पेरिस नगर में हाल में डा० आर्योची ने २७८४ बालकों की यक्ष्मिन परीक्षा (Tuberculin test) की है जिसका परिणाम इस प्रकार है —

आयु	परीक्षित सख्या	प्रतिशत सख्या, जिसमें यक्ष्मिन प्रतिक्रिया पाई गई
०—३ मास	७९८	३ ७%
३—६ ,,	४५९	७ २%
६—१२ ,,	५८३	१६ ८%
एक साल से कम		
सब मिलाकर	१३४०	१० ६%
१—२ वर्ष	२४७	२४ ३%
२—५ वर्ष	४६७	५६ ८%
५—१० वर्ष	५२५	६७ ४%
१०—१५ वर्ष	३०२	८२ ७%

न्यूयार्क नगर में डा० फिशबर्ग ने पता लगाया था कि क्षयी परिवारों के बच्चों में से ८४ प्रतिशत १४ वर्ष की आयु तक सक्रामित हो जाते हैं। क्षयरहित परिवारों में भी क्षय-सक्रमण बहुत होता है जैसा कि निम्नलिखित तालिका और चित्र न० ३ से विदित होता है।

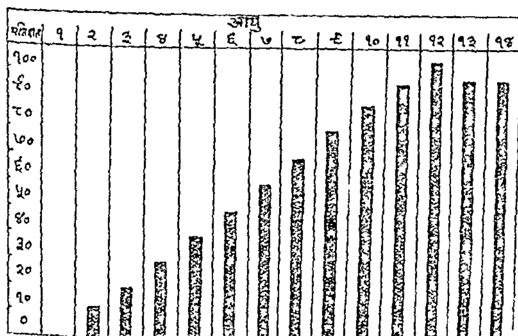
निम्नलिखित तालिका में न्यूयार्क नगर के क्षयी तथा क्षयरहित परिवारों के बच्चों में क्षय-ससक्रमण का प्रसार दिखाया गया है।

आयु	क्षयी परिवार		क्षयरहित परिवार	
	परीक्षित सख्या	सक्रामित सख्या	परीक्षित सख्या	सक्रामित सख्या
१ वर्ष से कम	३३	१५ १५	५६	१० ७
१—२ वर्ष	४९	५५ १०	३९	३३ ३३
३—४ ,,	९०	६८ ८८	८०	४१ ५
५—६ ,,	९५	६५ २६	१०६	५०
७—१० ,,	२४४	७१ ३१	१०३	६४ ४
११—१४ ,,	१८१	७४ ५८	१३४	६९ ४
१४ वर्ष	३७	८३ ७९	७०	७५



चित्र न० ३—अविरत रेखा क्षयी माता पिता की सन्तान में क्षयसंक्रमण का प्रसार सूचित करती है। विरत रेखा क्षयरहित माता-पिता की सन्तान में क्षयसंक्रमण का प्रसार सूचित करती है।

वीयना नगर मे डा० हैम्बर्गर ने पता लगाया है कि १४ वर्ष की आयु तक ९४ प्रतिशत बालकों में क्षय-सक्रमण हो जाता है। (चित्र न० ४)



चित्र न० ४—वीयना नगर के जीवित मनुष्यों मे आयु के अनुसार क्षय-सक्रमण का प्रसार ('हैम्बर्गर')

फ्रान्स मे कान्मेटी ने १२२६ व्यक्तियों की परीक्षा करके पता लगाया है कि आयु के प्रथम वर्ष मे केवल ९ प्रतिशत मे क्षय-सक्रमण होता है। परन्तु यह सख्या आयु के साथ साथ क्रमश बढती जाती है और १५ वर्ष की आयु मे ८७ प्रतिशत मे क्षय-सक्रमण हो जाता है।

खेद के साथ लिखना पडता है कि भारतवर्ष मे अभी तक ऐसी कोई परीक्षा नही की गई है जिससे इस देश मे क्षय-सक्रमण के प्रसार का ठीक ठीक पता लग सके। किन्तु अनुमान यह है कि यहाँ भी क्षय-सक्रमण उतना ही फैला हुआ है जितना अन्य देशो मे।

असभ्य आदिम जातियों मे क्षय-सक्रमण का प्रसार—क्षय-सक्रमण से सम्भवत वे ही देश बचे हैं, जहाँ असभ्य आदिम जातियाँ रहती हैं और जिनका सभ्यता से अभी तक सम्पर्क नहीं हुआ है। जैसा कि हचिन्सन, हर्लिका इत्यादि ने पता लगाया है, गोरों के पहुँचने से पूर्व अमेरिका की आदिम जातियों में क्षय-रोग नहीं होता था। शिशुओ की भाँति असभ्य जातियों मे भी यक्ष्मा की परीक्षा

[illegible]

[illegible] नहीं [illegible]

[illegible]

विभिन्न जातियों की [illegible]
[illegible] है कि जिन जातियों में [illegible] हो जाता है। [illegible]
[illegible] प्रवेश हुआ है उनमें [illegible]
[illegible] होता है। परन्तु, जब आदिम जातियों के मनुष्य [illegible]
[illegible] में आते हैं तो उनमें तुरन्त [illegible] होकर [illegible]
[illegible] और घातक होता है। जब जंगली [illegible]
[illegible] जाते हैं तो थोड़े ही दिनों में [illegible]
[illegible] है। [illegible] में गोरे प्रवासी और उनके साथ [illegible]
[illegible] आदिम जातियाँ क्षय-रोग से [illegible]

[illegible] एक उत्तम उदाहरण [illegible]
[illegible] है कि

था, क्षय-ग्रहण-शीलता कहीं अधिक होती है। गत योरोपीय महाभारत में, जब अफ्रीका और एशिया की फौजें लड़ने के लिये योरोप भेजी गई थीं, यह बात विशद रूप से प्रकट होगई थी। सन् १९१५-१८ ई० में फ्रान्स के मैदान में अफ्रीका की कुछ पल्टनों में क्षय रोग से जितनी मृत्यु हुई थी उतनी सम्पूर्ण अँग्रेजी सेना में नहीं हुई। अँग्रेजी सेना में ५.७ प्रतिशत और अफ्रीका की सेना में ५६ प्रतिशत मृत्यु क्षय रोग के कारण हुई थी। अफ्रीका छोड़ने से पूर्व इन लोगों के स्वास्थ्य की परीक्षा सावधानी से कर ली गई थी। इससे यह स्पष्ट है कि इन लोगों को फ्रान्स में ही क्षय-रोग हुआ था। फीजी देश की मजदूर पल्टनों को क्षय-रोग के फैलने के कारण वापस भेजना पड़ा था। हिन्दुस्तानी सेना में सन् १९१६ ई० में २७४ प्रतिसहस्र सिपाहियों को क्षय-रोग हुआ था और अँग्रेजी सेना में केवल ११ प्रतिसहस्र को। हिन्दुस्तानी और चीनी मजदूर पल्टनों में भी यही दशा मिली थी। डा० बोरेल ने फ्रान्स की अफ्रीका देश की सेना में भी यही दशा पाये जाने की बात लिखी है। अफ्रीका से तुरन्त आई हुई सेना में केवल ४ या ५ प्रतिशत सैनिक क्षय सक्रामित पाये गये थे। परन्तु फ्रान्स में कुछ समय तक ठहरने के बाद उनकी मरण-निष्पत्ति ११.१४ प्रतिशत होगई।

कुछ वर्ष पूर्व हिमालय की पहाड़ी जातियों में क्षय रोग बहुत कम होता था। परन्तु जब से क्षय-रोगी श्रेष्ठ जलवायु के कारण वहाँ जाने लगे और फलत क्षय-कीटाणुओं से पहाड़ी लोगों का सम्पर्क होने लगा, तब से उनमें भी क्षय-रोग होने लगा और अधिक भयकर रूप का होने लगा है। पढ़ने के लिए अथवा किसी कार्य के लिए शहर में आनेवाले देहातियों को शहर वालों की अपेक्षा क्षय रोग अधिक होता है।

क्षय-रोग के प्रसार और मरण-निष्पत्ति पर जाति के प्रभाव के सम्बध में उपरोक्त बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। क्षय-रोग कोई जातीय समस्या प्रतीत नहीं होती। ससार में कोई भी ऐसी मनुष्य जाति नहीं है जिनमें अपनी जातीय विलक्षणता के कारण क्षय-रोग कम या अधिक होता हो। प्रत्येक जाति में जब पहले कीटाणुओं का प्रवेश होता है तो क्षय-ग्रहण-शीलता अधिक पाई जाती है। जब कुछ पीढ़ियों तक क्षय-रोग होता रहता है, तो प्राकृतिक छाँट से शुद्ध प्रतिरोध-शक्ति

सदा ऋणात्मक (Negative) मिलती है और इनके मृतशरीरो की परीक्षा करने पर क्षयी-विकार नही मिलते। परन्तु जैसे ही इनका सभ्य जातियो के मनुष्यो से सम्पर्क होता है, वैसे ही इनमें सक्रमण फैल जाता है। यह बात अमेरिका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के आदिम निवासियो मे भलीप्रकार देखी गई है। यक्ष्मिन की परीक्षा द्वारा कालमेटी, मैचनीकाफ इत्यादि ने विशद रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि इन जातियों मे क्षय-सक्रमण का प्रसार उनकी सभ्यता से सम्पर्क के अनुसार होता है। जिन जातियो का हाल ही मे गोरो से सम्पर्क हुआ है उनमे क्षय सक्रमण या तो मिलता ही नही और यदि मिलता भी है तो बहुत कम। और जैसे-जैसे इन देशो मे यारोप के प्रवासी बसते जाते हैं और सभ्य देशो से व्यवहारिक सम्पर्क बढता जाता है, क्षय-सक्रमण भी बढता जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि गोरो के पहुँचने से पूर्व इन देशो मे क्षय-रोग का जो अभाव था, उसका कारण कोई जातीय विलक्षणता अथवा जलवायु सम्बन्धी विशेषता नहीं थी, परन्तु उस समय तक वहाँ क्षय कीटाणुओं की पहुँच नही हुई थी, क्योकि जैसे ही गोरो के साथ साथ कीटाणुओ की पहुँच हुई, क्षय-रोग भी होने लगा।

विभिन्न जातियों की क्षय ग्रहण-शीलता में अन्तर—यह भी देखा गया है कि जिन जातियो मे क्षय-रोग बहुत दिनो से होता चला आता है उनमे इसका वेग कम हो जाता है। इसके विपरीत जिन जातियो मे क्षय-रोग हाल ही मे प्रवेश हुआ है उनमे यह अधिक भयकर रूप का होता है। अस्तु, जब आदिम जातियो के मनुष्य पहले पहल क्षयी वातावरण मे आते हैं तो उनमे तुरन्त सक्रमण होकर क्षय-रोग हो जाता है और यह रोग बडा तीव्र और घातक होता है। जब जगली और हब्शी मनुष्य योरोप और अमेरिका लाये जाते है तो थोडे ही दिनो मे क्षय-रोग होकर उनकी मृत्यु हो जाती है। जब से गोरे प्रवासी और उनके साथ साथ क्षय-कीटाणु अमेरिका पहुँचे हैं, वहा की आदिम जातियाँ क्षय-रोग से मिटती जा रही हैं।

इस बात के एक उत्तम उदाहरण की हाल मे डा० कमिंग्स ने मिस्र देश से रिपोर्ट की है। उनको पता लगा है कि मिस्र देश के, जहाँ पहले से क्षय-रोग होता चला आया है, सिपाहियो की अपेक्षा उन सूडानी सिपाहियों मे, जो ऐसी जातियो से भरती किये गये थे जिनमे पहले से क्षय-रोग नहीं होता

था, क्षय-ग्रहण-शीलता कहीं अधिक होती है। गत योरोपीय महाभारत में, जब अफ्रीका और एशिया की फौजें लड़ने के लिये योरोप भेजी गई थीं, यह बात विशद रूप से प्रकट होगई थी। सन् १९१५-१८ ई० में फ्रान्स के मैदान में अफ्रीका की कुछ पल्टनों में क्षय रोग से जितनी मृत्यु हुई थी उतनी सम्पूर्ण अँग्रेजी सेना में नहीं हुई। अँग्रेजी सेना में ५.७ प्रतिशत और अफ्रीका की सेना में ५६ प्रतिशत मृत्यु क्षय रोग के कारण हुई थी। अफ्रीका छोड़ने से पूर्व इन लोगों के स्वास्थ्य की परीक्षा सावधानी से कर ली गई थी। इससे यह स्पष्ट है कि इन लोगों को फ्रान्स में ही क्षय-रोग हुआ था। फीजी देश की मजदूर पल्टनों को क्षय-रोग के फैलने के कारण वापस भेजना पड़ा था। हिन्दुस्तानी सेना में सन् १९१६ ई० में २७४ प्रतिसहस्र सिपाहियों को क्षय-रोग हुआ था और अँग्रेजी सेना में केवल ११ प्रतिसहस्र को। हिन्दुस्तानी और चीनी मजदूर पल्टनों में भी यही दशा मिली थी। डा० बोरेल ने फ्रान्स की अफ्रीका देश की सेना में भी यही दशा पाये जाने की बात लिखी है। अफ्रीका से तुरन्त आई हुई सेना में केवल ४ या ५ प्रतिशत सैनिक क्षय-सक्रामित पाये गये थे। परन्तु फ्रान्स में कुछ समय तक ठहरने के बाद उनकी मरण-निष्पत्ति ११.१४ प्रतिशत होगई।

कुछ वर्ष पूर्व हिमालय की पहाड़ी जातियों में क्षय-रोग बहुत कम होता था। परन्तु जब से क्षय-रोगी श्रेष्ठ जलवायु के कारण वहाँ जाने लगे और फलतः क्षय कीटाणुओं से पहाड़ी लोगों का सम्पर्क होने लगा, तब से उनमें भी क्षय रोग होने लगा और अधिक भयंकर रूप का होने लगा है। पढ़ने के लिए अथवा किसी कार्य के लिए शहर में आनेवाले देहातियों को शहर वालों की अपेक्षा क्षय रोग अधिक होता है।

क्षय रोग के प्रसार और मरण-निष्पत्ति पर जाति के प्रभाव के सम्बन्ध में उपरोक्त बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। क्षय-रोग कोई जातीय समस्या प्रतीत नहीं होती। संसार में कोई भी ऐसी मनुष्य जाति नहीं है जिसमें अपनी जातीय विलक्षणता के कारण क्षय-रोग कम या अधिक होता हो। प्रत्येक जाति में जब पहले कीटाणुओं का प्रवेश होता है तो क्षय ग्रहण-शीलता अधिक पाई जाती है। जब कुछ पीढ़ियों तक क्षय-रोग होता रहता है, तो प्राकृतिक छाँट से कुछ अंश

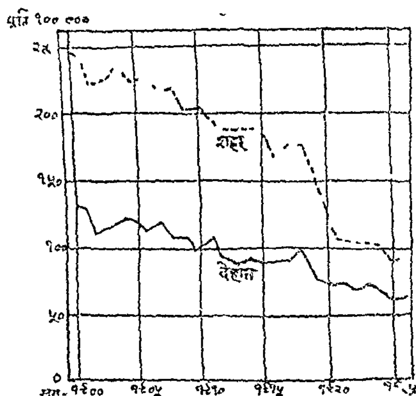
या रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए फिर उनमें इतना क्षय-रोग नहीं होता जितना उन जातियों में जो क्षय-रोग के लिए अकृष्ट भूमि-सी होती हैं।

इस उपार्जित 'रोग-क्षमता' का विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है।

क्षय-प्रसार का भौगोलिक वितरण—८० वर्ष से भी अधिक हुए, हिर्श ने अपने 'भौगोलिक और ऐतिहासिक चिकित्सा' (Geographical and Historical Medicine) नामक ग्रन्थ में लिखा था कि क्षय रोग एक सर्वकालीन और सार्वदेशिक रोग है। उसके बाद आज तक इस कथन के विरोध में कोई भी प्रमाण ज्ञात नहीं हुए हैं। संसार में जहाँ कहीं जाँच की गई है, यही विदित हुआ है कि क्षय-रोग का होना या न होना किसी भूगोल और जलवायु सम्बन्धी बातों पर उतना निर्भर नहीं होता जितना कि सामाजिक और आर्थिक दशा तथा क्षय-कीटाणुओं की उपस्थिति और अनुपस्थिति पर। यह भी बतलाया जा चुका है कि कुछ देशों में क्षय-कीटाणुओं के अभाव का यह कारण नहीं है कि वहाँ की जनता में कोई विशेष रोग-क्षमता हो अथवा वहाँ की जलवायु और उन्नतांश (ऊँचाई) इत्यादि में कोई भौगोलिक विशेषता हो। यह देखा गया है कि ज्योंही क्षय-कीटाणु किसी मनुष्य-जाति में किसी भी स्थान में पहुँचते हैं, वहाँ क्षय-रोग के फैलने में देर नहीं लगती। प्राचीन काल में पहाड़ी देशों में क्षय-रोग के अपेक्षाकृत अभाव का कारण आबादी की कमी और औद्योगिक जीवन का अभाव था।

शहर और देहात में क्षय-संक्रमण और क्षय-रोग का प्रसार—क्षय-रोग के प्रसार पर जलवायु और ऊँचाई इत्यादि भौगोलिक दशाओं की अपेक्षा नागरिक जीवन अर्थात् शहर में रहने का अधिक प्रभाव पड़ता है। जैसा कि चित्र नं० ५ के देखने से विदित होता है, देहात के रहने वाले कीटाणुओं के आक्रमण से मुक्त तो नहीं होते, परन्तु शहर के रहने वालों की अपेक्षा उनमें क्षय-रोग कम होता है।

अमेरिका के संयुक्तराज्य में सन १९०९ तक की दशाब्दि में क्षय-रोग की औसत मरण-निष्पत्ति प्रति लाख १५४.७ थी, जिसमें शहरों की १७७.४ और देहात की १२४.१ थी। इङ्गलैंड में सन १९१२ ई० में देश भर की औसत वार्षिक मरण-निष्पत्ति प्रति लाख १००.४ थी, जिसमें देहात की ७४.२ और



चित्र नं० ४—विरत रेखा न्यूयार्क स्टेट के शहरों में और अविरत रेखा देहात में क्षय रोग की मरण निष्पत्ति सूचित करती है।

(American Review of Tuberculosis)

शहरों की १०७५ थी। जिस किसी देश में जाँच की जाती है, यही पाया जा[illegible] है कि देहात की अपेक्षा शहरों में क्षय-संक्रमण और क्षय-रोग अधि[illegible] होता है।

शहर और देहात की मरण-निष्पत्ति के इस अन्तर के अनेक का[illegible] हैं। क्षय रोग सभ्यता का फल है और अर्वाचीन सभ्यता के हानि-लाभ [illegible] पता आजकल के नागरिक जीवन से चल सकता है। देहात की अपेक्षा शह[illegible] में क्षय रोग की अधिकता का मूल कारण जन-संकीर्णता है, क्योंकि [illegible] निस्सन्देह सिद्ध हो चुका है कि प्रत्येक शहर में उन मुहल्लों में क्षय-रोग स[illegible] से अधिक होता है जो सबसे अधिक घने बसे होते हैं।

अनेक अन्य बुराइयाँ, जो स्वास्थ्य के लिए अहितकर होती हैं, [illegible] संकीर्णता के साथ-साथ चलती हैं और इनसे नागरिक जीवन की अप्र[illegible] कृतिकता और भी बढ़ जाती है। इनमें बड़ी बुराई सूर्य प्रकाश तथा स्व[illegible] वायु की कमी और अस्वच्छता है। स्वास्थ्य के लिए [illegible] होने

जा चुका है। क्योकि सभ्यता के मानी हैं, असभ्य जातियो का क्षय-कीटाणुओं से सम्पर्क होना। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि गत योरोपीय महाभारत मे फ्रान्स के मैदान मे केवल अफ्रीका की मजदूर पल्टनो मे क्षय-रोग मे जितनी मृत्यु हुई थी उतनी सारी अंग्रेजी सेना मे नही हुई। अफ्रीकावालो मे ५६ प्रतिशत और अंग्रेजो मे केवल ५.७ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से हुई थी। ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। क्षयरहित पशुओ मे कृत्रिम रीति से क्षय-सक्रमण कराने पर हब्शियो के रोग के सदृश रूप का क्षय होता है। इसप्रकार के रोग के सम्बन्ध में जो बाते ज्ञात हुई हैं उनमे मुख्य ये हैं—

क्षय कीटाणुओ के प्रवेश-स्थान पर क्षयी-विकार कभी प्रगट होते है और कभी नही होते, और होते भी हैं तो इतने तुच्छ कि सब इन्द्रियों के व्यापक रोग के सामने उनकी कोई गिनती नही। इस स्थान मे सक्रमण लसिकाद्वारा फैलता है, इसलिये जैसे जैसे सक्रमण आगे बढता जाता है, लसिका ग्रथियाँ फूलती जाती हैं। लसिका से रक्त मे पहुँचकर सक्रमण समस्त शरीर मे फैल जाता है और फलत प्रत्येक इन्द्रिय मे यक्ष्म हो जाते हैं। सक्षेप मे पशुओ के कृत्रिम रोग मे तीन बाते मुख्य होती है—प्राथमिक क्षयी-विकार की क्षुद्रता, लसिका ग्रन्थियों का फूलना और रोग का सब अगो मे फैलना।

सभ्य जातियो के शैशव-क्षय के बारे मे ३१०४ युवा और १३४६ शिशु मृत शरीरो की परीक्षा करके डा० बीडर्ट ने जो अङ्क विवरण सकलित किया है और जो काल्मेटी की पुस्तक मे प्रकाशित हुआ है वह यहाँ उद्धृत करने योग्य है।

३१०४ युवक और १३४६ शिशुओ के शरीरो की मरणोत्तर परीक्षा से ज्ञात क्षयी-विकारो का वितरण —

इन्द्रिय	युवक	शिशु
फुप्फुस	९० प्रतिशत	७९ प्रति[illegible]
अँतड़ियाँ	४० [illegible]	३१ [illegible] ।७८%
लसिका ग्रन्थियाँ	[illegible]	८८,, ना %
उदर पो[illegible]		१८

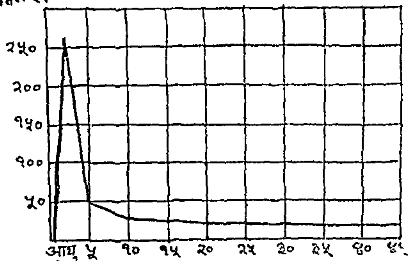
उपरोक्त आँकड़ों से विदित होता है कि शैशवक्षय युवाक्षय से इस बात में भिन्न होता है कि उसमें लसिका ग्रन्थियों के क्षयी-विकार बहुत होते हैं और इस बात में वह पशुओं के प्रयोगोत्पादित कृत्रिम रोग तथा हब्शियों के रोग से मिलता जुलता है। डा० ओपी ने शिशुकाल और युवावस्था के रोगों में फेफड़ों के क्षयी विकारों के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन किया है। उनका कथन है कि शिशुओं में क्षयी विकार फेफड़े के हर भाग में मिलते हैं, परन्तु अधिकतर बाह्य पृष्ठ की ओर परिफुफुसिया कला से कुछ नीचे होते हैं। शिशुकाल में यह क्षयी विकार बहुत शीघ्र फैल जाते हैं और उनके पुरने की कोई चेष्टा नहीं होती। परन्तु चौथी साल के बाद क्षयी-विकार अधिक विस्तृत नहीं होते और उनके पुरने की चेष्टा होने लगती है। फेफड़े के जिस भाग में रोग होता है उस भाग से सम्बन्ध रखनेवाली लसिका ग्रन्थियों में भी अवश्य रोग हो जाता है और इन ग्रन्थियों में वह प्रथम स्थान की अपेक्षा अधिक विस्तृत और स्पष्ट हो जाता है। इसके विपरीत युवावस्था में रोग प्राय फेफड़ों के ऊर्ध्व खंड के शिखर में होता है। इसकी चाल अनिश्चित होती है और यह एक ओर बढ़ता जाता है तो दूसरी ओर सौत्रिक तंतु उत्पन्न होकर अच्छा होता जाता है। रन्ध्र का बनना युवाक्षय का विशिष्ट लक्षण होता है। रुग्न भाग से सम्बन्ध रखनेवाली लसिका ग्रन्थियों में रोग नहीं होता। ये दोनों भेद उतने ही स्पष्ट होते हैं जितने कि युवा और शैशवक्षय के लक्षणों का अन्तर।

शैशव क्षय को एक ऐसा रोग कहा जा सकता है जिसमें सक्रमण के स्थान पर रोग के चिह्न तुच्छ होते हैं, परन्तु लसिका ग्रन्थियों में रोग स्थूलकाय और स्पष्ट होता है। यहाँ से क्षय-कीटाणु रक्त में प्रवेश कर जाते हैं और इसलिए शरीर के सब अथवा किसी भी इन्द्रिय में रोग हो सकता है।

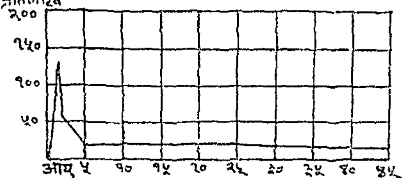
जीवन के प्रथम दो वर्षों में शिशु अत्यन्त क्षय-ग्रहणशील होता है। इसलिये रोग अति शीघ्र फैल जाता है और उसके अच्छा होने की कोई चेष्टा नहीं होती। क्रमश क्षय-ग्रहणशीलता कम होती जाती है और चौथे वर्ष से क्षयी-विकारों के पुरने की कुछ कुछ चेष्टा दिखाई देने लगती है। जीवन के प्रथम दो वर्षों में सर्वांगिक क्षय, जो बड़ा घातक होता है, रोग का प्रधान रूप होता है। जैसे जैसे आयु बढ़ती जाती है, व्यापक रोग कम होता जाता है और इसके स्थान में उदर-कला, फेफड़ा, अस्थि व सन्धि तथा लसिका ग्रन्थियों

का स्थानिक क्षय बढता जाता है। रोग की प्रगति का वेग शिथिल होने लगता है और फलस्वरूप मरण-निष्पत्ति कम होने लगती है।

उपरोक्त बातों से यह कहा जा सकता है कि रेखा-चित्र न० ७ और ८ भ्रान्तिजनक है, क्योंकि वे दो एक दूसरे से बिलकुल भिन्न रोगो को एक



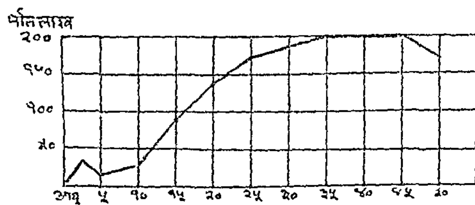
चित्र न० ९—विलायत में सन् १९०१ से १९१० की दशाब्दि में फेफड़ा को छोड़कर अन्य सब प्रकार के क्षय रोगों में आयु के अनुसार प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु संख्या



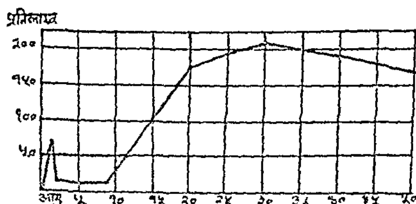
चित्र न० १०—अमेरिका में सन् १९१० से १९१२ तक फेफड़े को छोड़कर अन्य सब प्रकार के क्षय रोगों में आयु के अनुसार प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु-संख्या

मानकर उनकी मरण-निष्पत्ति का आयु-वितरण बतलाते हैं। यह अवश्य

है कि दोनो रोग एक ही प्रकार के कीटाणु से होते हैं। इसलिए इन चित्रो को ठीक-ठीक समझने के लिए उनके विश्लेषण की आवश्यकता है जो कोई कठिन काम नही है। इसके लिए केवल उनको फेफडे और अन्य स्थानो के क्षय मे विभक्त करना, जैसा कि चित्र न० ९, १० ११ और १२ मे किया गया है, पर्याप्त है। *यद्यपि ऐसा करने पर भी शिशुकाल का शुद्ध फुप्फुस-क्षय युवावस्था के फुफ्फुस-क्षय के चित्रो मे सम्मिलित हो जायगा, परन्तु उनकी*



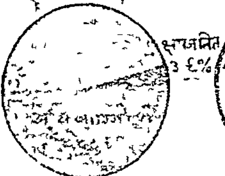
चित्र न० ११—विलायत मे सन् १९०१ से १९१० के दशाब्दि मे फेफडे के क्षय रोग से आयु के अनुसार प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु-संख्या

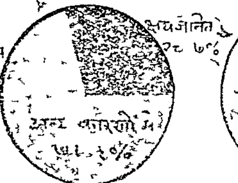


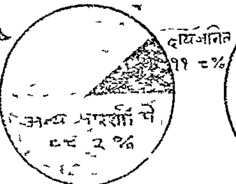
चित्र न० १२—अमेरिका मे सन् १९१० से १९१२ तक फेफडे के क्षय-रोग मे आयु के अनुसार प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु-संख्या

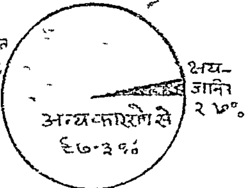
संख्या इतनी कम होगी कि उसकी उपेक्षा की जा सकती है। विश्लेषण से दो साधारण रेखा चित्र बन जाते हैं। चित्र न० ९ और १० विलायत और

पुरुष

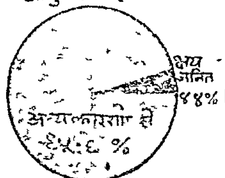


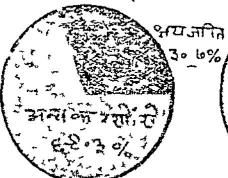


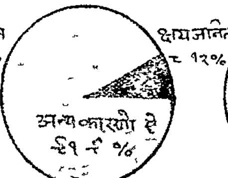


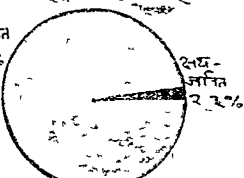


स्त्रियाँ









चित्र नं० १३—अमेरिका के संयुक्तराज्य में सन् १९०१-१३ तक आयु अनुसार स्त्रियों और पुरुषों में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति। (Hoffman)

आयु-काल मे अधिक क्षय होने का कारण अहितकर व्यवसाय होता है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि संयुक्तराज्य की कुल जनसंख्या मे व्यवसाय के विचार को छोडकर दस वर्ष से अधिक आयुवालो मे जो मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं उनमे ५६ प्रतिशत पुरुषों मे और ४४ प्रतिशत स्त्रियों मे होती हैं। परन्तु अहितकर व्यवसाय करनेवाली स्त्रियो के सम्बन्ध मे यह अनुपात उल्टा हो जाता है और उनका अन्तर और भी बढ जाता है। जहाँ दुकानो पर बेचनेवाले पुरुषों मे १५.८ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं वहाँ उसी व्यवसाय को करनेवाली स्त्रियो मे ३१.१ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग मे होती हैं। जूता बनाने वाले पुरुषों में १३.३% और स्त्रियो मे ३१.८% मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं। इस से जान पडता है कि क्षय रोग की मृत्यु के प्रश्न पर लिंग-भेद का उतना प्रभाव नहीं होता, जितना व्यवसायिक वातावरण का। अहितकर वातावरण मे रहकर स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर परिश्रम नही उठा सकतीं। इसलिए क्षय रोग से उनकी अधिक संख्या मे मृत्यु होने लगती है। जब से स्त्रियाँ परिश्रमसाध्य व्यवसाय करने लगी हैं तब से उनमे क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति बढ गयी है। गत योरोपीय महाभारत के समय पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे क्षय-रोग से मृत्यु की संख्या कही अधिक बढ गई थी। इसका मुख्य कारण यह था कि जो स्त्रियाँ पहले कुछ काम नही करती थीं उनको हर प्रकार के वातावरण मे अधिक परिश्रम करना पडा था। भारतवर्ष में स्त्रियों मे क्षय-रोग के अधिक होने का व्यवसायिक परिश्रम से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। इस देश मे इसका प्रमुख कारण कुछ सामाजिक कुरीतियाँ हैं, जिनका विस्तृत वर्णन आगे चलकर किया जायगा और जिनमे पर्दे की प्रथा, बालविवाह, प्रसव कुप्रबन्ध इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

क्षय-रोग से मृत्यु—जिसप्रकार किसी देश मे मृतशरीरों की परीक्षा मे और जीवित मनुष्यो मे यक्ष्मिन परीक्षा से क्षय-संक्रमण के प्रसार का निश्चयात्मक पता चल जाता है, उसी प्रकार अभी तक ऐसा कोई उपाय उपलब्ध नहीं है जिससे उस देश मे क्षय-रोगियो की संख्या का ठीक-ठीक पता लग सके, क्योंकि किसी देश की कुल जनसंख्या की एकत्र परीक्षा करना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त कुछ मनुष्यो मे यह निश्चय करना, कि उनको क्षय-रोग है अथवा नही, अत्यन्त कठिन है। अभी तक कोई ऐसी निश्चित कसौटी नहीं है जिससे

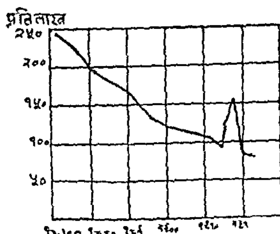
यह निर्णय किया जा सके कि क्षय-संक्रमण का कब अन्त होता है और कब क्षय-रोग का आरम्भ होता है। क्षय-संक्रमण और क्षय-रोग के बीच की विभाजक-सीमा बडी अनिश्चित और अस्पष्ट होती है। इसलिए क्षय रोग के प्रसार का अनुमान क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति से किया जाता है, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि जो रोग जितना अधिक फैला होगा उससे मृत्यु उतनी ही अधिक होगी और जितना उसका प्रसार कम होगा उतनी ही मृत्यु कम होगी।

जाँच करने से यह ज्ञात हुआ है कि संसार मे जितनी मृत्यु होती हैं उनमे से प्रत्येक आठ में से कम से कम एक मृत्यु क्षय-रोग से होती है।

क्षय-रोग की भयंकरता तो उस समय समझ मे आती है जब यह स्मरण होता है कि युवावस्था मे १५ वर्ष से ४० की आयु तक जितनी मृत्यु होती हैं उनमें से एक तिहाई केवल क्षय-रोग से होती हैं। इन रोगियो के व्यवसाय छोडने से और उनके इलाज के व्यय से जो भारी आर्थिक हानि होती है उसका अनुमान नही किया जा सकता। किसी भी देश मे जितनी आर्थिक हानि क्षय-रोग से होती है उतनी और किसी बात से नहीं होती। यही कारण है कि विचारशील देशो मे क्षय-रोग की समस्या हल करने की इतनी चेष्टा की जा रही है।

विभिन्न देशों की क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति में न्यूनाधिकता— क्षय-रोग संसार के सब सभ्य देशो मे फैला हुआ है। परन्तु सब देशो मे इसका प्रसार समान नही है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात हुआ है कि कुछ देशो मे क्षय-रोग का प्रसार स्थिर है, कुछ देशों मे कमी पर है और कुछ देशो मे बढती पर। जनसंख्या की सघनता, व्यवसायिक विशेषताएँ, सामाजिक तथा आर्थिक वातावरण सम्बन्धी अन्य बाते, इस अन्तर के अनेक कारण होते हैं।

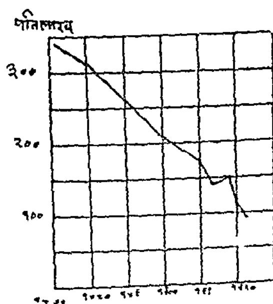
कुछ देशो मे क्षय-रोग की कमी के कारण— क्षय रोग की मरण-निष्पत्ति मे सबसे अधिक कमी इङ्गलैंड और अमेरिका के संयुक्तराज्य मे हो रही है। इङ्गलैंड मे क्षय-रोग की कमी लगभग १५० वर्ष से हो रही है। सन १७४३—५३ ई० मे क्षय-रोग से मृत्यु प्रति सहस्र २०० और १८३८ ई० मे प्रति सहस्र १४८ थीं। चित्र न० १४ सन् १८७० से सन १९२३ ई० तक की वार्षिक मरण-निष्पत्ति सूचित करता है।



चित्र नं० १४—विलायत में सन् १८७० से १९२३ तक फेफड़े के क्षय-रोग से प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु संख्या में उत्तरोत्तर कमी और युद्धकाल में अल्पकालिक वृद्धि

इस रेखा चित्र पर दृष्टि डालने से इस काल में क्षय-रोग में उत्तरोत्तर कमी स्पष्ट दिखाई देती है। केवल गत योरोपीय महाभारत के समय कुछ अल्पकालिक वृद्धि होगई थी।

स्काटलैंड, जर्मनी, आस्ट्रिया और आस्ट्रेलिया में भी क्षय-रोग में कमी हो रही है। चित्र नं० १५ को देखने से विदित होता है कि



चित्र नं० १५—अमेरिका में सन् १८७० से १९२३ तक फेफड़े के क्षय-रोग से प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु-संख्या में उत्तरोत्तर कमी और युद्धकाल में अल्पकालिक वृद्धि

अमेरिका के संयुक्तराज्य में सन १८७० ई० से सन १९०३ ई० तक क्रमश क्षय-रोग में कमी होती आ रही है।

इङ्गलैंड की भाँति इस देश में भी गत योरोपीय महाभारत के समय कुछ अल्पकालिक वृद्धि होगई थी।

स्काटलैंड, जर्मनी, आस्ट्रिया और आस्ट्रेलिया में भी क्षय-रोग में कमी हो रही है।

इन देशों में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति की इस कमी के कारण के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद हैं। न्यायपूर्वक विचार करने से यह प्रतीत होता है कि इस कमी के कई कारण हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

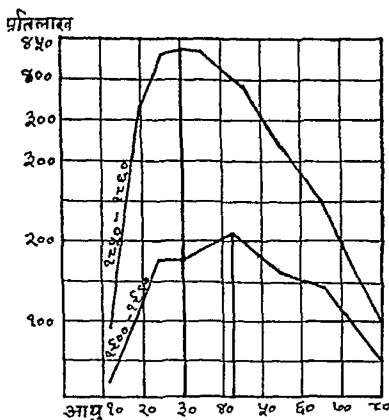
(१) सब विद्वानों का एकमत होकर यह विश्वास है कि जिन कारणों से व्यापक मरण निष्पत्ति में कमी हुई है, उन्हीं कारणों से क्षयी मरण-निष्पत्ति में भी कमी हुई है। इन कारणों में सार्वजनिक स्वच्छता और स्वास्थ्य में उन्नति, आर्थिक दशा में उन्नति, कारखानों के परिश्रम-सम्बन्धी नियमों में सुधार इत्यादि मुख्य हैं। वेतन में उन्नति और फल-स्वरूप लोगों को अधिक पौष्टिक भोजन का उपलब्ध होना भी क्षय-रोग की कमी का एक कारण है। यह बात इससे भी स्पष्ट विदित होती है कि जिन-जिन देशों में जितनी अधिक आर्थिक-उन्नति हुई है, उन देशों में उतनी ही अधिक क्षय-रोग में कमी हुई है। इङ्गलैंड और अमेरिका में सबसे अधिक कमी होने का कारण यह है कि ये दोनों देश संसार में सबसे अधिक श्रीसम्पन्न और उन्नत हैं।

(२) क्षय-रोग के रोकने के उपायों का प्रभाव—कुछ लोग इस कमी का पूरा श्रेय उन प्रयत्नों को देते हैं जो हाल में क्षय-रोग के रोकने के लिए किये गये हैं। परन्तु उपलब्ध साक्षी से उनके इस मत का समर्थन नहीं होता। इङ्गलैंड में क्षय-रोग के रोकने के उपायों के प्रयुक्त होने के पहले से क्षय-रोग में कमी होने लगी थी। नार्वे में क्षय-रोग के रोकने का उतना ही प्रयत्न किया जा रहा है जितना उसके निकटवर्ती डेनमार्क देश में, परन्तु फिर भी वहाँ क्षय-रोग के रोकने के इन उपायों का कुछ भी प्रभाव नहीं होता। उनका कहना है कि जितने भी उपाय किए जाते हैं, वे सब क्षय-संक्रमण रोकने के उपाय हैं, परन्तु फिर भी आज क्षय-संक्रमण उतना ही फैला हुआ और व्यापक है जितना इन प्रयत्नों के पूर्व था।

उनका मत है कि क्षय-रोग की इस कमी का कारण वातावरण सम्बन्धी वे परिवर्तन होते हैं, जिनसे शिशुकाल मे क्षय-संक्रमण होने का अधिक सुयोग होता है। फलत. इस अधिक संक्रमण से निर्बल शिशुओं की क्षय-रोग से मृत्यु हो जाती है, और केवल अधिक प्रतिरोध-शक्तिवाले शिशु छँटकर शेष रह जाते हैं और इन्ही की सन्तान चलती है। वातावरण सम्बन्धी इस परिवर्तन को संक्षेप मे नगर वृद्धि (Urbanisation) कहा जा सकता है। किसी देश मे जब सभ्यता फैलती है और अन्य देशो से आना-जाना तथा व्यवहारिक सम्बन्ध बढता है, और फलस्वरूप वैभव एव औद्योगिकता मे वृद्धि होती है तो उनके साथ साथ नगर वृद्धि भी होती है। विभिन्न देशो मे यह नगर वृद्धि भिन्न भिन्न समय मे हुई है। योरोप मे सबसे पहले इगलैंड मे हुई थी। क्षय-रोग की मरण निष्पत्ति पर नगर वृद्धि का प्रभाव उसकी गति के अनुसार होता है। बडे बडे नगरो मे अधिक जन सख्या के एक स्थान पर एकत्रित होने से क्षय-संक्रमण फैलने के सुयोग बढ जाते है और फलस्वरूप पहले क्षय-रोग की मृत्युसख्या मे वृद्धि होती है। परन्तु कुछ समय के बाद जब प्राकृतिक छाँट से निर्बल प्राणियों का नाश होकर केवल सबल और रोगक्षम व्यक्ति शेष रह जाते हैं तो उनकी सन्तान मे क्षय-रोग से मृत्यु कम होने लगती है। अस्तु, अधिकाश विशेषज्ञों का यह मत है कि जापान और नार्वे इत्यादि देशो मे, जहाँ हाल ही मे नगर वृद्धि हुई है, क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति वृद्धि पर है। दूसरी ओर इगलैंड और अमेरिका जैसे देशो मे, जहाँ बहुत दिनो से नगर वृद्धि हो चुकी है, क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति कम हो रही है। आयरलैंड जैसे देशो मे, जहाँ नगर वृद्धि नही हो रही है, क्षयी मरण निष्पत्ति स्थिर है।

अभी कहा नही जा सकता कि यह बात कहाँ तक ठीक है, परन्तु डा० कालिस ने यह सिद्ध कर दिया है और चित्र न० १६ से उनके मत का समर्थन होता है कि नगर वृद्धि के साथ क्षय रोग से अधिक मृत्यु होनेवाले आयुकाल मे परिवर्तन हो जाता है।

जिन देशो मे औद्योगिकता (Industrialism) अभी तक नहीं फैली है अथवा हाल ही मे फैली है, उनमे क्षय रोग से सबसे अधिक मृत्यु १५ से ३० वर्ष की आयु मे होती हैं, परन्तु जिन देशो में औद्योगिकता को फैले हुए बहुत दिन होगये हैं, उनमे क्षय-रोग से सबसे अधिक मृत्यु ३०



चित्र न० १६—विलायत मे सन् १८५०-६० और १६००-१६१० तक की दशाब्दियो मे राजयक्ष्मा की आयु अनुसार मरण निष्पत्ति के रेखा चित्र, जिनमे सबसे अधिक मृत्यु के आयुकाल में परिवर्तन दिखाया गया है।

मे ४५ वर्ष की आयु मे होती है और रोग हल्का तथा अधिक जीर्ण रूप का होता है।

अशत सत्य होने पर भी केवल नगर वृद्धि और रोगक्षमता की क्रमिक वृद्धि के सिद्धान्त से क्षय-रोग की कमी सम्बन्धी सब बातो पर प्रकाश नही पडता, इसलिए यह सिद्धान्त क्षय-रोग के रोकने के उपायो को अपने श्रेय से वचित नही कर सकता। जैसा कि निम्नलिखित तालिका से विदित होता है, एक ही देश के विभिन्न शहरों मे क्षय-रोगो मे कमी असमान है, और उसका रोगक्षमता की क्रमिक वृद्धि (Gradual Immunisation) से कोई सम्बन्ध प्रतीत नही होता।

सन १९२० मे अमेरिका और योरोप के विभिन्न नगरो मे प्रतिलाख क्षयजनित मृत्यु-सख्या—

अमेरिका

अमेरिका के शहर	जनसख्या	क्षय-रोग से मृत्यु सख्या
फिलडिल्फिया	१८३७९२४	१३७
इन्डियाना पोलिस	३१४१९४	१३०
नीवार्क	४१४२१६	१३०
सैन फ्रान्सिस्को	५२०५४६	१००
वोस्टन	७५१२५१	१२७
न्यूयार्क	५६६३९८०	१२६
पिट्सवर्ग	५५१०३३	११९
क्लोवलैंड	८०८२६८	१०८
बफेलो	५१९६०८	१०२
शिकागो	२७२८०२२	९७
सेंटपाल	२९००००	८९
वाशिंगटन	४३७५७१	८५

योरोप

योरोप के शहर	जनसख्या	क्षय-रोग से मृत्यु-सख्या
वायना	१८४२००५	४०५
बुडापेस्ट		३७६
वारसो		३३८
प्रेग	४८७०००	३२४
फ्लोरेन्स	२४८५८७	२९८
पैरिस	२९०५२४८	२७९
कलोन	६५६६१७	१७९
लीपजिग	६२१३५१	१७९
वर्लिन	१९३१३३०	१७७
डसेल्डार्फ	४१४९००	१७२
एम्सटर्डम	६५०७५८	१५६
हैम्वर्ग	१०११०००	१५२

यदि रोगक्षमता की क्रमिक वृद्धि का इस कमी पर कोई विशेष प्रभाव होता तो वह पुराने मध्य नगरों में स्पष्ट दिखाई देता, परन्तु उपर्युक्त तालिका के आंकड़ों में यह बात नहीं पाई जाती। इससे तात्पर्य यही निकलता है कि कुछ देशों और शहरों में क्षय-रोग के फैलने के कारण अधिक विद्यमान हैं और उसको कम करने वाले साधन कम, इसीलिए इस कमी में इस प्रकार की असमानता पाई जाती है।

उपलब्ध साक्षी को चाहे जिस दृष्टिकोण से देखा जाय यही निष्कर्ष निकलता है कि क्षय-कीटाणुओं के अनुसन्धान से प्राप्त क्षय-रोग के प्रसार का ज्ञान हो जाने से और उसके रोकने के समुचित उपाय करने से क्षय-रोग की कमी में अवश्य सहायता मिली है। विभिन्न देशों के क्षय रोग के प्रसार सम्बन्धी आँकड़ों की तुलना करने से यह विदित होता है कि कुछ विशेष उपायों के उपयोग का क्षय-रोग और उसकी मरण-निष्पत्ति पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी देश की मरण-निष्पत्ति की न्यूनाधिकता, वहाँ के स्वास्थ्य-विभाग के कर्मचारियों की कार्य-पटुता और वहाँ की जनता के सहयोग पर निर्भर होती है। उपलब्ध साक्षी पर विचार करते हुए प्रत्येक विचारशील समाज का कर्त्तव्य है कि वह क्षय-रोग के प्रसार का ज्ञान प्राप्त कर उसके रोकने के उपायों का उपयोग करे।

पाँचवाँ परिच्छेद



भारतवर्ष मे क्षय-रोग का प्रसार

कठिनाई—इस बात को सब लोग मानते हैं कि भारतवर्ष में क्षय-रोग बहुत फैला हुआ है। परन्तु वर्तमान दशा मे उसके वास्तविक प्रसार का अन्य देशो की भाँति ठीक ठीक पता लगाना बडा कठिन है। बडा कठिन ही नही, बल्कि असम्भव कहना चाहिए। इसका कारण यह है कि अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष में मृत्युलेखन का काम अभी तक सुव्यवस्थित नही हुआ है। यहाँ मृत्यु की रिपोर्ट करने का काम प्राय चौकीदार इत्यादि अनपढ और असमझ लोगो के सुपुर्द है। ये लोग असमझ होने के कारण जो चाहते हैं, मृत्यु का कारण लिख देते हैं। मृत्युलेखो को देखने से विदित होता है कि मृत्यु का कारण बहुधा केवल ज्वर लिखा दिया जाता है। इसका कारण यह है कि अधिकाश घातक रोगो मे ज्वर प्रमुख और सुव्यक्त लक्षण होता है और ज्वर को लोग साधारणत रोग का लक्षण नहीं, बल्कि रोग ही समझते हैं।

मृत्युलेखन का कार्य अव्यवस्थित होने से मृत्युसम्बन्धी उपलब्ध आँकडो से क्षय-रोग के प्रसार का ठीक ठीक पता नही लग सकता। क्षय-रोग के प्रसार के सम्बन्ध में विभिन्न लोगों मे मतभेद होने का प्रमुख कारण विश्वस्त आँकडों का अभाव है। भारतवर्ष मे क्षय-रोग के प्रसार के सम्बन्ध में लोगो की जो कुछ धारणा है वह केवल अनुमान और अनुभव पर आश्रित है, आँकडों से उसका समर्थन नहीं किया जा सकता।

इस देश के साधारण मृत्युसम्बन्धी आँकडे विश्वासयोग्य नही हैं और क्षय-रोग के प्रसार का पता लगाने मे उनसे कोई सहायता नहीं मिलती। परन्तु यत्रतत्र कुछ आँकडे ऐसे मिल जाते हैं जिनमे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर कुछ लोगों ने इस विषय

मे विशेष जाँच की है जिससे भारतवर्ष मे क्षय-रोग के प्रसार का बहुत कुछ पता लग जाता है।

विशेष स्थानों के आँकडे—जिन विशेष संस्थाओं और स्थानों के आँकडो से क्षय-रोग के प्रसार का पता लगाने मे सहायता मिलती है उनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं —

(१) बीमा कम्पनियों के आँकडे—साधारण आँकडो की अपेक्षा बीमा कम्पनियो के मृत्युसम्बन्धी आँकडे कहीं अधिक विश्वासयोग्य और ठीक होते हैं, क्योंकि अभी तक भारतवर्ष में केवल पढे लिखे और समझदार लोग ही बीमा कराते हैं, जिनसे यह आशा की जाती है कि वे कम से कम इतनी जानकारी अवश्य रक्खेगे कि वे अपने निकट सम्बन्धियों की मृत्यु का कारण ठीक ठीक लिखा सके। इसके अतिरिक्त बीमा का रुपया प्राप्त करने के लिए चिकित्सक का सार्टीफिकट भी देना पडता है। अतएव बीमा कम्पनियों के मृत्युलेखो मे मृत्यु के कारण के सम्बन्ध मे भूल होने की बहुत कम सम्भावना होती है।

भारतवर्ष मे क्षय-रोग के प्रसार का पता लगाने के लिए लेखक ने सब बीमा कम्पनियो से गत दस वर्षो के मृत्युसम्बन्धी आँकडे भेजने के लिए प्रार्थना की थी। कुछ कम्पनियों ने आवश्यक आँकडे भेजने की कृपा की है और उसके लिए वे लेखक के धन्यवाद के पात्र है। स्थानाभाव के कारण इन उपलब्ध आँकडो का केवल साराश नीचे दिया जाता है, जिससे क्षय-रोग के प्रसार पर बहुत कुछ प्रकाश पडता है।

ओरियंटल लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी के सन १९२५ से १९२९ तक के मृत्युलेखों के देखने से विदित होता है कि इस काल मे बीमा किये गये लोगों मे से कुल ३५४४ मृत्युएँ हुई थी जिनमे से ३२३ अर्थात् ९.१ प्रतिशत क्षय-रोग से थी। बगाल इन्श्योरेन्स और रायल प्रोपार्टी कम्पनी के सन १९२० से १९२९ तक के मृत्युलेखो से विदित होता है कि इस काल मे बीमा वाले लोगो मे कुल ६८ मृत्यु हुई थीं जिनमे से ८ अर्थात् ११.७६ प्रतिशत क्षय-रोग से हुई थी। बम्बई लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी के सन १९२५ से १९२९ तक के आँकडो के देखने से ज्ञात होता है कि इस काल मे बीमा किये गये लोगो मे कुल ३१० मृत्यु हुई जिनमे से ४४ अर्थात् १४.२ प्रतिशत क्षय-रोग से थी। नागपुर पायोनियर इन्श्योरेन्स कम्पनी के सन् १९२३ से

१९३० ई० तक के आँकड़ों से विदित होता है कि इस काल में कुल ३१ मृत्युओं में से ४ अर्थात १० प्रतिशत क्षय-रोग से थीं। इन आँकड़ों से प्रकट होता है कि भारतवर्ष के पढ़े-लिखे और स्वस्थ नवयुवकों में जितनी मृत्यु होती हैं उनमें से ९ से १४ प्रतिशत तक मृत्यु क्षय रोग से होती है।

उपरोक्त आँकड़े विशेष ध्यान देने योग्य हैं। वे केवल एक अत्यन्त परिमित समुदाय से सम्बन्ध रखते हैं। भारतवर्ष में बीमा करानेवाले लगभग सभी व्यक्ति पुरुष होते हैं और वे भी साधारण पुरुष नहीं, बल्कि अच्छी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के होते हैं। इसके अतिरिक्त ये आँकड़े बीमा करानेवालों के समुदाय में फैले हुए क्षय-रोग के कुल प्रसार के सूचक नहीं हैं। क्योंकि जिन लोगों की क्षय-रोग से बाल्यावस्था में मृत्यु हो जाती है, उनकी गणना इसमें नहीं होती है और स्त्रियाँ, दुर्बल व्यक्ति, क्षय-रोगी अथवा जिनमें क्षय-रोग का सन्देह हो, उनमें से कोई भी इसमें सम्मिलित नहीं होते। ऐसे लोग न तो बीमा कराने का विचार करते हैं और यदि करें भी तो डाक्टरी-परीक्षा करने पर त्याग दिये जाते हैं। ये आँकड़े यथार्थ में केवल ऐसे शिक्षित पुरुषों की संख्या सूचित करते हैं जो यौवन के प्रारम्भ में शरीर की सावधानी से परीक्षा कराने पर स्वस्थ मिलते हैं, पर आगे चलकर क्षय रोग का शिकार बन जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन आँकड़ों से देश की उस होनहार शिक्षित सन्तान का दुःखद अन्त प्रकट होता है जिन पर यथार्थ में समाज की उन्नति और रक्षा का पूरा उत्तरदायित्व होता है। इसके अतिरिक्त यह अनर्थ, जिसकी ओर शिक्षित समुदाय का ध्यान आकर्षित किया जाता है तथा जिसके रोकने के लिए उनकी सहायता की आवश्यकता है, वस्तुतः उन्हीं से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है, न कि समाज के अन्य कम भाग्यशाली लोगों से। अस्तु, समाज के स्वास्थ्यवान नेताओं में अन्त में कम से कम १० प्रतिशत क्षय रोग की भेंट चढ़ जाते हैं। इन लोगों को कम से कम इतनी जानकारी होनी चाहिये जिससे उनके जीवन की रक्षा हो सके। शिक्षा से क्या हो सकता है, यह चेचक के आँकड़ों से विदित हो सकता है। ओरियंटल कम्पनी के बीमावालों में सन् १९२५ से सन् १९२९ तक की कुल ३५४४ मृत्युओं में से केवल २३ मृत्यु चेचक से हुई थीं।

(२) ईसाई-समुदायों के आँकड़े—भारतवर्ष के अधिकांश भागों में साधारण जनसंख्या की अपेक्षा ईसाई-समुदाय की मरण-निष्पत्ति बहुत

कम है। इसमे कोई आश्चर्य की बात नही, क्योंकि स्वास्थ्य तथा आयुर्वेद-सम्बन्धी पाश्चात्य उन्नति का प्रत्यक्ष प्रभाव अन्य लोगो की अपेक्षा ईसाइयो पर अधिक पडा है और उनकी जीवनावस्था अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक अच्छी है। इसलिए उनमे अनेक स्थानो मे क्षय रोग का प्रचुर प्रसार और भी अधिक अवेक्षणीय है, विशेषकर जब कि वे ऐसी अनेक कुरीतियो से मुक्त होते हैं जिनसे क्षय-रोग के फैलने में सहायता मिलती है।

अधिकाश मिशन-केन्द्रो में कब्रस्तान होता है जहाँ ईसाइयो के मुर्दे गाडे जाते है और मृत्यु का रजिस्टर सावधानी से रक्खा जाता है। इस रजिस्टर मे मृत्यु का कारण स्पष्ट और यथासम्भव ठीक ठीक लिखा जाता है। इससे ईसाई-समुदाय के मृत्युसम्बन्धी आकडो मे भूल होने की बहुत कम सम्भावना होती है। निम्नलिखित तालिकाओ मे इन रजिस्टरो से उद्धृत आँकडे दिये जाते हैं जिनसे क्षय-रोग की मृत्युसख्या का पता लगता है। प्रत्येक तालिका के अन्तिम स्तम्भ मे प्रौढावस्था मे अर्थात् १५ वर्ष से ५५ वर्ष तक की आयुकाल मे क्षय-रोग से मृत्यु की अधिकता स्पष्ट प्रकट होती है।

कलकत्तानिवासी भारतीय ईसाइयों के श्मशान-रजिस्टर के आँकडे

वर्ष	कुल मृत्यु-सख्या	क्षयजनित मृत्यु			कुल मृत्यु के अनुपात मे प्रतिशत क्षयजनित मृत्युसख्या	१५ से ५५ वर्ष तक के आयुकाल मे कुल मृत्युसख्या	१५ से ५५ वर्ष तक के आयुकाल मे क्षयजनित मृत्युसख्या	१५ से ५५ वर्ष के आयुकाल मे क्षयजनित मृत्यु की प्रतिशत सख्या
		पुरुष	स्त्रियाँ	जोड				
१८८०	१०३	७	३	१०	९७	४२	८	१९०
१८९०	११८	५	५	१०	८४	४१	८	१९५
१८९५	२००	१७	११	२८	१४०	८८	२०	२२७
१९००	३५०	१६	११	२७	७७	१४६	२३	१५७
१९०५	३२०	१५	१७	३२	१००	१४४	२७	१८७
१९१०	३३६	१८	१७	३५	१०४	१२५	३१	२४८
१९१४	३०६	२२	११	३३	१०७	१४४	२८	२०१
जोड	१७३३	१००	७५	१७५	१०१	७३०	१४५	२००

उपरोक्त तालिका से विदित होता है कि प्रौढावस्था मे (१५ से ५५ वर्ष की आयु तक) कलकत्ता के ईसाइयो म २० प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से हुई थी।

निम्नलिखित तालिका से कलकत्ता क योरोपियन और ऐङ्गलो-इण्डियन जनसख्या में क्षय रोग के प्रसार का पता लगता है।

कलकत्ता के योरोपियन और एङ्गलोइण्डियनो के श्मशान-रजिस्टर के आँकडे

र्ष	कुल मृत्यु-सख्या	क्षयजनित मृत्यु-सख्या			कुल मृत्यु के अनुपात मे प्रतिशत क्षयजनित मृत्यु-सख्या	१५ से ५५ वर्ष तक के आयुकाल मे कुल मृत्यु-सख्या	१५ से ५५ वर्ष के आयुकाल मे क्षय-जनित मृत्यु सख्या	१५ से ५५ वर्ष तक के आयु-काल मे क्षय-जनित मृत्यु की प्रतिशत सख्या
		पुरुष	स्त्रियाँ	कुल				
८५	४७३	१४	१७	३१	६ ५	२२६	३०	१३ २
९०	४५२	१९	१९	३८	८ ४	२०९	२८	१३ ४
९५	६४८	३०	३२	६२	९ ५	२५९	४६	१७ ७
००	६२९	२७	२७	५४	८ ६	२६७	४३	१६ १
०५	६१२	२३	३२	५५	८ ९	२४८	४७	१८ ९
१०	५३५	२३	२१	४४	८ २	२०५	३१	१५ १
१४	६०३	२५	३२	५७	९ ४	२४०	४३	१७ ९
ड	३९५२	१६१	१८०	३४१	८ ६	१६५४	२६८	१६ २

निम्नलिखित तीसरी तालिका पार्लाकट के ईसाई-समुदाय की है जिनमे क्षय रोग का प्रसार अन्य स्थानो की अपेक्षा अधिक है।

वेसिल इवैंजेलिकल मिशन, कालीकट के श्मशान-रजिस्टर के आँकड़े

वर्ष	कुल मृत्युसंख्या	क्षयजनित मृत्यु			कुल मृत्यु के अनुपात से प्रतिशत क्षयजनित मृत्यु-संख्या	२५ से ४५ वर्ष तक की आयुकाल में कुल मृत्यु-संख्या	२५ से ४५ वर्ष तक की आयुकाल में क्षयजनित मृत्यु-संख्या	२५ से ४५ वर्ष तक की आयुकाल में क्षयजनित मृत्यु की प्रतिशत संख्या
		पुरुष	स्त्रियाँ	कुल जोड़				
१९०५	८०	५	४	९	११ २५	२६	९	३४ ६
१९०६	६८	१	२	३	३ ४	३१	३	९ ६
१९०७	६०	३	१	४	६ ६	२१	४	१९ ०
१९०८	९७	६	१	७	५ २	४३	७	१६ ३
१९०९	५३	२	३	५	९ ४	२०	४	२० ०
१९१०	६६	५	८	१३	१९ ७	३२	१३	४० ६
१९११	३४	३	५	८	२३ ५	१५	७	४६ ६
१९१२	५०	२	३	५	१० ०	२०	५	२५ ०
१९१३	६८	२	३	६	८ ८	२८	६	२१ ४
१९१४	६०	२	६	८	१३ ३	२४	७	२९ १
जोड	८३६	३२	३६	६८	१० ६९	२६०	६५	२५ २

उपरोक्त तालिका से विदित होता है कि ईसाइयों में प्रौढ़ावस्था में २५ प्रतिशत मृत्यु क्षय रोग से होती हैं।

पञ्जाब के ईसाइयों में इससे भी अधिक क्षय-रोग का प्रसार पाया जाता है। निम्नलिखित तालिका इस बात की द्योतक है।

लाहौर के भारतीय ईसाइयों के श्मशान-रजिस्टर के आँकड़े

वर्ष	कुल मृत्यु	क्षयजनित मृत्यु			कुल मृत्यु के अनुपात में प्रतिशत क्षयजनित मृत्यु-संख्या	१५ से ४५ वर्ष के आयु-काल में कुल मृत्यु-संख्या	१५ से ४५ वर्ष के आयुकाल में क्षयजनित मृत्यु-संख्या	१५ से ४५ वर्ष के आयु-काल में क्षयजनित मृत्यु की प्रतिशत संख्या
		पुरुष	स्त्रियाँ	जोड़				
१९०५	४४	३	५	८	१८२	१५	५	३३३
१९०६	२०	१	१	२	१००	९	२	२२२
१९०७	३५		४	४	११४	१४	४	२८५
१९०८	४८	८	१	९	१८७	२१	९	४२८
१९०९	२७	२	४	६	२२२	११	६	५४५
१९१०	२३	२	१	३	१३०	९	२	२२२
१९११	३१	४	२	६	१९३	१६	६	३७५
१९१४ (६ महीने)	२१	३	३	६	२८५	११	६	५४५
जोड़	२४९	२३	२१	४४	१७६	१०६	४०	३७७

पञ्जाब के ईसाइयों में सन् १९१४ ई० में कम से कम २८५ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से हुई थीं और प्रौढ़ावस्था में आधे से भी अधिक क्षय रोग के कारण हुई थीं।

आगरा एक और ऐसा स्थान है जहाँ क्षय-रोग बहुत फैला हुआ है। निम्नलिखित तालिका में सिकन्दरा के ईसाइयों के सन १८९५ से १९१५ तक के मृत्युसम्बन्धी आँकड़े दिये गये हैं।

सिकन्दरा के ईसाइयों में क्षयजनित मृत्यु के आँकडे

वर्ष	कुल मृत्यु संख्या	क्षयजनित मृत्यु			कुल मृत्यु के अनुपात मे प्रतिशत क्षयजनित मृत्यु-संख्या	१५ से ५५ वर्ष के आयु-काल मे कुल मृत्यु-संख्या	१५ से ५५ वर्ष के आयुकाल मे क्षयजनित मृत्यु संख्या	१५ से ५५ वर्षों के आयुकाल मे क्षयजनित मृत्यु की प्रतिशत संख्या
		पुरुष	स्त्रियाँ	जोड				
१८९५-१९१५	२७७	४०	४२	४२	२९ ६	१०६	५०	४७ २

इस तालिका के देखने से विदित होता है कि इस २१ वर्ष के काल मे जितनी मृत्यु इस स्थान मे हुई थी उनमे से २९ ६ प्रतिशत क्षय-रोग के कारण थी और १५ से ५५ वर्ष की मृत्युओ मे से ४७ २ प्रतिशत का कारण क्षय-रोग था।

ईसाई-समुदाय मे एक बात यह देखने मे आई है कि पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे क्षय-रोग से केवल थोडी ही अधिक मृत्यु होती है।

क्षय-रोग की प्रसार सम्बन्धी जाँचें—भारतवर्ष की साधारण जन-संख्या के मृत्युसम्बन्धी आँकडो के देखने से विदित होता है कि लगभग ९० प्रतिशत मृत्युओ का कारण ज्वर लिखाया जाता है और ये आँकडे प्राय शीतज्वर (Malaria) के प्रचुर प्रसार के समर्थन में उद्धृत किये जाते हैं। परन्तु वस्तुत उनसे शीतज्वर के वास्तविक प्रसार की कोई सूचना नहीं मिलती, क्योंकि चौकीदार इत्यादि मृत्यु की रिपोर्ट करनेवाले लोग बहुधा हर एक रोग को ज्वर लिखा देते हैं। बगाल के दीनाजपुर जिले मे एक हजार मृत्युओं की जो जाच की गई थी, उमसे मृत्यु के मुख्य-मुख्य कारणो का मोटे तौर पर पता लग जाता है। ज्वर के कारण लिखी हुई मृत्युओ की सावधानी से जाँच की गई थी। इस जाँच मे पता चला कि ज्वर के कारण लिखी हुई मृत्युओ मे से कम से कम ९ प्रतिशत क्षय-रोग के कारण थीं।

इसीप्रकार की दूसरी जाँच डा० ब्रह्मचारी ने कलकत्ता के निकट काशीपुर चितपुर मे लगातार ५ वर्ष तक की थी। प्रत्येक मृत्यु के वास्तविक कारण

ी यथासम्भव सावधानी से जाँच की गई थी। पाँच वर्ष के सम्मिलित
आँकडा के देखने से पता चलता है कि कुल २१८१ मृत्युओ मे से ५२० का
ारण क्षय रोग मिला था। जिन मृत्युओ का कारण ज्वर लिखा गया था
नम से १० ८ प्रतिशत का कारण क्षय-रोग था और जिनका कारण श्वास-
र्ग के रोग लिखा गया था उनमे से २३ ६ प्रतिशत का कारण क्षय-रोग था।
सी ही अनेक जाँचे बगाल के सैनिटरी कमिश्नर डा० बेटले की अवधानता
की गई थीं। मुर्शिदाबाद जिले मे ज्वर के कारण लिखी हुई मृत्युओ मे ५ ४
तिशत क्षय रोग के कारण पाई गई थी। नदिया जिले मे यह अनुपात ७ २
तिशत और जसोर जिले मे ९ प्रतिशत था। ढाका जिले के एक भाग मे
ाँच करने से ज्ञात हुआ कि श्वास-मार्ग के रोगो के कारण लिखी हुई ९१०
ृत्युओ मे से ३५ ५ प्रतिशत का कारण क्षय-रोग था।

भारतवर्ष के अन्य भागों मे जाँच करने से इसीप्रकार के आँकडे
ल सकते हैं और इसमे कोई सन्देह नही कि उनसे भी वही तात्पर्य
कलेगा। मृत्यु-सम्बन्धी विभिन्न आँकडो और स्वास्थ्य-विभागो की रिपोर्टो
देखने से यह धारणा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती कि आजकल की मृत्यु
रिपोर्ट करने की प्रणाली मे अनेक क्षयजनित मृत्यु 'ज्वर' शीर्षक मे लिख
ी हैं। वर्तमान स्थिति मे यह माना जा सकता है कि ज्वर के कारण
ी हुई मृत्युओं में से लगभग ९ या १० प्रतिशत और श्वास रोगों के
ण लिखी हुई मृत्युओ मे से २० से २५ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं।

देहात की अपेक्षा शहरो के मृत्यु-सम्बन्धी आँकडे कुछ अधिक ठीक
हैं, यद्यपि अभी तक वे भी पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं हैं। बडे बडे
रो के मृत्यु-सम्बन्धी आँकडों के देखने से और पश्चिमी देशों के शहरों के
रूप आँकडों से उनकी तुलना करने पर विदित होता है कि भारतवर्ष
हरो मे क्षय-रोग कही अधिक फैला हुआ है। कुछ शहरो मे विशेष
करने से ज्ञात हुआ है कि कुल मृत्युओ मे से लगभग २० प्रतिशत
क्षय-रोग से होती हैं। प्रत्येक पाँच मृत्युओं मे से कम से कम एक का
रोग मे होना हमारे शहरो में क्षय-रोग के विकराल प्रसार का
क है।

यह पहले बताया जा चुका है कि पाश्चात्य देशों में जितनी मृत्यु
हैं उनका आठवाँ भाग क्षय-रोग से होता है। ऊपर अभी यह बताया

जा चुका है कि भारतवर्ष के देहात मे लगभग ९० प्रतिशत मृत्युओ का कारण ज्वर लिखा होता है और ज्वर के कारण लिखी हुई मृत्युओं मे से लगभग १० प्रतिशत क्षय-रोग से होती हैं। इसके अतिरिक्त श्वास-मार्ग के रोगो के कारण लिखी हुई मृत्युओं मे से लगभग एक चौथाई क्षय-रोग मे होती हैं। इन दोनो को मिलाकर हिसाब लगाने से आठवे भाग से भी अधिक मृत्युओ का कारण क्षय-रोग होता है। यह बात देहात की है। शहरो मे तो १५ से २० प्रतिशत तक मृत्यु क्षय रोग मे होती हैं। इससे निस्सन्देह यह तात्पर्य निकलता है कि पाश्चात्य देशो की अपेक्षा भारतवर्ष मे क्षय-रोग अधिक फैला हुआ है।

क्षय-रोग के प्रसार का भौगोलिक वितरण--भारतवर्ष मे भी क्षय-रोग का प्रसार उन्ही व्यापक नियमो के अनुसार और उन्ही सामाजिक तथा जलवायु सम्बन्धी बातो पर निर्भर होता है जिनके अनुसार और जिन पर अन्य देशो मे होता है। इन बातो की विवेचना पूर्व परिच्छेद मे की जा चुकी है। परन्तु भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशो मे क्षय-रोग के प्रसार का किन-किन बातो मे कितना प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध मे कुछ कहने से पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि अभी तक इस विषय मे कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नही हुआ है। जो कुछ भी कहा जायगा वह अस्थायी और परिवर्तन-सापेक्ष है। विश्वस्त आँकडो के अभाव के कारण भारतवर्ष के विभिन्न भागो मे क्षय-रोग के वास्तविक प्रसार का पता नहीं लग सकता। उनकी परस्पर तुलना करके केवल इतना कहा जा सकता है कि क्षय-रोग कहाँ अधिक और कहाँ कम होता है। यह तुलना भी विभिन्न भागो के अनुभवी और प्रतिष्ठित व्यक्तियो की सगृहीत स्वतत्र साक्षी के आधार पर की गई है। अधिक विश्वस्त सूचना मिलने पर सम्भव है कि जो कुछ इस समय कहा जाता है उसमे सशोधन करना पडे।

राजयक्ष्मा के इलाज मे जलवायु की निम्नलिखित बाते हितकर मानी जाती हैं। वायु-भार की कमी, पवनो का चलना, वायु की अक्लिन्नता, कोहरा की कमी, वर्षा की कमी, प्रकाश की अधिकता, तीव्र ताप तथा अधिक क्रियाशील किरणवाला प्रकाश और अधिक विकिरणशक्तिवाली शुद्ध वायु।

इस बात से साधारणत यह कहा जा सकता है कि क्षय-रोग का प्रसार भारतवर्ष के उन भागो मे कम होता है जहाँ वर्षा कम होती है, वायु

मे आर्द्रता कम होती है, वायु स्वच्छ तथा शुष्क होती है और जहाँ का औसत ताप-परिमाण अधिक होता है। राजपूताना, मध्यभारत, मध्यप्रान्त, दक्खिन तथा मैसोर के उच्च भूभागो (पठारो) मे भारत के अन्य भागो की अपेक्षा क्षय-रोग कम होता है। इसी श्रेणी मे बलुचिस्तान, पश्चिमोत्तर प्रान्त के पहाडी भाग, काश्मीर के ऊपरी भाग, चित्रल और गिलगित की घाटिया, छोटा नागपुर का पहाडी प्रदेश आसाम का मध्य तथा निम्न भाग, मैसोर की दक्षिण ओर मदरास प्रान्त का ऊर्द्ध भूभाग और कुर्ग आते है।

उक्त प्रदेशो मे क्षय-रोग के प्रसार की कमी का दूसरा प्रमाण यह है कि वहाँ के लोगो मे क्षय-ग्रहणशीलता अधिक होती है और जब वहाँ के लोग अधिक क्षयवाले अन्य स्थानो मे जाते हैं तो उनको क्षय-रोग अधिक होता है। यह बात उन परिवारों मे बराबर देखी जाती है जो दक्षिण को छोडकर कोंकण प्रदेश मे जा बसते हैं अथवा जो राँची या हजारीबाग को छोड़कर बगाल मे जा बसते हैं।

उपरोक्त भागों की अपेक्षा क्षय-रोग का प्रसार सिध की मरुभूमि, पञ्जाब का दक्षिण-पश्चिमी भाग, गोरखपुर के आसपास सयुक्तप्रान्त का उत्तर-पूर्वीय भाग और उससे लगा हुआ गगा से उत्तर बिहार का भाग, सम्पूर्ण उडीसा, मलाबार-तट तथा दक्षिणी पहाड़ियों को छोडकर सम्पूर्ण मद्रास प्रान्त मे अधिक होता है।

भारतवर्ष के अन्य शेष भागो मे क्षय-रोग बहुत फैला हुआ है। बडे बडे नगरों के अतिरिक्त देहात में भी क्षय-रोग बहुत होता है और क्षय-रोगियो के इलाज के लिए वहाँ का जलवायु कम अच्छा होता है। इन अधिक क्षय रोगवाले प्रदेशों के अन्तर्गत बगाल का डेल्टा, पूर्वीय और पश्चिमीय ब्रह्मावर्त्त प्रदेश, दक्षिण-पश्चिमीय कोने को छोडकर समस्त पञ्जाब, पश्चिमोत्तर प्रदेश की घाटियाँ, गुजरात, पश्चिमी समुद्र तट और विशेषकर मलाबार समुद्र-तट हैं।

हिमालय के कम आबाद उत्तरीय भाग मे क्षय-रोग बहुत कम होता है और उसकी गणना प्रथम श्रेणी मे है। नैपाल और भूटान की रियासतें दूसरी श्रेणी में आती हैं। हिमालय का दक्षिणी भाग, विशेषकर तराई प्रदेश अन्तिम श्रेणी मे आते हैं।

कुछ अन्तर होता है। अन्य देशो मे केवल युवावस्था मे पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे क्षय-रोग अधिक होता है। मध्यावस्था पार करने पर पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियो मे क्षय-रोग कम होने लगता है। परन्तु भारतवर्ष मे पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे क्षय-रोग हर आयु-काल मे अधिक होता है। इसका कारण इस देश मे प्रचलित निम्नलिखित सामाजिक कुरीतियाँ हैं।

भारतवर्ष मे कुछ ऐसी सामाजिक प्रथाएँ है, जिनके दूर करने के सम्बन्ध मे सम्भव है कि कुछ मतभेद और सकोच हो, परन्तु जिनकी कोई भी विचारशील पुरुष जो क्षय-रोग के प्रसार के कारणो का विवेचन करता है, उपेक्षा नही कर सकता। जब हम यह देखते है कि इस देश के अनेक नगरो मे पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे क्षय-रोग से मृत्यु दुगुनी होता हैं और कई स्थानो मे, विशेषकर पजाब मे, युवा पुरुषो की अपेक्षा युवा स्त्रियो की सख्या कम है, तो इस प्रश्न पर ध्यानपूर्वक और निष्पक्ष होकर विचार करने की आवश्यकता स्वय स्पष्ट हो जाती है।

इगलैंड मे क्षय-रोग के प्रसार सम्बन्धी कुछ बाते ऐसी हैं, जो भारत-वर्ष मे इस रोग के लिंग-भेदानुसार वितरण के सम्बन्ध मे बडे महत्व की हैं। गत साठ वर्षो मे इगलैंड मे क्षय रोग की मरण-निष्पत्ति लगभग आधी हो गई है। इस कमी के अनेक कारण कहे जाते हैं, परन्तु इसमे सन्देह नही कि उनमे से अधिकाश सामाजिक सुधार के घेरे मे आ जाते हैं।

इस प्रसग मे जो विशेषरूप से ध्यान देने योग्य बात है, वह यह है कि क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति की यह कमी पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे कही अधिक हुई है और यह असमानता केवल बचपन में ही नही, किन्तु हर आयु-काल मे, विशेषकर प्रौढावस्था मे देख पडती है।

स्त्रियो और पुरुषों मे मरण निष्पत्ति की कमी के इस अतर का मुख्य कारण यह है कि इस निर्दिष्ट काल मे विलायत की स्त्रियो की रहन-सहन और रीति-रिवाजो मे बहुत बडा परिवर्तन होगया है। इस काल से पूर्व इङ्गलैंड में अपने ढग की पर्दा-प्रथा प्रचलित थी जो अब छोड दी गई है और फलत जिसका पुरस्कार अब मिल रहा है। पूर्वकाल मे स्त्रियाँ वहाँ बन्द कमरों मे रहती थीं, सीने-पिरोने को छोडकर अन्य कामो को अपमानजनक समझती थी और खुली वायु में टहलने के लिए या व्यायाम के लिए बाहर निकलना अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझती थी। ये सब बाते अब त्याग दी गई हैं,

फलत इङ्गलैड की स्त्री-जाति का स्वास्थ्य इस परिवर्तन के कारण अब कहीं उन्नत होगया है।

कारण कुछ भी हो, वास्तविक बात यह है कि इङ्गलैड में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में क्षय रोग से मृत्यु अधिक होती हैं। अमेरिका में भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग में मृत्यु कम होती हैं।

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि इङ्गलैड में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग कम होता है, अब हमको भारत की स्त्रियों और पुरुषों में क्षय-रोग के प्रसार पर दृष्टि डालनी चाहिये। निम्नलिखित आँकड़े केवल उदाहरणमात्र हैं। उत्तर भारत के चाहे किसी नगर में देखा जाय, एक ही दशा मिलेगी।

कलकत्ते में सन् १९१३ में स्त्रियों में क्षय-रोग से ४५ प्रतिशत मृत्यु हुई थीं, यद्यपि कुल जनसख्या में पुरुषों के अनुपात में उनकी सख्या केवल ३३ प्रतिशत थी। स्त्रियों में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति ३ ३ और पुरुषों में २ ० प्रतिसहस्र थी। मुसलमान स्त्रियों में ५ ८ और हिन्दू स्त्रियों में ३ ० प्रतिसहस्र थी। सन् १९२७ में मुसलमान स्त्रियों में ३ ६, हिन्दुओं में २ ७ और ऐंग्लोइण्डियनों में १ ८ प्रतिसहस्र थी।

लाहौर में सन् १९१३ का क्षय-रोगनिजत मृत्यु का व्योरा इस प्रकार है—

	मुसलमान		हिन्दू		अन्य जातियाँ	
	पुरुष	स्त्रियाँ	पुरुष	स्त्रियाँ	पुरुष	स्त्रियाँ
क्षय-रोग से मृत्यु	१५०	२९९	५९	८६	१५	२१

पुरुष २२४ } =६३०
स्त्रियाँ ४०६ }

बम्बई प्रान्त के उत्तरी भाग के तीन नगरों में सन् १९१०—१६ में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्तियाँ इस प्रकार थीं —

किसी भाग मे ४८२ तक है। पर्दा-प्रथा पर इससे अधिक भयङ्कर अभियोग और क्या हो सकता है? भारतवर्ष की स्त्रियाँ पर्दा-प्रथा से, जिसके कारण अनेक स्त्रियों की अकालमृत्यु होती है छुटकारा पाने की निस्सन्देह अधिकारिणी हैं। शहर के अनेक मुहल्लों मे मकानों की दशा बहुत खराब होती है, इसलिए जिन लोगों को उनमे दिन-रात रहना पड़ता है, उनको रोग अधिक होता है। पुरुषों मे, जो दिन मे घर से बाहर रहते हैं, रोग कम होता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि पर्दे के विचार से मकान का जनाना भाग ऐसा बनवाया जाता है जहाँ सूर्य का प्रकाश और वायु पहुँच नही पाते।

जब हम यह देखते हैं कि इगलैंड और अमेरिका मे जहाँ पर्दा-प्रथा नही हैं, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों मे क्षय-रोग कम होता है, और भारतवर्ष के उन प्रान्तों मे, जहाँ हिन्दुओं मे पर्दा नही होता और मुसलमानों मे होता है, हिन्दुओं मे स्त्री और पुरुषों मे क्षय-रोग से मृत्यु लगभग बराबर होती है और मुसलमानों मे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों मे करीब क़रीब दूनी, तो इसमे कोई सन्देह नही रह जाता कि पर्दा प्रथा स्त्रियों मे क्षय रोग फैलने का एक प्रमुख कारण है।

पर्दे से क्षय-रोग किसप्रकार फैलता है? मनुष्य के स्वस्थ शरीर मे रोग रोकने की कुछ स्वाभाविक शक्ति होती है। जब क्षय कीटाणुओं की सख्या कम होती है, तो उनके नष्ट करने मे शरीर सफल हो जाता है, परन्तु जब कीटाणु अधिक होते हैं या उनसे सम्पर्क अधिक समय तक होता है अथवा शरीर की शक्ति कम हो जाती है तो क्षय-रोग हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य यह जानता है कि स्वच्छ वायु और व्यायाम से शरीर के पुट्ठे पुष्ट होते हैं। दूसरी ओर बन्द मकान मे बैठे रहने से शरीर निर्बल हो जाता है। शरीर की रोगनाशक शक्ति के लिए स्वच्छ वायु का मिलना आवश्यक है। रात में बन्द कमरों मे रहने से जो हानि होती है, वह दिन मे बाहर रहने से और स्वच्छ वायु के मिलने से बहुत कुछ दूर हो जाती है, परन्तु जब दिन रात बन्द मकान मे रहना पड़ता है तो शरीर शिथिल होकर रोग का शिकार बन जाता है। ठीक यही दशा उस युवती की होती है, जो अपना बाल्यकाल खुली हवा मे बिताती है और विवाह के बाद एकदम पर्दे के अन्दर कर दी जाती है।

इस प्रथा के बनाये रखने का जो मूल्य देश को देना पडता है, उसका अनुमान विचारशील लोगो को उपरोक्त आँकडो से हो सकता है। इस प्रथा के विषय मे विवेचन करते समय उसके स्वास्थ्यसम्बधी पहलू का भी स्मरण रखना चाहिए। इस प्रथा का दूर करना अन्य कारणो से उचित समझा जाय या नही, कम से कम यह अवश्य जान लेना चाहिए कि स्त्रियो को भोजन-वस्त्रादि देने के अतिरिक्त उनके लिए स्वच्छ वायु का प्रबध करने का बडा भारी उत्तरदायित्व पुरुषो पर है।

इस प्रसग को छोडने से पूर्व एक और बात की ओर लोगो का ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है। अनेक मुसलमान परिवारो मे यह देखा गया है कि कई स्त्रियाँ एक ही बुर्के को प्रयोग मे लाती हैं। ऐसी दशा मे यह सम्भव है कि जिस बुर्के को एक क्षयी स्त्री ओढती हो, उसीको अन्य स्त्रियाँ भी ओढती हो, इससे बडी हानि होती है।

बाल-विवाह—पर्दा प्रथा के बाद स्त्रीजाति के लिए दूसरी हानिकारक प्रथा बाल-विवाह है। देश के उन भागो मे जहाँ पर्दा-प्रथा प्रचलित नही है, स्त्रियो मे क्षय-रोग के अधिक प्रसार का प्रमुख कारण बाल विवाह है। परन्तु इस सम्बन्ध मे या पर्दा-प्रथा के सम्बन्ध मे यह नहीं कहा जा सकता कि ये सामाजिक कुप्रथाएँ क्षय रोग का प्रत्यक्ष कारण होती हैं। इस रोग का प्रत्यक्ष कारण तो मनुष्यशरीर पर क्षय-कीटाणुओ का आक्रमण होता है, परन्तु जब बुरी आदतो और घरो की बुरी दशाओ के कारण क्षय-कीटाणु सर्वत्र पहले से विद्यमान होते हैं तो प्रत्येक सामाजिक कुप्रथा, जो ऐसे दूषित घरो मे रहनेवालो के स्वास्थ्य के लिए अहितकर होती है, क्षय-रोग के उत्पन्न करने मे परोक्ष कारण बन जाती है।

नव विवाहिता युवती के जीवन में विवाह के पश्चात् का प्रथम वर्ष बडा कठिन होता है। बाल्यावस्था के खेल कूद को छोडकर और अपने घर तथा माता-पिता से पृथक् होकर उसको बिलकुल अपरिचित और नये वातावरण मे प्रवेश करना पडता है। इस स्थान के सम्बन्धियो से न उसे घर का ऐसा स्नेह मिलता है, न सहानुभूति। इन बातो का प्रभाव प्राय नववधू के स्वास्थ्य पर बडा भयकर होता है।

मानसिक अवसाद ही बालविवाह का एकमात्र दुखद परिणाम नहीं होता। इससे कही अधिक भयकर परिणाम तो यह होता है कि शरीर पर

अपक्व अवस्था मे दाम्पत्य का भार पडता है जिसके लिए वह तैयार नहीं होता। विषय की अधिकता के दुखद परिणाम और तज्जनित मानसिक और शारीरिक दुर्बलता से, जिसका निवारण बडा कठिन हो जाता है, सब लोग भलीभाँति परिचित हैं। कुछ लोग केवल पर-स्त्री-गमन को ही बुरा समझते हैं। उनको यह स्मरण नही रहता कि नवविवाहित युवक और विशेषकर पुर्नविवाहित पुरुष के अति विषय का १३-१४ वर्ष की सुकुमार युवती के स्वास्थ्य पर कितना भयावह प्रभाव पडता है।

यद्यपि नववधू के स्वास्थ्य पर भार डालनेवाले उपरोक्त कारण स्वय यथेष्ट मात्रा मे भयकर होते हैं, परन्तु भावी गर्भाधान के भार की तुलना मे वे कुछ भी नही होते। यह स्वय सिद्ध है कि गर्भाधानसम्बन्धी प्रक्रियाएँ अनुकूलतम परिस्थिति मे होनी चाहिए।

जब तक केवल जननेन्द्रिय का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण शरीर का पूर्णरूप से विकास होकर वह गर्भाधान के लिए तैयार न हो जाय, तब तक गर्भाधान की प्रक्रिया कदापि नही होनी चाहिए, क्योंकि जीवन मे और किसी बात का अन्तिम परिणाम शरीर के स्वास्थ्य पर इतना निर्भर नहीं होता जितना गर्भाधान का। इस सम्बन्ध मे हमको न केवल गर्भाधान और प्रसवकाल का ही विचार करना है, बल्कि नवजात शिशु के जन्म लेने के बाद उसके भरण-पोषण का जो भार प्रसूता पर पडता है, उसका भी ध्यान रखना है। इतना होने पर भी हम देखते हैं कि रूढि की ही विजय होती है और उसीके वशीभूत होकर जान-बूझकर इतना भार एक सुकुमारी पर उस समय डाला जाता है, जब कि उसको सहन करने के लिए वह कदापि तैयार नहीं होती।

प्रसव का प्रबन्ध—भारतवर्ष में जिस परिस्थिति मे बच्चो का जन्म होता है उसका वर्णन प्रत्येक स्वास्थ्य विभाग की रिपोर्ट में मिल सकता है। वर्तमान दुर्दशा को दूर करने की प्रेरणा से ही "माता और शिशु कल्याण" (Maternity and child-welfare) सम्बन्धी अनेक सस्थाए खोली गई हैं। यद्यपि इस विषय का क्षय-रोग के प्रसार से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता, फिर भी जाँच करने से यह विदित होता है कि यह क्षय-रोग का एक परोक्ष कारण अवश्य है। यह देखा गया है कि स्त्रियो में क्षय प्रसवकाल मे आरम्भ होता है।

प्रसवसम्बन्धी वर्तमान दुर्दशा के मूल मे प्रधानत दो प्रकार के विचार होते हैं—(१) लोगों का यह विश्वास कि प्रसवकाल मे स्त्रियाँ अस्वच्छ और अस्पृश्य होती हैं और (२) यह विश्वास कि खुली वायु प्रसूता और नवजात शिशु दोनो को हानिकारक होती है।

इस विश्वास के कारण कि प्रसवकाल मे स्त्री अस्वच्छ होती है, इस देश मे साधारणत प्रसव के लिए बहुत गन्दा स्थान चुना जाता है और प्रसूता को जो वस्त्रादि दिये जाते हैं वे बहुत मैले-कुचैले होते हैं। जो दाई इस काम के लिए नियुक्त की जाती हैं, वे नीच जाति की और अस्वच्छ होती हैं और उनके कपडे बहुत मैले-कुचैले होते हैं।

दूसरे विश्वास का क्षय-रोग से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। लोगो मे यह विश्वास व्यापक रूप मे फैला हुआ है कि सर्दी और हवा लग जाने से प्रसूता को ज्वर होता है। इसका परिणाम यह होता है कि सूतिका गृह मे हवा न जाने देने का विशेष प्रबन्ध किया जाता है और उस गृह मे जो कुछ वायु होती है, वह भी निरतर आग जलाकर दूषित कर दी जाती है।

प्रसूता स्त्री को इस दूषित वायुमण्डल मे कम से कम दस या बारह दिन रहना पडता है और वह भी उस दशा मे जब कि उसका स्वास्थ्य अत्यन्त दुर्बल और प्रतिरोधशक्ति न्यूनतम होती है। इसलिए वहाँ उन दोनो बातो का सयोग होजाता है जो क्षयोत्पत्ति की कारण समझी जाती हैं, अर्थात् एक तो कीटाणुओं की अधिकता और दूसरा शरीर की प्रतिरोधशक्ति की कमी। ऐसी दशा मे यदि अधिकाश युवतियो मे प्रसवकाल के अनन्तर क्षय-रोग का प्रारम्भ पाया जाता है तो कोई आश्चर्य की बात नही।

चिकित्सा-शास्त्र की यह एक साधारण बात है कि क्षय-रोग मे गर्भाधान और प्रसव बडे कठिन उपद्रव होते हैं, जिनके कारण प्राय रोग अधिक तीव्र और विषम हो जाता है। इसके ऊपर यदि वातावरण भी दूषित हो, जैसा ऊपर बताया गया है तो कोई आश्चर्य नही कि क्षय रोग और भी अधिक मात्रा मे हो जाय।

कुप्रथाओं का भयङ्कर परिणाम—इन सामाजिक कुरीतियों का वही परिणाम होता है जो होना चाहिए। यदि देश मे पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों मे क्षय-रोग मे मृत्यु दुगुनी मिले, और स्त्रियो मे केवल युवावस्था मे सब

रोगों से जितनी मृत्यु होती हैं उनमें से ४२ प्रतिशत, जैसा कि चित्र नं० १८ से विदित होता है, केवल क्षय रोग से हो तो कोई आश्चर्य नहीं ।

देश को इन सामाजिक बुराइयों का जो मूल्य देना पड़ता है उसका अनुमान निम्नलिखित अङ्क-विवरण से, जो कलकत्ता-म्युनिसिपैलिटी के हेल्थ आफिसर महोदय की कृपा से प्राप्त हुआ है, किया जा सकता है ।

कलकत्ता शहर की स्त्रियों और पुरुषों में आयु के अनुसार क्षय-रोग की मरणनिष्पत्ति का वितरण —

आयुकाल	क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति	
	पुरुष	स्त्रियाँ
१०—१५ वर्ष	८९ प्रतिसहस्त्र	१९ प्रतिसहस्त्र
१५—२० ,,	१८ ,,	५४ ,,
२०—३० ,,	५० ,,	६७ ,,
३०—४० ,,	२४ ,	६७ ,,
सब आयुकाल मिलाकर	२२ ,	४३ ,,

दस से बीस वर्ष तक के आयुकाल मे लड़कों में क्षय-रोग से यदि एक मृत्यु होती है, तो लड़कियों मे तीन । २० और ३० वर्ष के आयुकाल में पुरुषों में क्षय-रोग से जितनी मृत्यु होती हैं उनकी तिगुनी स्त्रियों में होती हैं । वास्तव में यह कितनी भयंकर दशा है, इसको विचारशील पाठक स्वयं सोच सकते हैं ।

क्या भारतवर्ष में क्षय-रोग बढ़ रहा है ?—अधिकतर लोगों का विचार है कि पिछले कई वर्षों से भारतवर्ष में क्षय-रोग बढ़ती पर है । यह वृद्धि वास्तविक वृद्धि है या केवल जाहिरा, इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद है । एक ओर यह विश्वास किया जाता है कि पिछले २५-३० वर्षों में क्षय-रोग में बहुत वृद्धि हुई है और अब भी इस गति से हो रही है कि विचारशील पुरुषों के लिए इसके रोकने के उपायों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक हो गया है। दूसरी ओर यह कहा जाता है कि क्षय-रोग में जो वृद्धि दिखाई पड़ती है वह आँकड़ों से प्रमाणित नहीं होती । और इस जाहिरा वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि पहले की अपेक्षा आजकल क्षय-रोग की जाँच-पड़ताल अधिक होती है, और उसके लेखा रखने की विधि में उन्नति होगई

है। इन लोगो का कहना है कि भारतवर्ष मे सदा से क्षय-रोग की प्रचुरता रही है, परन्तु कुछ दिनों से इस विषय मे छानबीन अधिक होने लगी है और इसकी गम्भीरता पर ध्यान दिया जाने लगा है।

सावधानी से खोज करने पर यह विदित होता है दोनों ही मत अशत. ठीक हैं। इसमें कोई सन्देह नही कि पहले की अपेक्षा आजकल क्षय-रोग की सफल परीक्षा अधिक होती है और इस विषय की ओर अब अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। परन्तु यह भी निश्चित है कि गत कई वर्षो से क्षय-रोग मे इतनी वृद्धि हुई है कि उसकी सचाई पर अब कोई सन्देह नही किया जा सकता।

खेद है, इस विषय मे क्षय-रोग के आँकडो से कोई सहायता नही मिल सकती, क्योंकि भारतवर्ष मे मृत्यु की रिपोर्ट करने का काम प्राय चौकीदार इत्यादि अशिक्षित मनुष्यों पर निर्भर है। इसलिए इस विषय मे क्षय-रोग के आँकडो को छोडकर अन्यप्रकार की साक्षी का सहारा लेना पडता है।

इसमे कोई सन्देह नही कि भारतवर्ष मे क्षय कोई नवीन रोग नही है। आयुर्वेदिक ग्रन्थों मे इसका वर्णन वार वार पाया जाता है और इसके लक्षण तथा चिकित्सा का विस्तृत वर्णन भी मिलता है। सन् १८२९ ई० मे डा० कॉन्वेल ने लिखा था कि लोगो का यह भ्रम है कि भारतवर्ष मे क्षय-रोग कम होता है। जब वह भारतवर्ष मे आये थे तो पहले उनका भी यही विचार था, परन्तु कुछ समय के बाद जब उनके अनुभव क्षेत्र और परीक्षासाधनो मे वृद्धि हुई तब उनको ज्ञात हुआ कि उनका विचार मिथ्या था।

यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि रोग के लेखा रखने की विधि और परीक्षासाधनों में उन्नति होने के कारण क्षय-रोग अधिक सख्या मे प्रकट होने लगा है तो क्या यही समझकर सन्तोष कर लेना उचित होगा कि यह बुराई बढ नहीं रही है, पर जितनी पहले थी उतनी ही अब है, अन्तर केवल यह है कि पहले की अपेक्षा अब हमारी बुराई की जानकारी अधिक होने लगी है। परन्तु क्षय-रोग के आँकडो के अतिरिक्त अन्यप्रकार की साक्षी इतनी पर्याप्त है कि यह भलाभाँति सिद्ध होता है कि क्षय-रोग मे वृद्धि हो रही है और जिन स्थानों में पहले क्षय-रोग नहीं होता था वहाँ अब होने लगा है, विशेषकर देहातों में इसका प्रसार दिन दिन बढता जा रहा है।

अन्य देशों की भॉति भारतवर्ष मे भी भिन्न-भिन्न स्थानो मे, क्षय-रोग के प्रसार मे बहुत अन्तर पाया जाता है। अब भी कुछ ऐसे विच्छिन्न स्थान हैं, जहॉ पर अभी तक क्षय-रोग नही पहुॅचा है। कुछ स्थान ऐसे हैं, जहॉ पहले क्षय-रोग नही होता था, परन्तु अब लोगो के देखते देखते वहॉ भी क्षय-रोग फैल गया है।

पश्चिमोत्तर सीमान्तप्रदेश की गिलगित और चित्राल घाटियों के फौजी डाक्टरो से यह ज्ञात हुआ है कि पहले वहॉ के निवासियो मे क्षय-रोग नही होता था, परन्तु अब होने लगा है।

काश्मीर मिशन के प्रसिद्ध डॉक्टर आर्थर नीव का, जो लगातार ३८ वर्ष तक उक्त देश मे रहे, कथन है कि जब वे पहले पहल वहॉ गये थे तो क्षय-रोग बहुत कम पाया जाता था। परन्तु गत कई वर्षो से काश्मीर राज्य मे क्षय-रोग मृत्यु का एक मुख्य कारण बन गया है। इस कथन का समर्थन वहॉ के मिशन अस्पताल के ऑकडो से भी होता है।

पश्चिमोत्तर सीमान्तप्रदेश की खैबर घाटी के भूतपूर्व असिस्टेंट पोलिटिकल आफिसर सर साहबजादा अब्दुलकयूम, जिन्होने लगभग अपना पूरा जीवन अफ्रीदी पठानो मे विताया है, का मत है कि लगभग ५० वर्ष पूर्व पठानो मे क्षय-रोग बहुत कम होता था। परन्तु आजकल सीमानप्रदेश के गॉवो मे क्षय-रोग एक चिन्ताजनक प्रश्न होगया है। उनका निश्चित मत है कि पेशावर नगर, तथा जिले मे क्षय-रोग बढ रहा है। डा० आर्थर लैकेस्टर अपने पेशावर जिले के १७ वर्ष के अनुभव से इस मत का समर्थन करते है।

रेवरेंड डा० डीस, एम० डी० ने कमायूँ के ग्रामो मे अपने जीवन के ३४ वर्ष व्यतीत किये थे। उनका कथन है कि उनके समय मे कमायूँ के देहात मे क्षय-रोग नही होता था। वहॉ के बहुत से ईसाई लडके पढने के लिए बरेली भेजे जाते थे जिनमे से कितने ही को वहॉ पर क्षय-रोग हो जाता था। ये लडके बीमार होकर अपने घर लौट आते थे। इसप्रकार बहुत से ग्रामो मे जहॉ पहले क्षय-रोग नही होता था, अब खब होने लगा है।

अल्मोडा-निवासी मेरे एक मित्र का कथन है कि उनकी युवावस्था मे वहॉ पर क्षय-रोग बहुत कम होता था, परन्तु जब से वहॉ का जलवायु क्षय रोग के लिए लाभदायक प्रसिद्ध हुआ और वहॉ पर स्वास्थ्यशालाएँ

खुलीं, तब से वहाँ क्षय-रोग फैल गया है। आजकल क्षय-रोग वहाँ की एक जटिल समस्या बन गई है।

अवध के सुल्तानपुर जिले में बीसियों वर्ष से मिशन की ओर से लड़कियों का एक स्कूल था। गत दस वर्ष से उस स्कूल की छात्राओं में क्षय रोग की ऐसी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई कि पिछले साल स्कूल बन्द कर देना पड़ा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे रेवरेंड डाक्टर कैनेडी छोटा नागपुर मे आए थे। वहा पर क्षय-रोग की कमी देखकर उनको आश्चर्य होता था, क्योंकि वे स्वय आयर्लैंड देश से आए थे, जहाँ क्षय-रोग अधिकता मे होता था। उनके देखते देखते हजारीबाग और पड़ोस के जिलो मे क्षय-रोग उस समय से फैल गया, जब से वहाँ का जलवायु रोग के इलाज मे लाभदायक समझा जाने लगा। उत्तम जलवायु के कारण कलकत्ता तथा बङ्गाल के अन्य स्थानो मे क्षयरोगी वहाँ आकर टिकने लगे, और फलस्वरूप सब देहातो मे क्षय सक्रमण फैल गया। उनके देखते देखते छोटा नागपुर के आदि निवासियों मे भी क्षय रोग फैल गया। इसका कारण यह था कि वहाँ के आदमी कलकत्ता इत्यादि नगरों मे काम करने के लिए जाते और बीमार होकर लौटते थे।

उपरोक्त विवरण से प्रकट होता है कि बड़े बड़े शहरों मे क्षय-रोग के आँकड़ों में विशेष बढ़ती न दिखाई पड़ने का मुख्य कारण क्या है। बड़े नगरो की जनसख्या का काफी बड़ा भाग देहात से काम करने के लिए आए हुए लोगो का होता है। बीमार होने पर ये लोग अपने घर लौट जाते हैं। कलकत्ता, लाहौर, बम्बई आदि बड़े नगरो से इस बात की पर्याप्त साक्षी मिलती है।

चाहे वातावरण परिवर्तन मे हो अथवा शहरवालो की अपेक्षा देहातवालों मे क्षय-प्रवणशीलता अधिक होने के कारण हो, यह निरन्तर देखा जाता है कि देहात से आये हुये इन लोगो मे नगर-निवासियो की अपेक्षा क्षय-रोग कहीं अधिक होता है।

छोटा नागपुर की भाँति दक्षिण और मध्यभारत मे भी यही देखा गया है कि वहाँ के नवयुवकों को काम करने अथवा अध्ययन के हेतु बम्बई जाने मे क्षय-रोग का निश्चित भय रहता है।

वर्ष	क्षय-रोग मे मृत्यु की प्रतिशत सख्या
१९२०	२ ५
१९२१	२ १७
१९२२	२ ८
१९२३	९ ८३
१९२४	१८ ००
१९२५	१८·१९
१९२६	१५ ००
१९२७	१४ ८

ओरियटल लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी के सन १९१७ तक के ऑकडो से विदित होता है कि इस काल मे प्रतिशत ६ ९२ मृत्यु क्षय-रोग के कारण हुई थी ।

वर्ष	कुल मृत्यु-सख्या	क्षय-रोग से मृत्यु-सख्या	क्षय-रोग मे मृत्यु की प्रतिशत सख्या
१९१४	६३८	५४	८ ४
१९१५	६५१	४३	६ ६
१९१६	६२४	४२	६ ७
१९१७	६३४	३७	५ ८

परन्तु सन १९२७ स १९२९ तक के निम्नलिखित ऑकडो से विदित होता है कि इन तीन वर्षों मे क्षय-रोग से मृत्यु की सख्या बढकर प्रतिशत ९ हो गई ।

वर्ष	कुल मृत्यु-सख्या	क्षय-रोग से मृत्यु-सख्या	क्षय-रोग से मृत्यु की प्रतिशत सख्या
१९२७	१११२	१०८	९ ७१
१९२८	११७३	१०५	८ ९५
१९२९	१२५३	११०	८ ७७

उपरोक्त ऑकडो से स्पष्ट हो जाता है कि सन १९१४—१७ की अपेक्षा सन् १९२७—२९ मे क्षय-रोग का प्रसार अधिक था ।

बम्बई शहर के आँकडे भी हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचाते हैं —

वर्ष	कुल मृत्यु संख्या	क्षय-रोग से मृत्यु-संख्या	क्षय-मृत्यु की प्रतिशत संख्या
१९२१	५३६०९	१६१४	३ ०१
१९२२	३७२९७	१४७३	३ ९५
१९२३	३७९५९	१३७१	३ ६१
१९२४	३८७७४	१५६८	४ ०४
१९२५	३१९६८	१४०४	४ ३९
१९२६	३१९९१	१७५५	५ ४८
१९२७	२७६३३	१७४८	६ ३२
१९२८	२७३१२	१७६४	६ ४६
१९२९	२६५५५	१५२०	५ ७२

यदि अन्य स्थानों में इसप्रकार की जाँच की जाय तो यही दशा मिलेगी।

थोडे दिन हुए भारत सरकार ने डा० आर्थर लैंकेस्टर को भारतवर्ष में क्षय-रोग की जाँच करने के लिए नियुक्त किया था। जाँच करने पर वे जिस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं वह नीचे दिया जाता है —

"इस विषय की ध्यानपूर्वक जाच करने से और उपलब्ध आँकडों की छानबीन तथा तुलना से जो धारणा उत्पन्न होती है उसका भी यही निष्कर्ष निकलता है कि भारतवर्ष के बहुत से विस्तृत प्रदेश, जो ४० वर्ष पहले क्षय-रोग से बिलकुल बचे हुए थे, और 'अकृष्ट भूमि' समझे जाते थे अब बहुधा इस रोग से ग्रसित और संक्रामित हो चुके हैं। यद्यपि यह क्षय रोग कई पुश्तों से—सम्भवत सदियों से—इस देश में एक आम बीमारी रही है, जो केवल बडे बडे शहरों में ही सीमाबद्ध रही है, फिर भी यह कहना पडेगा कि इन्हीं शहरों में पिछले ४० वर्ष में इस रोग का बडा भारी और वास्तविक विस्तार होगया है। यहाँ तक कि ग्रामों और जिलों में तथा छोटे कस्बों में जहा यह विरला ही दिखाई पडता था, अथवा इसका अस्तित्व ही नहीं था, इन्हीं ४० वर्षों में इसके दर्शन ही नहीं हुए बल्कि जोरों से प्रसार भी हो

रोगसम्बन्धी अनेक प्रश्नों में से केवल एक का उत्तर—है। इसलिए कुछ वर्षों से क्षयोत्पत्तिसम्बन्धी प्रश्नों पर प्रकाश डालने के लिए विचारशील लोगों का ध्यान कीटाणु-विज्ञान को छोड़कर रोगोत्पत्तिसम्बन्धी अन्य आभ्यन्तरिक और बाह्य बातों की ओर आकृष्ट हुआ है। वंशपरम्परा और वातावरण, रोगग्रहणशीलता, प्रवणशीलता तथा रोगक्षमतासम्बन्धी प्रश्नों का नए ढंग से गवेषणात्मक अध्ययन किया गया है। इस रहस्य पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है कि क्या कारण है कि जिन लोगों में क्षय-संक्रमण होता है, उनमें से कुछ को तो रोग हो जाता है और अधिकांश निरोग बने रहते हैं, क्षयी-परिवारों तथा क्षयी माता-पिता की सन्तान में से किसी को रोग हो जाता है और किसी को नहीं, और जिनको रोग हो जाता है, उनमें से किसी को उग्रव्यापी, किसी को उग्र फुफ्फुसप्रदाहरूपी, किसी को फुफ्फुस का पुरातन प्रदाहरूपी और किसी को निष्फल (Abortive) क्षय होता है। क्या कारण है कि रोग किसी के फेफड़ों में होता है, तो किसी के उदर में, किसी की हड्डी या सन्धि में होता है तो किसी की लसिका ग्रन्थियों तथा अन्य स्थानों में। यह समझने की चेष्टा की जा रही है कि क्या कारण है जो संक्रामित मनुष्यों में से केवल कुछ में रोग के लक्षण प्रकट होते हैं और अधिकांश में, जिनके शरीर में क्षय-कीटाणु निस्सन्देह प्रविष्ट हो जाते हैं और उनमें शरीर में विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं, कोई लक्षण व्यक्त नहीं होते और विकार स्वतः अच्छे हो जाते हैं।

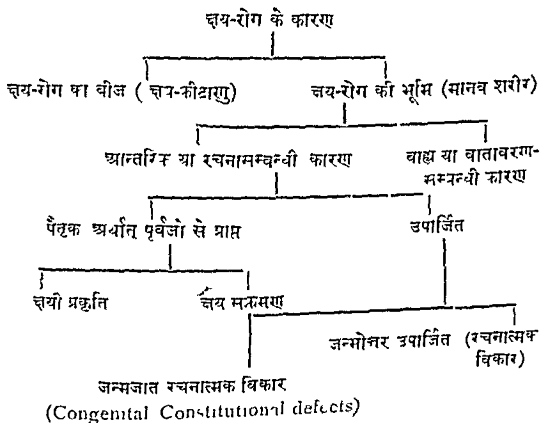
कीटाणुवाद के पक्षपाती क्षयोत्पत्तिसम्बन्धी उपरोक्त प्रश्नों के अनेक उत्तर देते हैं, परन्तु उनमें से कोई भी सन्तोषप्रद नहीं है। किसी किसी का मत है कि रोग के विभिन्न रूप-भेदों का कारण कीटाणुओं का जाति-भेद और उनके विषैलेपन का अन्तर होता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि यह बतलाया जा चुका है कि युवावस्था के लगभग सभी प्रकार के क्षय मानव क्षय-कीटाणुओं से होते हैं। यह भी लोग मानने लगे हैं कि विभिन्न प्रकार के क्षय रोग के कीटाणुओं को अलग अलग करके उनके विषैलेपन के अन्तर के सम्बन्ध में जो जाँच हुई है उनमें इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। गिनीपिग, बन्दर और असभ्य जातियों के लोगों में संक्रमण के सम्पर्क में आने से जो रोग उत्पन्न होता है, वह सदा उग्ररूप का होता है। इसके विपरीत सभ्य जातियों के मनुष्यों में स्वतः संक्रमण होकर जो रोग होता है वह बहुधा पुरातनरूप का होता है।

चूँकि कीटाणु विज्ञान क्षय-रोग के उत्पत्ति-सम्बन्धी सब प्रश्नों के हल करने में असमर्थ है, इसलिए अब कुछ दिनों से कीटाणुओं को छोड़कर रोगोत्पत्तिसम्बन्धी अन्य कारणों पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। इसमें अनेक कारण ज्ञात हुए हैं जिनका क्षय रोग के विकास (Evolution of Disease) पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इन सब कारणों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) आन्तरिक या रचनात्मक कारण, अर्थात् वे कारण जिनका शरीर की रचना से सम्बन्ध होता है, (२) बाह्य या वातावरणिक कारण—अर्थात् वे कारण जो बाहर से शरीर पर अपना प्रभाव डालते हैं।

आन्तरिक या रचनासम्बन्धी कारण (Constitutional causes) दो प्रकार के होते हैं—(१) पैतृक (Hereditary) जिनको मनुष्य अपने पूर्वजों से प्राप्त करता है, (२) उपार्जित, जिनमें से कुछ तो शरीर के साथ उत्पन्न होते हैं और कुछ जन्म के बाद उपार्जित होते हैं।

क्षय रोग के कारणों का एक बोधक वृक्ष नीचे दिया जाता है—

क्षय-रोग के कारणों का बोधक वृक्ष



क्षयोत्पत्ति के रचनात्मक कारण

क्षयोत्पादन में पैतृकता का प्रभाव—क्षय-रोग के पैतृक मानने में दो बातें सम्भव हो सकती हैं। एक यह कि क्षय-रोग या संक्रमण पैतृक होता है, अर्थात् गर्भाधान के समय क्षय-कीटाणु माता-पिता से गर्भ में पहुँच जाते हैं और उस संक्रामित गर्भ से जो सन्तान उत्पन्न होती है उसमें उनसे क्षय-रोग हो जाता है। दूसरा यह कि एक विशेष प्रकार की क्षयी प्रकृति (Tuberculous diathesis) होती है जिसके कारण मनुष्य आसानी से क्षय-रोग का शिकार बन जाता है और वह प्रकृति माता-पिता से सन्तान को प्राप्त होती है। इस क्षयी प्रकृति के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) क्षय-ग्रहणशीलता अर्थात् रोग की ओर झुकाव अथवा (२) प्रतिरोधशक्ति की कमी।

इस विषय में किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए तीन प्रकार की साक्षी विचारणीय है—(१) पैतृकता के प्रभाव-सम्बन्धी आँकड़े, (२) जीवशास्त्र के मतानुसार प्राप्त प्रमाण और (३) कायचिकित्सा के अनुभव से प्राप्त प्रमाण।

आँकड़ों का अध्ययन—कई शताब्दियों से यह देखा जा रहा है कि अनेक परिवारों में क्षय-रोग पीढ़ी दर पीढ़ी होता चला जाता है, और क्षय-रोगियों के अनेक पूर्वजों तथा निकट सम्बन्धियों में भी रोग का होना पाया जाता है। इस बात के आँकड़े चिकित्सा-साहित्य में भरे पड़े हैं, परन्तु सावधानी से उनकी जाँच करने पर यह प्रकट होता है कि क्षय-रोग या क्षयी प्रकृति का वंशपरम्परागत होना या न होना सिद्ध करने में उनका कोई मूल्य नहीं है।

क्षयी-परिवारों में रोगियों के सन्निकट सम्पर्क के कारण अन्य परिवारों की अपेक्षा संक्रमण होने की अधिक सम्भावना होती है जिससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त जब हम यह देखते हैं कि क्षय-रोग विश्वव्यापी है और प्रत्येक सात या आठ मृत्युओं में से कम से कम एक इसके कारण होती है, तो क्षय-रोग का लगभग हर एक परिवार में पाया जाना स्वाभाविक है, और अधिकांश रोगियों के सम्बन्धियों में से यदि कोई न कोई क्षय-रोगी हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके अलावा एक बात यह और है

कि क्षय-रोग में पैतृकता के प्रभाव-सम्बन्धी उपलब्ध आँकड़े केवल रोगियों के कथनों से संकलित किये गये हैं, इसलिए उनको बिलकुल निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब रोगी अपना हाल ठीक ठीक नहीं बता सकते, तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि वे अपने पूर्वजों का हाल ठीक ठीक बता सकेंगे।

क्षय-रोग या क्षयी प्रकृति (Tuberculous diathesis) के पैतृक होने मे आँकड़ो का प्रमाण तभी सतोषजनक माना जा सकता है, जब कि बहुत से रोगियों का ध्यानपूर्वक लगातार कई पीढियो तक इस बात का लेखा रक्खा जाय कि क्षयी माता पिताओं के कितने बच्चे क्षय-रोग से मरते हैं, और वह भी उस दशा मे, जब कि जन्म होते ही उनको अपने क्षयी माता-पिताओं से पृथक् कर दिया जाय, ताकि उनके अनिष्ट सम्पर्क से संक्रमण होने की अन्य परिवारों की अपेक्षा अधिक सम्भावना न रहे। इसप्रकार के आँकड़े अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। इसके प्रतिकूल बहुत से अनाथालयों मे इस बात के आँकड़े मिलते हैं कि क्षयी माता-पिताओं के बच्चों को अपेक्षाकृत अधिक क्षय नहीं होता। परन्तु क्षय रोग को पैतृक न मानने के लिये ये आँकड़े प्रमाण नहीं मान जा सकते, क्योंकि इन संस्थाओं मे चौदह वर्ष से कम आयुवाले बच्चे रक्खे जाते हैं और इस आयु मे क्षय-रोग बहुत कम होता है।

अनेक लोगों ने इस बात के आँकड़े प्रकाशित किये हैं कि २५ से ५९ प्रतिशत तक क्षय-रोगियो के सम्बन्धियों मे क्षय रोग का होना पाया जाता है। परन्तु उपरोक्त कारणों से उन पर विश्वास नही किया जा सकता। यह संख्या बहुत कुछ अन्वेषको के अपने सिद्धांत के पुष्ट करने की प्रबल इच्छा पर भी निर्भर होती है। इनके प्रतिकूल डा० बर्कहार्ट ने अपनी खोजद्वारा यह पता लगाया है कि क्षयरहित मनुष्यों के पूर्वजों मे भी उतना ही क्षय मिलता है जितना कि क्षयी मनुष्यों के पूर्वजों मे।

अबतक आँकड़ो के सम्बन्ध मे जितने आक्षेप प्रकाशित हुए हैं, हाल मे उन सबको दूर करने की डाक्टर रेमण्ड पर्ल ने कोशिश की है। उन्होंने सोचा कि यदि क्षयोत्पादन मे पैतृकता का कोई प्रभाव होता है, तो क्षयरहित मनुष्यों के सम्बन्धियों की अपेक्षा क्षयी मनुष्यों के सम्बन्धियों मे क्षयपीड़ितों की संख्या अधिक मिलनी चाहिए। इसप्रकार उन्होंने

५७ परिवारो की, जिनकी जनसख्या लगभग पाँच हजार के थी, जाँच की। उनमे से ३८ परिवार क्षयी और १९ क्षयरहित थे। इस खोज से यह विदित हुआ कि क्षयी मनुष्यो के सम्बन्धियों मे प्रतिशत ७ और क्षयरहित मनुष्यो के सम्बन्धियो मे केवल १.२ प्रतिशत क्षयी थे। अर्थात क्षयरहित परिवारो की अपेक्षा क्षयी परिवारो मे क्षयपीडितो की सख्या छ गुनी थी। परन्तु उनको अपनी इस चेष्टा मे सफलता प्राप्त नही हुई, क्योकि बाद को अधिक सावधानी से जॉच करने पर उनको स्वय यह मानना पडा कि क्षयी परिवारो मे क्षय-रोगियों के घनिष्ठ सम्पर्क का प्रभाव रोग की अधिकता पर अवश्य था।

अतएव यह स्पष्ट है कि आँकडो से क्षय-रोग या क्षयी प्रकृति का पैतृक होना या न होना प्रमाणित नहीं होता। इसके अतिरिक्त आपत्तिजनक एक बात यह और है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि क्षय रोगियो की सन्तान मे से प्रतिशत ५० को प्रतिरोधशक्ति की पैतृक न्यूनता के कारण क्षय-रोग हो जाता है, तो यह भी मानना पडेगा कि ससार की जनसख्या की वृद्धि पर विचार करते हुए क्षय-रोग की मृत्युसख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होनी चाहिए। परन्तु वास्तव मे बात बिलकुल उल्टी है। दूसरी ओर इस शङ्का के समाधान मे क्षय-रोग के पैतृक होने के पक्ष के सबसे बडे आग्रहकर्ता कार्ल पियर्सन का यह कहना है कि जिसप्रकार हम यह नही कह सकते कि ऐनक लगाना पैतृक होता है, उसीप्रकार हम यह भी नही मानते कि क्षय-रोग पैतृक है। हम केवल इतना ही मानते हैं कि कुछ शरीरो की रचना मे अधिक और कुछ मे कम प्रतिरोधशक्ति होती है। दूसरे शब्दो मे यह भी कह सकते हैं कि कुछ शरीरो की रचना मे क्षय-प्रवणशीलता (predisposition) अधिक और कुछ मे कम होती है।

बात एक ही है, चाहे हम क्षयी प्रकृति को प्रतिरोधशक्ति माने अथवा प्रवणशीलता माने, क्योकि दोनो ही रोगक्षमता के अङ्ग हैं। जिस समुदाय में क्षय-रोग बहुत दिनो से होता चला आता है, उसमे प्राकृतिक छॉट (Natural selection) द्वारा कम शक्तिवाले छॅटकर रोगक्षमता (Immunity) की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, क्योकि अधिक शक्तिवाले शेष रह जाते हैं। इसलिए शक्ति की अधिकता का ही परम्पराद्वारा अवतरण होता जाता है। इसके विपरीत जिस समुदाय मे क्षय-रोग पहले से प्रविष्ट नहीं हुआ है उसमे प्राकृतिक छॉट न होने से रोगक्षमता मे वृद्धि नही

होती। क्षय रोग के प्रसारविज्ञान (Epidemiology) के अनुशीलन से भी कार्ल पियर्सन के उपरोक्त मत का समर्थन होता है।

जीवशास्त्र की दृष्टि से क्षयी परम्परा— क्षय-रोग का उत्तरोत्तर कई पीढ़ियों तक लगातार होना इस बात का निश्चयात्मक प्रमाण नहीं हो सकता कि क्षय-रोग या क्षयी प्रकृति पैतृक होती है। कोयले की खान में काम करनेवालों के फेफड़ों में कोयले के परमाणु जमा होने से एक प्रकार का रोग जिसको फुफ्फुसांगार (Anthracosis) कहते हैं, हो जाता है, और उनकी सन्तान में भी कई पीढ़ी तक—जबतक वे उसी व्यवसाय को करते रहते हैं—यह रोग होता चला जाता है। केवल कई पीढ़ी तक लगातार होने के कारण उस विकार को कोई पैतृक नहीं कह सकता। इसीप्रकार जिन क्षयकारक सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य प्रकार के वातावरणों में रहने से माता पिता को क्षय-रोग हो जाता है, उन्हीं वातावरणों में रहने से उनकी सन्तान को भी क्षय हो सकता है, और बहुधा ऐसा ही होता है। इसको सामाजिक परम्परा कह सकते हैं, परन्तु यह जीवशास्त्र के अनुसार सच्ची पैतृकता नहीं कही जा सकती। जीवशास्त्र के मतानुसार सच्ची पैतृकता में तो जनन-तत्व (Germ-Plasm) अर्थात् माता पिता के जनन सेलों (Cells) के अन्तर्गत गुणों या अवगुणों उनके सन्तति में आधान के समय गर्भ में अवतरण होना चाहिये। गर्भ रहने के पश्चात् यदि उसमें कोई विकार होजाय तो वह पैतृक नहीं कहला सकता, क्योंकि गार्भिक-संक्रमण या विकार का पैतृकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

गर्भ में क्षय-संक्रमण—उपरोक्त दृष्टि से क्षयी पैतृकता पर विचार करने के लिये यह जानना आवश्यक है कि गर्भ में क्षय-संक्रमण हो सकता है या नहीं, और यदि हो सकता है तो कैसे और कब होता है और उसका पैतृकता से क्या सम्बन्ध होता है?

गर्भ का केवल चार प्रकार से संक्रमित होना सम्भव है—

(१) गर्भ रहने से पूर्व माता से डिम्ब (Ovum) में संक्रमण हो सकता है।

(२) गर्भ रहने के समय जब डिम्ब से शुक्राणु (Spermatozoa)

का समागम होता है तो शुक्राणु के साथ साथ कीटाणु भी डिम्ब मे प्रवेश कर सकते हैं।

(३) गर्भाधान के बाद जरायु (placenta) से डिम्ब में क्षय-कीटाणु पहुँच सकते हैं।

(४) माता के रक्त के अन्तर्गत क्षय-कीटाणुओं से गर्भ में सक्रमण हो सकता है।

इनमें से पहले दो प्रकार का सक्रमण यदि हो सकता हो, तो पैतृक कहा जा सकता है, परन्तु तीसरे और चौथे प्रकार का सक्रमण वास्तव में पैतृक नहीं कहा जा सकता।

गर्भ में सक्रमण होने की सम्भावना—डा० फ्रीडमैन के प्रयोगात्मक अन्वेषणों से यह विदित होता है कि गर्भावस्था में सक्रमण होना असम्भव नहीं है। इस खोज से बामगार्टन के इस सिद्धान्त का समर्थन होता है कि क्षय-कीटाणु गर्भ में पहुँचकर वर्षो तक सुप्तावस्था में रह सकते हैं और भविष्य में जब कभी शरीर की प्रतिरोधशक्ति कम हो जाती है तो जाग्रत होकर रोग उत्पन्न कर देते हैं। क्षय-रोग का इसप्रकार उत्पन्न होना वास्तविक पैतृकता नहीं है, यह माता से गर्भ का सक्रामित होना है।

बामगार्टन का यह सिद्धान्त क्षयी पक्षियों पर किये हुए प्रयोगों पर आश्रित था। यह भलीभांति ज्ञात होगया है कि क्षयी मुर्गियों की सन्तान को उस दशा मेंभी क्षय हो जाता है जब कि अडा देने के बाद तुरन्त उनको हटाकर सम्पर्कद्वारा सक्रमण होने की सम्भावना दूर कर दी जाती है। यह भी सिद्धहो चुका है कि यदि अडे की सफदी को बेधकर उसमें कीटाणु पविष्ट कर दिये जायँ, तब भी अडे का विकास होता रहता है, परन्तु सेने के बाद बच्चे को क्षय होजाता है। डिम्बान्तरिक सक्रमण (Intra ovular) पशुओं में भी देखा गया है। इससे विदित होता है कि गर्भ रहने के बाद डिम्ब के सक्रामित होने से गर्भ नष्ट नहीं होता। गर्भ बढता रहता है और उससे जीवित सन्तान उत्पन्न होती है, परन्तु जन्म लेने के बाद तुरन्त उसको क्षय हो जाता है। मनुष्यों में भी ऐसे कुछ उदाहरण मिले हैं, जहाँ नवजात शिशुओं के फेफडों में कहीं कहीं ककडीले क्षेत्र (Calcified-areas) पाये गये हैं, जिनसे यह विदित होता है कि शिशुओं को गर्भावस्था में कभी कभी क्षय होकर अच्छा हो जाता है।

शुक्रजनित संक्रमण—अभी तक इस बात का पता नहीं चला है कि उपरोक्त उदाहरणों में क्षय-कीटाणु गर्भ तक किस प्रकार पहुँचे। कुछ लोगों का कहना है कि यह सम्भव है कि वीर्य संक्रामित हो, और शुक्राणुओं के साथ साथ कीटाणु भी गर्भ तक पहुँच गये हों। स्पेनो, पोटेंर और फ्रीडमैन को, ऐसे रोगियों के वीर्य्य में जिनको या तो उग्रव्यापी (Acute miliary) क्षय था या जिनकी जननेन्द्रियों में क्षय था खोज करने पर कीटाणु मिले हैं। यह स्मरण रखने योग्य है कि जननेन्द्रियों के क्षयवाले पुरुष कभी कभी स्त्री प्रसंग करते हैं और उनसे गर्भ भी रह जाता है। गलब्रेश्ट, कैवेनिश तथा अन्य लोगों ने क्षयी साँडों से खरगोशिनियों और गिनीपिगनियों में संक्रमण उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की है। फ्रीडमैन ने खरगोशिनियों की योनि में गर्भाधान के बाद तुरन्त क्षय-कीटाणुओं की पिचकारी लगाकर सात दिन के बाद देखा तो गर्भ में क्षय-कीटाणु मिले थे, यद्यपि खरगोशिनियाँ स्वयं क्षयरहित बनी रही थीं। ऐसी खरगोशिनियों के नवजात शिशुओं के अनेक अवयवों में क्षय-कीटाणु मिले थे। इन खोजों से यह परिणाम निकाला जाने लगा कि क्षयी पिता के वीर्य से गर्भ में संक्रमण हो सकता है।

परन्तु यह बात इतनी सरल नहीं है। वीर्य में क्षय-कीटाणु तभी मिलते हैं जब कि जननेन्द्रियों में रोग हो। युक्तिपूर्वक विचार करने से इस बात में सदेह होता है कि उपरोक्त कथन इस बात का कहाँ तक पर्याप्त प्रमाण माना जा सकता है कि शुक्रकण या डिम्ब क्षय-कीटाणुओं से संक्रामित हो सकते हैं। मनुष्यों के डिम्ब या शुक्रकणों के आकार की सूक्ष्मता पर विचार करते हुए यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि उनमें क्षय-कीटाणु प्रवेश कर सकें। अभी तक किसी के शुक्रकण या डिम्ब में अणुवीक्षण यत्र से परीक्षा करने पर कीटाणु नहीं मिले हैं। वीर्य में कभी कभी क्षय-कीटाणुओं का पाया जाना इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि उनसे गर्भ में संक्रमण हो सकता है। यह देखने में आता है कि ऐसे क्षयी मनुष्यों की सन्तान, जिनको जननेन्द्रिया का रोग होता है, प्रायः उतनी ही हृष्टपुष्ट होती है, जितनी कि स्वस्थ मनुष्यों की। अभी तक कोई उदाहरण ऐसा देखने में नहीं आया है कि जननेन्द्रियों के क्षय से पीड़ित पिता की सन्तान क्षयी उत्पन्न हुई

हाँ, यद्यपि यह तो देखने में आता है कि ऐसे मनुष्यों के साथ सहवास से स्त्रियों को जननेन्द्रियों का क्षय होगया है। यदि यह मान लिया जा... क्षय-कीटाणु शुक्रकणों के सहारे पहुँचकर डिम्ब को सक्रामित कर सक... तब भी ऐसा बहुत कम होता होगा। स्मरण रखना चाहिए कि एक... वीर्यपात होने में लगभग दो करोड शुक्रकण स्खलित होते हैं जिनमें से... एक ही गर्भाधान करता है। इस बात की कितनी कम सम्भावना है कि... करोड में से वही शुक्राणु, जिसमें क्षय-कीटाणु हो, गर्भाधान करे। इस... क्षय-रोग की पैतृकता-सम्बन्धी विवेचना में शुक्रजनित सक्रमण का वि... करना निरर्थक प्रतीत होता है।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि गर्भ रहने से पूर्व माता या पिता से ... क सक्रामित होने की इतनी कम सम्भावना है जो कि नहीं के बराबर... दूसरे शब्दों में इसका यही अर्थ होता है कि क्षय-रोग या सक्रमण के... मानने के पक्ष में अभी तक कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं ज्ञात हुए हैं।

गर्भाधान के पश्चात् सक्रमण--गर्भावस्था में बहुत से रोग ब... को हो जाते हैं। चेचक, उपदंश और कोढ इसके उत्तम उदाहरण हैं। ... भलीभाँति ज्ञात हो चुका है कि जरायु में क्षय-कीटाणु रह सकते हैं। ... अन्वेषकों को खोज करने पर क्षयी स्त्रियों की जरायु में क्षय-कीटाणु मिले... डा० शमोर्ल और गीप को २० क्षयी और गर्भवती स्त्रियों में से ९ की ज... में क्षय-कीटाणु मिले थे। डा० शमोर्ल का अनुमान है कि लगभग अ... क्षयी स्त्रियों की जरायु में क्षय-कीटाणु रहते हैं। उनका कहना है कि गर्भ... में किसी समय और रोग की हर अवस्था में कीटाणु जरायु में पहुँच स... हैं, परन्तु सम्वृद्ध और उग्रव्यापक रोग में ऐसा अधिक होता है। जन्म... समय भी जरायुद्वारा माता से बच्चे को सक्रमण हो सकता है, जब ... गर्भाशय के कठोर आकुचनों से जरायु किसी निर्बल स्थान पर आहत... जाती है। क्षय-कीटाणुओं का सीधा गर्भ में पहुँच जाना सम्भव तो है, क्यो... माता के रक्त से नाभिक शिरा (Umbilical vein) में होते हुए कीटाणु ... में पहुँच सकते हैं, परन्तु इसकी सम्भावना बहुत कम होती है। गर्भावस्थ... सक्रमण होने से जो सन्तान उत्पन्न होती है वह बहुधा मरी हुई होती... और यदि जीवित भी उत्पन्न हो तो कुछ सप्ताह से अधिक जीवित न... रहती।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट प्रकट होता है कि गर्भ का संक्रामित होना सम्भव तो अवश्य है, परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। डा० लवन्स्टीन के मतानुसार जरायु के क्षय के केवल तीस उदाहरण चिकित्सा-साहित्य मे पाये जाते हैं।

सहज क्षय (Congenital Tuberculosis) अर्थात् जन्म के साथ क्षय का होना—गर्भाशय के अन्दर क्षय-संक्रमण की विरलता तो जन्मजात क्षय की कमी मे भी विदित होती है। पशुओं मे तो सहज क्षय कुछ होता भी है, परन्तु मनुष्यों मे तो बहुत ही कम होता है। सहज क्षय के सम्बन्ध में अबतक जितनी रिपोर्टें प्रकाशित हुई हैं, वे सभी वास्तविक सहज क्षय के उदाहरण नही हैं। सबसे पहले निश्चयात्मक सहज क्षय की रिपोर्ट डा० शमोर्ल और बर्च हर्शफेल्ड ने की थी। गर्भ के सप्तम मास मे उग्रव्यापक क्षय से माता की मृत्यु होगई थी। जरायु देखने मे तो स्वस्थ प्रतीत होती थी, परन्तु अनुवीक्षण-यन्त्र से परीक्षा करने पर उसमे क्षयी-विकार मिले थे और नाभिक शिरा के रक्त मे क्षय-कीटाणु भी पाये गये थे। ऐसा प्रतीत होता था कि मृत्यु से कुछ समय पूर्व माता से गर्भ में संक्रमण होगया था। इसी भाँति अन्य अन्वेषकों ने भी सहज क्षय के कई एक उदाहरण प्रकाशित किये हैं। डा० मर्था वुलस्टीन ने एक ऐसे ही रोगी का उल्लेख किया है। बच्चे के जन्म के छ दिन पश्चात् माँ की मृत्यु होगई थी और उन्नीस दिन बाद बच्चा भी मर गया था। परीक्षा करने पर जरायु मे सम्वृद्ध क्षय के चिह्न और नवजात शिशु में उग्रव्यापी क्षय के चिह्न मिले थे।

इस प्रसंग मे एक बात स्मरण रखने योग्य यह है कि जरायु मे क्षय होने पर बच्चे मे क्षय-रोग का होना अनिवार्य नहीं है। इस बात की अनेक रिपोर्टें मौजूद हैं कि जरायु में क्षय होने पर भी बच्चे स्वस्थ उत्पन्न होते हैं और भलीभाँति बढते रहते हैं। सहज क्षय के जितने उदाहरणों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें से विवेचक बहुत थोडों को वास्तविक सहज क्षय का उदाहरण मानते हैं और शेष मे से अधिकांश मे इस बात की साक्षी पाई जाती है कि उनमें वस्तुत गर्भावस्था मे संक्रमण नहीं हुआ था। मेहू और चेलियर का विश्वास है कि इन सहज क्षय के उदाहरणों में गर्भावस्था के अन्त में, जब गर्भ मे जरायुद्वारा माता के रक्त का संचालन होने लगता है, संक्रमण होता है। रोग की चरमावस्था में जब क्षय-कीटाणु माता के रक्त में

फैल जाते हैं तो उनमे से कुछ गर्भ मे भी पहुँच जाते हैं, इसलिए ये पैतृ
के उदाहरण नहीं माने जा सकते।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि सिद्धातरूप मे जरायु-मार्गद्वारा क्षय-रोग
अवतरण होना सम्भव है, परन्तु उपलब्ध साक्षी से यह प्रकट है कि मनु
मे ऐसा बहुत कम होता है। जन्म के बाद होनेवाले असख्य सक्रमणो
विचार करते हुए सहज क्षय के इने-गिने उदाहरण समुद्र मे एक बूँद
समान प्रतीत होते हैं। जब कभी सहज क्षय होता भी है तो ऐसी माताओं
होता है जिनका रोग या तो चरमावस्था मे या जननेन्द्रियो मे होता है। ऐ
स्त्रियो के सन्तान बहुत कम होती है। इस सम्बन्ध मे यह बतलाना उ
प्रतीत होता है कि क्षयी माताओं के ऐसे अनेक बच्चो की परीक्षा की गई
जो मरे हुए उत्पन्न हुए हैं, परन्तु उनमे से किसी में भी क्षय-सक्रमण के चि
नहीं पाये गये।

मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं मे सहज क्षय कुछ अधिक होता
उनमे भी जैसा कि अमेरिका के डा० हार्लोब्रुक्स ने सिद्ध किया है, बहुत क
बच्चो मे क्षय होता है, यदि जन्म लेते ही उनको अपनी क्षयी माताओं से पृथ
कर दिया जाय।

क्षयी पैतृकता के सम्बन्ध में रोगियों से प्राप्त (Clinical) अनुभव—
अनेक लोगो ने कई एक चिकित्सानुभव से उपलब्ध ऐसी घटनाएँ देखी हैं
जो क्षय-रोग या क्षयी प्रकृति को पैतृक न मानने पर समझ मे नही आतीं
ब्रीमर और उनके अनेक अनुगामियो ने इस बात का पता लगाया है कि बहु
से परिवारो मे माता-पिता और उनकी सन्तान में एक ही आयु मे क्षय-रो
होता है। पायरी ने पता लगाया है कि कई परिवारों मे बच्चे सोलह वर्ष की
आयु प्राप्त करने से पूर्व क्षय-रोग से मर जाते हैं। उपरोक्त अनुभवो के
समर्थन मे कई और उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु फिर भी यह प्रतीत
होता है कि अभी तक उनकी उतनी पर्याप्त सख्या का सकलन नहीं हुआ है
जिससे उनका महत्व निरसन्देह सिद्ध हो सके। क्षय रोग का पारिवारिक होना
जैसे पैतृकता के प्रभाव से हो सकता है, वैसे ही रोगियो के सन्निकट सम्पर्क
(Close contact) के कारण सक्रमण की अधिक सम्भावना से भी हो
सकता है।

ग्रीमर का विचार है कि शरीर के कुछ स्थानो मे प्रतिरोधशक्ति कम होती है और ये न्यून शक्तिवाले स्थान पैतृक होते हैं। टर्बन, बाल्डविन, मोलर और कुश्री इत्यादि विशेषज्ञो ने इस मत का समर्थन किया है। यह प्राय देखा गया है कि जब माता-पिता और उनकी सतान के फेफड़ो का क्षय होता है तो बहुधा दोनो में एक ही ओर का होता है। क्षय-रोग की यह पारिवारिक अनुरूपता लगभग ७५ प्रतिशत रोगियो मे पाई जाती है। मोलर का कहना है कि जब एक बच्चे मे अस्थि-क्षय होता है तो उसके भाई-बहनो मे जब रोग होता है तो अस्थि-क्षय ही होता है। उपरोक्त बातो से यह परिणाम निकलता है कि शरीर के कुछ अवयवों मे प्रतिरोधशक्ति कम होती है, जो पैतृक होती है। मेरी सम्मति मे अभी तक इस प्रश्न पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया है।

साराश—उपरोक्त इने गिने उदाहरणो से सिद्धातरूप मे तो क्षय-रोग के पैतृक होने की सम्भावना मानी जा सकती है, परन्तु यह स्पष्ट है कि व्यवहार रूप में क्षय-रोग या सक्रमण पैतृक नही कहा जा सकता। क्षय-रोग या सक्रमण की अपेक्षा क्षयीप्रकृति के पैतृक होने के सम्बन्ध मे अपेक्षाकृत अधिक साक्षी मिलती है। परन्तु जैसा कि आगे चलकर विदित होगा क्षयोत्पादन मे उपार्जित कारणो की अपेक्षा तथाकथित पैतृक क्षयी प्रकृति का प्रभाव बहुत कम होता है, यहाँ तक कि कुछ विशेषज्ञ क्षयी प्रकृति को स्वीकार ही नहीं करते।

उपार्जित रचनात्मक कारण—जैसा पहले कहा जा चुका है क्षय-रोग के उपार्जित रचना सम्बन्धी कारण दो प्रकार के होते हैं—

(१) सहज, अर्थात् वह कारण जो शरीर के साथ उत्पन्न होते हैं।

(२) जन्म के बाद उपार्जित, अर्थात् वह कारण जो जन्म के बाद उत्पन्न होते हैं।

सहज रचनात्मक कारण

प्रथम सन्तान में स्वाभाविक कमी—सहज रचनात्मक कारणों मे मे एक यह भी है कि किसी परिवार में ज्येष्ठ सन्तान को क्षय सबसे अधिक होता है और उसके बाद जन्म लेनेवाली सन्तान में यह रोग क्रमश

चुल्लिका-ग्रन्थि (Thyroid gland)—यह देखा गया है कि जिन लोगों मे चुल्लिका-ग्रन्थि का रस अधिक बनता है, उन लोगो मे क्षय-रोग कम होता है, और जब होता भी है तो हल्का होता है। मोरिन ने इस बात का पता लगाया था कि चुल्लिका-ग्रन्थि से पीडित परिवारों मे जिन लोगो की चुल्लिका-ग्रन्थि बढी हुई थी, उनमें क्षय-रोग नही होता था और दूसरी ओर ३४८ रोगियो में जिनमे चुल्लिका-ग्रन्थि क्षीण (Atrophied) होगई थी उनमे से २५ प्रतिशत को क्षय-रोग होगया था। डा० सैजे के मतानुसार क्षय-रोग से पीडित होनेवाले लोगो मे चुल्लिका-ग्रन्थि का अपचय (Atrophy) साधारणतया पाया जाता है।

उपवृक्क-ग्रन्थियाँ (Suprarenal glands)—इन ग्रन्थियो का क्षय-रोग से और भी अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। क्षय-रोग में रक्तचाप (Blood Pressure) की कमी, मासपेशियो की क्षीणता तथा दुर्बलता और त्वचा की श्यामता इत्यादि लक्षणो से उपवृक्कों का विकार सूचित होता है। डा० सैजे का भी यही मत है कि उपवृक्को का विकार होने पर क्षय-रोग अधिक होता है।

जनन-ग्रन्थियाँ—जनन-ग्रथियो का भी क्षय-रोग से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह देखा गया है कि विषय की कमी का क्षय-रोग मे बडा हितकर प्रभाव पडता है। हिजडो मे क्षय-रोग बहुत कम पाया जाता है। आख्ता (बधिया) किए हुए गिनीपिग आदि पशुओ में क्षय-रोग बहुत कम होता है। स्त्रियो में मासिकधर्म बन्द हो जाने के बाद क्षय-रोग बहुत कम होता है और यदि होता भी है तो बहुत हल्का और शीघ्र अच्छा हो जाता है। इसके विपरीत युवावस्था में जब विषयेच्छा अधिक होती है, तो क्षय रोग अधिक होता है और बडे तीव्र रूप का होता है। इन बातों से क्षय-रोग के होने मे ब्रह्मचर्य के अभाव का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है।

फेफड़ो में क्षय-रोग की अधिकता—मनुष्यो मे जितना क्षय-रोग होता है उसका ९० प्रतिशत केवल फेफडो में होता है। पशुओ पर प्रयोग करने मे भी यही ज्ञात हुआ है कि अन्य इन्द्रियो की अपेक्षा फेफडो मे क्षय-रोग कहीं अधिक होता है। चाहे त्वचा, उदरकला या शिरा मे पिचकारी लगाकर और चाहे श्वास या भोजन के साथ किसी भी प्रकार से क्षय-कीटाणुओ को शरीर में प्रविष्टकर संक्रमण उत्पन्न किया जाय, शीघ्र या

ढेर मे फेफड़ों मे रोग अवश्य हो जाता है, और कही हो या न हो। फेफडो मे क्षय अधिक होने के कारण अभी ठीक ठीक ज्ञात नही हैं। इस सम्बन्ध मे कुछ प्रचलित मत नीचे दिये जाते हैं।

कुछ लोगो का विश्वास है कि फेफडो मे अधिक क्षय इसलिए होता है कि वहाँ के लसिका-सस्थान के विन्यास मे त्रुटि होती है। चूकि फेफडो मे लसिका-सचालन ठीक-ठीक नही होता इसलिए क्षय अधिक होता है।

कुछ लोगो का विचार है कि फेफडे मे अधिक क्षय इसलिए होता है कि वहाँ की रक्त सचालन की विधि उल्टी होती है। इस सम्बन्ध मे यह कहना उपयुक्त होगा कि फेफडों को अन्य अगो की अपेक्षा शुद्ध धामनिक रक्त (Pure arterial blood) कम मिलता है।

कुछ लोगो का मत है कि फेफडो मे रक्त की शुद्धि होती है, इसलिए उसमे कीटाणु आदि जितने दूषित पदार्थ होते हैं वे सब फेफडो मे रुक जाते हैं।

फुफ्फुस-शिखर मे अधिक क्षय होने के कारण—सम्पूर्ण फेफडे मे क्षय-ग्रहणशील प्रवृत्ति एक-सी नही होती। अन्य भागो की अपेक्षा शिखर मे क्षय सबसे अधिक होता है।

फुफ्फुस-शिखर मे अधिक क्षय होने के कारण के सम्बन्ध मे कई एक मत हैं। कुछ लोगो का विचार है कि फेफडे के ऊपरी भाग मे गति बहुत कम होती है और फलत वायु का हेर-फेर भी उतना ही कम होता है। इसलिए क्षय कीटाणुओं को जो श्वास वायु या लसिका के साथ उस स्थान मे पहुँचते हैं, वहाँ टिकने का अधिक अवसर मिलता है।

परन्तु इस सिद्धान्त से इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश नही पडता, श्वास वायु के अन्तर्गत धूलि के कणों के फेफडो मे सचित होने से एक प्रकार का फुफ्फुस रोग हो जाता है। इस रोग को अँग्रेजी मे न्यूमोकोनियोसिस (Pneumoconiosis) कहते हैं। यदि उपरोक्त सिद्धान्त ठीक है, तो इस रोग मे भी धूलि के कण फेफडों के ऊपरी भाग मे जमा होने चाहिए, परन्तु प्रत्यक्ष मे यह देखा गया है कि इस रोग में फेफडो का ऊपरी भाग तो साफ होता है और निम्न भाग मे धूलि-कणों का सग्रह होता है।

कुछ लोगो का विचार है कि शिखर मे क्षय अधिक इसलिए होता है कि उस भाग मे रक्त और लसिका का सचालन ठीक ठीक नहीं होता। डा०

कोच का कथन है कि फुफ्फुस शिखर मे लसिका-ग्रन्थियाँ कम होती हैं, इसलिए वहाँ पर क्षय अधिक होता है।

फ्रूएड का वक्ष के ऊर्ध्व द्वार की संकीर्णता का सिद्धान्त—फ्रूएड का मत है कि पहली पसली के छोटा होने और पहली उपपर्शुका के अस्थिरूप होने से वक्ष का ऊपरी द्वार छोटा होजाता है, इसलिए फुफ्फुस-शिखर पर उसका दबाव पडने लगता है, जिसके कारण उस भाग के रक्त और लसिकासचालन मे बाधा पडती है। इसलिए श्वास-वायु या रक्त के साथ जो बाहरी अहितकर पदार्थ आ जाते हैं वे वहीं पर टिक जाते है।

फेफडे के शिखर मे कुछ नीचे शमोर्ल को एक परिखा (Groove) मिली थो। यह परिखा नवजात शिशुओ मे अधिक पाई जाती है। स्वस्थ वक्षवाले मनुष्यो में किशोरावस्था मे यह परिखा मिट जाती है। जिन लोगों मे यह बनी रहती है, उनमे मे अधिकाश मे उस स्थान पर क्षय-रोग हो जाता है।

वैकमीस्टर ने अपने अन्वेषण द्वारा इन बातो का समर्थन किया है। कम आयु के खरगोशो को लेकर उनमे प्रथम पर्शुका के समतल स्थान पर इन्होंने एक तार का घेरा बनाकर कस दिया, जिससे वक्ष का ऊपरी द्वार सकीर्ण होगया। इससे फुफ्फुस शिखर भी दब गया और उसमें तार के नीचे एक परिखा पड गई, जो शमोर्ल के क्षय-रोगियो की परिखा के अनुरूप थी। इन पशुओं मे सक्रमण करने पर उस स्थान पर क्षय-रोग उत्पन्न होगया, परन्तु अन्य पशुओ मे जिनमे यह तार नहीं बाँधा गया था, उग्र व्यापक क्षय हुआ और परिमित क्षय नहीं हुआ।

जहाँ कुछ लोगो ने फ्रूएड की इस खोज का समर्थन किया है, वहा अनेक लोगो को सावधानी से जाच करने पर भी वक्ष के द्वार की सकीर्णता अधिक नहीं मिली है। २३८ रोगियो मे से वेनकेन वैक को ६१ ७५ प्रतिशत में कोई विकार नहीं मिला और केवल १७ २ प्रतिशत मे यह विकार मिला था।

शरीर-रचना में न्यूनता (Constitutional Inferiority)—कुछ लोगों का विचार है कि क्षय-ग्रहणशीलता शरीर के किसी अवयव विशेष में नहीं होती, बल्कि व्यापक होती है। सब मनुष्यो के शरीर की गठन एक

भी नही होती। किसी का शरीर हृष्ट पुष्ट और गठन दृढ होती है और किसी का शरीर निर्बल होता है और गठन दृढ नहीं होती। प्राचीन काल से यह देखा गया है कि निर्बल शरीर-रचनावाले प्राणियों को क्षय-रोग अधिक होता है। निर्बल-गातवाले मनुष्यों के निम्नलिखित साधारण लक्षण होते हैं। ग्रीवा लम्बी, छाती लम्बी, चपटी और सकीर्ण, असफलक (पुट्ठे) परो की तरह उभरे हुए, कधे सामने की ओर झुके हुए, हँसली और दूसरी पसली उभरी हुई, मासपेशी निर्बल तथा पेट बडा होता है।

जिनका चेहरा कान्तिहीन और पीला होता है और जिनकी त्वचा पर रूखापन होता है, ऐसे मनुष्यो को भी क्षय रोग अधिक होता है।

अनेक विशेषज्ञो ने यह भी लिखा है कि जिन लोगो को क्षय रोग अधिक होनेवाला होता है, उनमे प्राय अग-विकार होते हैं। भिन्न भिन्न विशेषज्ञों ने ऐसे नाना प्रकार के अग-विकारो का उल्लेख किया है, जिनका क्षय-रोग से विशेष सम्बन्ध कहा जाता है। परन्तु इस बात का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि अग विकारो का क्षय-रोग से कोई विशेष सम्बन्ध होता है, क्योकि क्षय-जैसे विश्वव्यापी रोग मे कुछ रोगियो मे अग-विकार का पाया जाना स्वाभाविक है। अग-विकारो से क्षय-रोग का सम्बन्ध तभी माना जा सकता है, जब यह सिद्ध कर दिया जाय कि क्षयरहित मनुष्यों की अपेक्षा क्षयी मनुष्यो म अग-विकारो की सख्या अधिक मिलती है, किन्तु अभी तक इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नही है।

उपार्जित रचनात्मक कारण

अन्य पूर्ववर्ती रोगों का प्रभाव—यह सब लोग जानते हैं कि जो भूमि ऊसर होती है, उसमे बीज बोने से कोई पैदावार नही होती, परन्तु बडी भूमि को यदि जोतकर निर्बल कर लिया जाय तो वह उपजाऊ हो जाती है। इसीप्रकार जब मनुष्य का शरीर हृष्ट-पुष्ट होता है, तो उसमे कीटाणु-प्रवेश होने पर भी क्षय-रोग नहीं होता, परन्तु जब उस मनुष्य को कोई रोग हो जाता है, तो उसका शरीर निर्बल हो जाता है और उस समय उसको क्षय हो जाता है। शरीर को क्षय ग्रहण करने के योग्य बनाने मे सब रोगों का एक-सा प्रभाव नही होता। निम्नलिखित रोगो का क्षयोत्पत्ति से विशेष सम्बन्ध माना जाता है।

श्वास-मार्ग के रोग—इस सम्बन्ध में श्वास-मार्ग के रोगों का नाम सदैव लिया जाता है। यह भी देखने में आता है कि फेफड़ों के पुरातन रोगों के स्थान पर क्षय-रोग कभी कभी प्रकट हो जाता है। इसके दो कारण हो सकते हैं—(१) सम्भव है कि इन रोगों के होने से फफड़ों के पुराने सुप्त क्षयी विकार पुनरुद्दीपित हो जाते हों। (२) इन रोगों के कारण रोगी के निर्बल हो जाने से क्षयोत्पादन में सहायता मिलती हो। परन्तु इस बात की पर्याप्त साक्षी उपलब्ध है कि इन रोगों का क्षयोत्पादन पर केवल कोई प्रभाव ही नहीं होता, बल्कि इनसे क्षय-रोग के प्रति कुछ रोगक्षमता भी उत्पन्न हो जाती है। फुफ्फुस-प्रदाह (Pneumonia) के बाद भी क्षय-रोग बहुत कम होते देखा गया है।

पार्श्वकला का प्रदाह (Pleurisy)—फेफड़ों के रोगों की अपेक्षा पार्श्वकला के प्रदाह का क्षय-रोग से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इस प्रदाह के बाद क्षय-रोग का प्राय प्रादुर्भाव होता है। वास्तव में पार्श्वकला-प्रदाह को क्षय-रोग का प्रवणशील (Predisposing) कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस कला का प्राथमिक प्रदाह तो यथार्थ में क्षय-रोग का ही एक रूप होता है। हृदय या वृक्क इत्यादि के रोग में पार्श्वकला का जो लक्षणरूपी गौण प्रदाह होता है, उसका क्षय-रोग से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

सर्दी लग जाना—रोगियों के अनुभव से यह विदित होता है कि सर्दी लग जाने के बाद प्राय क्षय-रोग आरम्भ हो जाता है। यह स्वय प्रकट है कि केवल सर्दी से क्षय-रोग नहीं हो सकता। परन्तु जब इसका ध्यान आता है कि लगभग हरएक मनुष्य के शरीर में क्षय-कीटाणु विद्यमान् होते हैं तो यह समझ में आ जाता है कि सम्भव है, सर्दी लगने से कीटाणुओं के अनुकूल अवस्था हो जाती हो, जिससे वे पुनर्जाग्रत हो जाते हैं। अधिकाश क्षय-रोगी जिनमे रोग पार्श्वकला के प्रदाह के रूप में आरम्भ होता है, यह स्पष्ट कहते हैं कि सर्दी लगने से पूर्व वे बिलकुल अच्छे थे। इसलिए सर्दी लगने से क्षय-रोग का आरम्भ होना तो निश्चित है, परन्तु अभी तक यह ठीक ठीक ज्ञात नहीं हुआ है कि सर्दी लगने से शरीर में क्या क्या परिवर्तन हो जाते हैं, जिनके कारण क्षय आरम्भ हो जाता है।

इस सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जब सर्दी लगने से क्षय का आरम्भ होता है तो प्रतिश्याय (जुकाम) के लक्षण उत्पन्न नहीं होते, केवल उपक्रान्त क्षय के खाँसी, ज्वर इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं।

पुरातन कास रोग—बहुत लोगों का और कुछ वैद्यों का यह विचार है कि जुकाम, पुरानी खाँसी और श्वास-रोग की उपेक्षा करने से क्षय-रोग हो जाता है, परन्तु उनका यह विचार गलत है। रोगियों के अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि ये रोग क्षय-रोग का प्रवणशील कारण नहीं हैं। यह अवश्य है कि कुछ लोगों को बहुत दिनों तक खाँसी आने के बाद क्षय के अस्तित्व का पता चलता है, परन्तु यथार्थ में उन लोगों को आरम्भ से ही क्षय होता है और वही उनकी खाँसी का कारण होता है, परन्तु उसकी उस समय ठीक ठीक जाँच नहीं हो पाती।

उग्र संक्रामक रोग—प्राय यह देखा गया है कि खसरा (Measles), कुकर खाँसी इत्यादि संक्रामक रोगों के बाद क्षय रोग हो जाता है। इन रोगों से शरीर निर्बल होने पर शरीर के अन्तर्गत क्षय कीटाणु उत्तेजित हो जाते हैं। निर्बलता की दशा में नया संक्रमण भी अधिक सुगमता से हो जाता है।

सन १९१७—१८ में अमेरिका की सेना में ५९४५ सिपाहियों को खसरा निकला था, उनमें से ०.९१ प्रतिशत को क्षय रोग होगया था। इन रोगों के क्षय-रोग के प्रवणशील कारण होने का एक और भी प्रमाण है। जैसा कि पूर्व परिच्छेदों में कहा जा चुका है, क्षय-संक्रमण से मनुष्यों में एक विशेष प्रकार की अतिचैतन्यता और रोगक्षमता का प्रादुर्भाव हो जाता है, जिसकी यक्ष्मिन की पिचकारी लगाने पर एक विशेष प्रतिक्रिया होने से पहचान होती है। यह देखा गया है कि खसरा रोग में इस प्रतिक्रिया का अभाव हो जाता है। इससे विदित होता है कि शरीर में प्रतिरोधशक्ति कम हो जाती है।

इनफ्लूएंजा—बहुत दिनों से यह देखा गया है कि जब यह रोग महामारी के रूप में आता है तो क्षय-रोग की मृत्यु-संख्या बढ़ जाती है। इससे विदित होता है कि क्षय-रोग के होने में इस रोग से कुछ सहायता मिलती है।

मोतीझरा—(मियादी बुखार) यह ज्वर भी क्षय-रोग का एक प्रमुख प्रवणशील कारण माना जाता है, क्योंकि बहुत से क्षय-रोगियों का इस ज्वर से पीडित होना पाया जाता है। डा० चार्ल्स वुडरफ इस विषय का गहन अनुशीलन करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मथज्वर का क्षय-रोग के प्रवणशील कारणों मे प्रमुख स्थान होता है।

पुरातन रोग—मधुमेह (Diabetes) और वृक्क का पुरातन प्रदाह (Chronic nephrites) से पीडित रोगियों को भी क्षय-रोग अधिक होता है। रिकेट्स एक अस्थि रोग होता है जो प्राय बचपन मे होता है और जिसमे बच्चो की हड्डियाँ टेढी हो जाती हैं। इस रोग से पीडित लोगों को भी क्षय-रोग बहुत होता है।

वातावरणसम्बन्धी कारण—अनेक लोगों को शरीर की रचना मे कोई विकार या अन्य कोई रोग न होने पर भी केवल अहितकर वातावरण मे रहने से क्षय-रोग हो जाता है। वस्तुत रचनात्मक विकार और अन्य रोगो की अपेक्षा क्षयोत्पत्ति पर वातावरण का कही अधिक प्रभाव होता है। यदि क्षय-रोग को प्रधानत वातावरण का रोग कहा जाय तो अनुचित न होगा। वातावरणसम्बन्धी निम्नलिखित बातों का क्षय-रोग के प्रादुर्भाव पर विशेष प्रभाव होता है।

पौष्टिक भोजन की कमी—शरीर को हृष्ट-पुष्ट और नीरोग रखने के लिये उत्तम और पौष्टिक भोजन अत्यावश्यक है। जब किसी कारणवश मनुष्य को पौष्टिक भोजन नही मिलता तो उसका शरीर निर्बल होकर क्षय-रोग का ही नही, किन्तु अन्य रोगो का भी शिकार बन जाता है। क्षय-रोग का भोजन की कमी से बडा घनिष्ट सम्बन्ध है। कुछ लोग तो क्षय-रोग को वस्तुत भोजन की कमी का रोग (Deficiency disease) मानते हैं। भोजन मे खनोज नाम के जो अज्ञात पदार्थ होते हैं, उनकी कमी का क्षय-रोग के प्रादुर्भाव पर विशेष प्रभाव होता है।

चिन्ता—क्षय-रोग की उत्पत्ति पर चिन्ता का भी बडा प्रभाव होता है। शोकातुर और चिन्तातुल व्यक्तियो मे क्षय-रोग बहुत होता है। चिन्ता और चिता दोनों बहने हैं जिनमे चिन्ता बडी है, क्योंकि चिता मुर्दे को जलाती है, परन्तु चिता जीवित प्राणी को भस्म कर देती है।

अति परिश्रम तथा अन्य सब प्रकार की अति--आधुनिक सभ्यावस्थाओं में मनुष्य का जीवन बड़ा अविश्रांत होगया है। उसको अधिक समय तक और रात को बहुत देर तक शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम करना पड़ता है जिससे उसकी प्राणशक्ति कम हो जाती है। अनेक रोगियों में रोग का आदि कारण अधिक परिश्रम पाया जाता है। गत योरोपीय महाभारत के समय बहुत लोगों को अति परिश्रम के कारण क्षय होगया था। सभ्यता से दारिद्र्य और बाहुल्य दोनों उत्पन्न होते हैं और दोनों ही प्राणशक्ति के ह्रास के कारण होते हैं। एक ओर दरिद्रता से भोजन के अभाव के कारण शरीर पुष्ट नहीं रहता तो दूसरी ओर धन की अधिकता के कारण भोजन की अति से पाचनशक्ति बिगड़कर भोजन पेट में सड़ने लगता है और उससे विषैले पदार्थ उत्पन्न होकर शरीर में व्याप्त होने लगते हैं। अन्त में दोनों प्रकार के लोगों का स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है। मदिरा उपरोक्त विषैले पदार्थों का कार्य और भी प्रबल बनाकर सोने में सुहागे का काम करती है। यही कारण है कि सभी प्रकार की अति,--भोजन, मदिरा, विषय तथा चित्त-विकार--से क्षय-रोग उत्पन्न होता है।

अस्वस्थता, अस्वच्छ दशायें तथा जन-संकीर्णता--सबसे पहले डा० फार ने क्षय-रोग का जन संकीर्णता से सम्बन्ध स्थापित किया था। एडिनबर्ग नगर में जब कुछ पुराने अस्वच्छ स्थानों में स्वच्छ नये मकान बनाए गये, जिनमें वायु और सूर्य-प्रकाश के आने का समुचित प्रबन्ध था, तो वहाँ की व्यापक मरण निष्पत्ति प्रतिसहस्र ४२ से १५ रह गई और क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति ३ ४ से ० ४ होगई। इसीप्रकार लिवरपूल में, जहाँ की मरण-निष्पत्ति प्रतिसहस्र ४ थी, नये स्वच्छ स्थानों में लगभग उसीप्रकार की आबादी में १ ९ होगई। क्षय-रोग का जन-संकीर्णता से सम्बन्ध प्रत्येक शहर में देखा जा सकता है। लंडन शहर में भी यह देखा गया है कि क्षय-रोग की मरण निष्पत्ति का जन संकीर्णता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। बस्ती जितनी सघन होती है, क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति उतनी ही अधिक होती है। विचार करने पर पता लगेगा कि इस देश में भी अस्वच्छता और जन संकीर्णता का सामाजिक अवस्थाओं से सम्बन्ध है। निर्धन लोग धनाभाव के कारण अस्वच्छ और अँधेरी कोठरियों में बहुत से एक साथ रहते हैं। यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि जन-संकीर्णता और अस्वच्छता के दुष्परिणाम

का कारण दरिद्रता होती है। लडन के श्रमजीवियो में यह अनुभव किया गया है कि जबतक वे कमाते रहते हैं और उनको अच्छा वेतन मिलता रहता है तब तक अस्वच्छ दशाओ मे रहने पर भी क्षय-रोग कम होता है। अमेरिका के सयुक्तराज्य मे श्रमजीवियो की जॉच करने पर डा० वारिन को भी यही अनुभव हुआ है। अस्तु, अस्वच्छता और जन-सकीर्णता उसी सीमा तक क्षय-रोग के कारण रूप होती हैं जहॉ तक वे दरिद्रता की सूचक होती है।

दरिद्रता, बेकारी और वेतन की कमी—क्षय-रोग के शिकार प्रधानत वे ही लोग होते हैं जो निर्धन और असहाय होते हैं, जिनको पौष्टिक भोजन नहीं मिलता और जो गदे तथा अधेरे मकानो मे रहते हैं। डा० वारिन ने पता लगाया है कि वेतन की कमी और क्षय रोग साथ साथ चलते हैं। यह बतलाया जा चुका है कि क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति लोगो की सामाजिक तथा आर्थिक दशा के अनुसार न्यूनाधिक होती है। ऊँची श्रेणी और धनिक लोगो मे कम तथा निर्धनों मे अधिक होती है। हरएक शहर मे यही बात मिलती है कि धनवान लोगो मे कम और दरिद्रों मे क्षय-रोग से अत्यधिक मृत्यु होती है। वेतन अच्छा और आय अधिक होने पर लोगो को अच्छा पौष्टिक भोजन मिलता है, वे अच्छे मकानो और वातावरणो मे रहते है, सुखी रहते हैं और उनको चिन्ता कम होती है। आमदनी कम होने से न खाने को पौष्टिक भोजन मिलता है, न रहने को स्वच्छ मकान, निरन्तर चिन्ता घेरे रहती है। फल यह होता है कि ऐसे लोग शीघ्र क्षय-रोग का शिकार बन जाते हैं।

व्यवसाय—क्षय-रोग को व्रवणशील अथवा शान्त क्षय को उभाडनेवाली जितनी बाते कही जाती हैं उनमे से रोगियों के व्यवसाय की ओर अनेक ग्रन्थकारों ने विशेष ध्यान दिया है। इस प्रश्न के औद्योगिक, सामाजिक तथा आर्थिक महत्व पर विचार करते हुये यह स्पष्ट है कि लेखको मे कुछ व्यवसायों के हानिकारक होने के सम्बन्ध मे मतभेद होना स्वाभाविक है। डा० ब्राउनली का कहना है कि क्षय-रोग की उत्पत्ति पर व्यवसाय के प्रभाव के सम्बन्ध मे सतर्क होने की आवश्यकता है। यह सम्पूर्ण समस्या इतनी जटिल है कि यदि अधिक से अधिक सावधानी न रक्खी जाय तो

आँकडो मे कोई तात्पर्य निकालना उतना ही आशकापूर्ण होगा जितना कि किसी धर्म-ग्रथ की व्याख्या करना।

प्रधान कठिनाई यह है कि अकविशेषज्ञ साधारणत मृत्युलेखो से असस्कृत अको को लेकर मृतको के व्यवसाय के अनुसार क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति निकाल लेते हैं और इस बात की जाँच नही करते कि मृत व्यक्तियो ने कितने दिनो तक उन व्यवसायों को किया था। राजयक्ष्मा से पीडित अनेक लोग अपना व्यवसाय बदलते रहते है और मृत्यु होने पर उनका केवल अन्तिम व्यवसाय ही लिखा जाता है। ऐसी दशा मे उस व्यवसाय का न लिखा जाना सम्भव है जो यथार्थ मे उसके रोग के उभडने का कारण होता है।

सामाजिक निर्वाचन (Social selection) की प्रक्रिया जिसके अनुसार लोग व्यवसाय-निर्वाचन करते हैं, इस सम्बन्ध मे बहुत प्रमुख होती है, परन्तु साधारणत लोग इस पर कोई ध्यान नही देते। डा० कवेट का कहना है कि इगलैंड मे होटलो के नौकरो मे क्षय रोग से मृत्यु अधिक होती हैं। कुछ लोग इसका कारण उन लोगो का गृहाबद्ध जीवन और अधिक मदिरापान की प्रवृत्ति बतलायेगे। परन्तु घर के भीतर काम करनेवाले अन्य लोगो मे, क्षय-रोग से इतनी अधिक मृत्यु नही होती। इसमे कोई सन्देह नहीं कि सामाजिक निर्वाचन की प्रक्रिया कार्य कर रही है। निर्बल और अस्वस्थ लोग जिनमे से अनेक को गुप्त या शान्त क्षय-रोग होता है, उन व्यवसायो को पसन्द कर लेते हैं जिनमे परिश्रम कम करना पडता है। यही कारण है कि पुलिसवालो मे क्षय-रोग होने की कम सम्भावना होती है, क्योंकि उस विभाग मे छाँटकर हृष्ट-पुष्ट लोग लिये जाते हैं। डा० ब्राउनली ने इस बात का एक उदाहरण और दिया है।

व्यवसायो मे क्षय-रोग का प्राबल्य निम्नलिखित बातो से हो सकता है—(१) उनमे उत्पन्न धूल से, जो काम करनेवालों के श्वास के साथ उनके शरीर मे प्रवेश करती है, (२) व्यवसायो मे प्रयुक्त पदार्थों से निकलनेवाले हानिकारक वाष्प तथा दुर्गंध से, (३) अस्वच्छ कारखानों में लगातार काम करने से, (४) वेतन की कमी तथा अन्य उन सब बातो से जिनमे प्राणशक्ति और प्रतिरोधशक्ति कम होती है।

राजयक्ष्मा के विकास में धूल एक कारण—चूँकि राजयक्ष्मा एक ऐसा रोग माना गया है जो प्रधानतः श्वास के साथ कीटाणुओं के प्रविष्ट होने से होता है, इसलिए लेखक शताब्दियों से धूल को क्षय-रोग का एक कारण मानते आये हैं। क्षय-रोग अथवा व्यवसायजनित रोगों पर जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं उन सबमें इस बात पर बड़ा जोर दिया गया है कि खनिजपदार्थों धातुओं, वनस्पतियों अथवा पशुओं की धूल से धूसरित व्यवसायों में काम करनेवालों में अन्य लोगों की अपेक्षा क्षय-रोग अधिक होता है। डा० हाफमैन के हाल के एक निबंध से उद्धृत कुछ आँकड़ों से इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है कि धूलधूसरित उद्योगों के करनेवालों में अधिक क्षय-रोग होने का भय होता है। सन् १९०८ या १९०९ ई० में अमेरिका के संयुक्तराज्य के रेजिस्ट्रेशन-विभाग में सब प्रकार के व्यवसायरत व्यक्तियों में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति कुल मृत्यु-संख्या के अनुपात में १४९ प्रतिशत थी और किसानों, बागवालों तथा खेतों में काम करनेवाले मजदूरों में केवल ८७ प्रतिशत थी। परन्तु धातु-धूलमय उद्योगों के करनेवालों में २१ प्रतिशत, खुदाई के काम करनेवालों में ३११ प्रतिशत, मुद्रकों तथा छापेखानेवालों में २९५ प्रतिशत, औजार तथा चाकू-छुरी बनानेवालों में २४१ प्रतिशत, रत्नकारों में १७८ प्रतिशत और लोहारों में १४९ प्रतिशत थी। खनिज-धूलवाले कारखानों में काम करनेवालों में तो और भी अधिक क्षय-रोग होता है। ऐसे उद्योगों के करनेवालों में २१३ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग के कारण हुई थी। कुम्हारों में ३४६ प्रतिशत, मनिहारों में ३०७ प्रतिशत, ईंट और खपड़ेवालों में १२ प्रतिशत और कोयले की खानों में काम करनेवालों में केवल ९ प्रतिशत मृत्यु क्षय रोग के कारण मिली थी। अन्य देशों में भी इसीप्रकार की साक्षी मिलती है।

हानिकारक धूलें—उपरोक्त आँकड़ों से विदित होता है कि सब प्रकार की धूलें राजयक्ष्मा का कारण रूप नहीं होतीं। कोयले की खानों में काम करनेवालों में राजयक्ष्मा अपेक्षाकृत बहुत कम होता है, यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोयले की धूल की पर्याप्त मात्रा श्वास के साथ उनके फेफड़ों तक पहुँचती है, और वहाँ जमा हो जाती है, जैसा कि उनमें फुफ्फुसांगार (Anthracosis) रोग की अधिकता से सूचित होता है। सन १८६३ ई०

में डा० क्यूवन ने लोगो का ध्यान इस ओर दिलाया था और कहा था कि फ्रान्स मे कोयले की धूल से न राजयक्ष्मा होता है और न उससे राजयक्ष्मा के विकास मे कोई सहायता मिलती है। इङ्गलैण्ड मे भी जैसा कि डा० आलिवर ने दिखलाया है, यही दशा पाई जाती है। डा० ब्राउनली का कहना है कि राजयक्ष्मा कोयले की खान मे काम करनेवालो मे अपेक्षाकृत कम होता है। अमेरिका के सयुक्तराज्य मे भी यही बात पाई जाती है। अस्तु, उपलब्ध साक्षी से यह प्रकट होता है कि कोयले की धूल के श्वास-मार्ग के भीतर तक पहुँचने पर भी, कोयले की खानो मे काम करनेवालो मे क्षय-रोग अधिक नही होता।

इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि सडक पर झाड़ू लगानेवालो में तथा कोचवानो मे, श्वास के साथ अधिक धूल अन्दर जाने पर भी राजयक्ष्मा अधिक नही होता। डा० सौमरफिल्ड ने पता लगाया है कि बर्लिन नगर मे सडक पर झाड़ू लगानेवाले मेहतरो मे अन्य लोगों की अपेक्षा राजयक्ष्मा से मृत्यु आधी होती हैं। न्यूयार्क नगर मे जाँच करने पर यह पता लगा है कि अन्य लोगो की अपेक्षा मेहतरो मे क्षय-रोग अधिक नहीं होता। कुछ लोगो ने इससे यह तात्पर्य निकाला है कि सडको पर क्षय-सक्रमण का भय नहीं होता, परन्तु यह बात ठीक नही है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि क्षय-रोग के फैलाने मे धूल एक बहुत बडा साधन होती है। परन्तु मेहतरो मे राजयक्ष्मा की कमी से यह सिद्ध नहीं होता कि सडक की धूल हानिरहित होती है। उनमे क्षय-रोग कम होने के उपार्जित रोगक्षमता इत्यादि अन्य कारण होते हैं।

दूसरी प्रकार की धूल, जिसका क्षयोत्पत्ति पर कोई प्रभाव नही होता, चूने की धूल है। इङ्गलैण्ड मे जाँच करने पर पता लगा है कि चूने के काम करनेवालो मे राजयक्ष्मा अधिक नही होता। इसके विपरीत पत्थर के काम करनेवालो मे क्षय रोग विशेष रूप से होता है। डा० हाल्टर और डा० गार्वे को जर्मनी मे यही बात मिली है। डा० फिसक ने लिखा है कि स्पेन मे चूना के काम करनेवालों में गदे मकानो मे रहने और अपुष्ट भोजन मिलने पर भी राजयक्ष्मा कम होता है। उनका विश्वास है कि उन लोगो की इस रोग-क्षमता का कारण चूने की धूल का श्वास के साथ प्रविष्ट होना है। अमेरिका

के संयुक्तराज्य मे हाफमैन को इस बात की प्रचुर साक्षी मिली है कि चूना काम करनेवालो में क्षय-रोग कम होता है।

उपरोक्त कुछ धूलो को छोडकर अन्यप्रकार की धूले राजयक्ष्मा विकास मे कारणरूप होती है। अनेक लोगो की जाँच से यह विदित हुआ है कि सबसे अधिक भयकर धूल वह होती है जिसमे अधिक बालुकाकण होते है। धातुधूल भी बुरी होती है। धातुओ मे सबसे कम हानिकारक धूल लोहे की होती है। अभी तक इस बात का सन्तोषजनक ज्ञान नही हुआ कि कोयले और चूने की धूले क्यो हानिरहित होती हैं और कॉच, पत्थर, टीन ताँबा इत्यादि की धूले क्यो हानिकारक होती हैं। कुछ लोगो की प्रयोगात्मक खोजो से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ धूले श्वास के साथ प्रविष्ट होने पर फेफड़ो से तुरन्त निकाल दी जाती हैं और जो धूल फेफडो से तुरन्त नहीं निकाली जा सकती उनसे क्षय-रोग के विकसित होने मे सहायता मिलती है।

अहितकारक वाष्पों का प्रभाव—समय समय पर उन व्यवसायों को जिनमे काम करनेवालो को बुरे वाष्प सूँघने पडते हैं, क्षय-रोग का कारणरूप बताया गया है। परन्तु अक-साक्षी से इस मत का समर्थन नहीं हुआ है। गत योरोपीय महाभारत मे सहस्रो सैनिको को विभिन्न प्रकार के विषैले वाष्पो का आक्रमण सहना पडा था। यह देखा गया था कि जो लोग वाष्प-आक्रमण से बच जाते थे, उनमे अन्य फुप्फुस रोग तो हो जाते थे, परन्तु क्षय-रोग कम होता था। इस अवसर पर मनुष्यो मे इस बात की जाँच करने का बडा अच्छा सुयोग मिल गया था कि विषैले वाष्पो का क्षय-रोग से कारण रूपी क्या सम्बन्ध है। उस समय यह स्पष्ट विदित होगया था कि विषैले वाष्प क्षय-रोग का कारणरूप नही होते।

वेतन की कमी का प्रभाव—अस्तु, इस विषय पर एक सरसरी निगाह डालने मे ऐसा प्रतीत होता है कि केवल धातुज और कुछ खनिज धूलवाले व्यवसायो को छोडकर व्यवसाय का स्वत क्षय-रोग के विकास पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। एव इन व्यवसायों में भी कुछ महत्वपूर्ण अपवाद होते हैं, जैसा कि मदक, कोयला, चूना इत्यादि की धूल के सम्बन्ध में बताया जा चुका है।

परन्तु जाँच करने से यह पता लगा है कि श्रमिकों की आर्थिक दशा और क्षय-रोग का निश्चयात्मक सम्बन्ध होता है। अमेरिका के संयुक्तराज्य

में क्या न प्रविष्ट किया जाय। गिनीपिग, खरगोश इत्यादि पशुओं में जिनमें स्वाभाविक क्षय रोग बहुत कम होता है, प्रयोगोत्पादित सक्रमण से केवल अर्बुदाकार यक्ष्म उत्पन्न होते हैं, जो कि रक्त-नाडीशून्य सेल समूह होते हैं। परन्तु मनुष्यों के स्वयमोत्पन्न राजयक्ष्मा मे फेफडो मे उत्पादक और श्रावक प्रदाही प्रक्रिया प्रधान होती है जिसमे विशिष्ट क्षयी सेलवृद्धि कभी होती है और कभी नही भी होती। दूसरे शब्दों मे यह कह सकते हैं कि प्रयोगोत्पादित सक्रमण से पशुओं मे सर्वाङ्गिक अथवा बजरीला क्षय होता है जो मनुष्यों में बहुत कम पाया जाता है।

डा० रिवार्ट ने पशुओं के प्रयोगोत्पादित यक्ष्मा मे और मनुष्यों के राजयक्ष्मा मे विशेष भेद किया है। इसमे कोई सदेह नही कि धूल मे मिलाकर क्षय-कीटाणुओं को सुँघाने से पशुओं के फेफडो मे यक्ष्म उत्पन्न हो जाते है, परन्तु इसप्रकार जो रोग उत्पन्न होता है, वह मनुष्य के राजयक्ष्मा रोग के सदृश नही होता। दूसरी बात यह भी है कि जब तक और प्रमाणो से सिद्ध न किया जाय तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्यो मे सक्रमण इसीप्रकार होता है। जिन दशाओं मे मनुष्य क्षय-कीटाणुओं को श्वास-मार्ग से ग्रहण करते हैं, वे प्रयोग की दशाओं से कही भिन्न होती हैं। न यह सिद्ध किया जा सकता है कि रोग होने से पूर्व मनुष्यो मे श्वास-मार्गद्वारा क्षय-कीटाणु प्रविष्ट होते हैं और न यह कि कीटाणु प्रविष्ट होकर उन्ही इन्द्रियों में स्थापित होते हैं जिनमे रोग होता है। डा० बैकमीस्टर का कहना है कि फुफुस क्षय केवल प्रौढ मनुष्यों मे होता है। यह रोग पशुओं मे न अपने आप होता है और न कभी प्रयोगद्वारा उत्पन्न किया जा सका है।

प्रयोगद्वारा ज्ञात बातें मनुष्यों के सम्बन्ध मे तभी लागू हो सकती हैं जब पहले पशुओं मे प्रयोगद्वारा मनुष्यों के राजयक्ष्मा के सदृश रोग उत्पन्न कर लिया जाय। पशुओं मे प्रयोगद्वारा अन्य प्रकार के क्षय रोग उत्पन्न करने से कोई विशेष बात सिद्ध नही होती, क्योंकि उनमे जो अङ्ग-विकार होते हैं, वे मनुष्य के राजयक्ष्मा के अङ्ग-विकारो से कही भिन्न होते हैं।

यह प्रश्न अभीतक सन्तोषपूर्वक हल नही हुआ है कि क्षय-कीटाणुओं के सक्रमण के बाद राजयक्ष्मा रोग जो बाल्यावस्था मे और पशुओं मे नहीं होता, प्रौढावस्था मे मनुष्यों मे क्यों हो जाता है? फ्रूएड, हार्ट, बैकमीस्टर तथा अन्य लोगो का यह विश्वास है कि पहली पसली के छोटी होने मे

सातवाँ परिच्छेद

क्षयरोग की उत्पत्ति

रोगक्षमता की विचित्र घटना

प्रयोगोत्पादित यक्ष्मा और स्वयमोत्पन्न राजयक्ष्मा में भेद— प्रयोगद्वारा किसी पशु को संक्रमित करने पर यह कहा जा सकता है कि उस पशु में उस संक्रमण से क्या क्या विकार उत्पन्न होंगे। उदाहरणार्थ, गिनीपिग नामक पशु के उदर की कला में क्षय कीटाणुओं को प्रविष्ट करने पर उस कला में शीघ्र क्षयी प्रदाह हो जाता है। उसके बाद प्लीहा, यकृति इत्यादि उदर की अन्य इन्द्रियों में क्षय-रोग होकर अन्त में पशु की मृत्यु हो जाती है। परन्तु अपने आप संक्रमण होने पर भविष्य में क्या परिणाम होगा, यह निश्चयपूर्वक नहीं बताया जा सकता। सम्भव है, कि उस संक्रमण से जीवनपर्यन्त उस मनुष्य के शरीर में कोई भी विकार उत्पन्न न हो। वास्तव में जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अधिकांश लोगों में बाल्यावस्था में क्षय-संक्रमण हो जाता है और उससे उनकी कोई हानि नहीं होती। मृत्यु के बाद शवच्छेद करने पर जिन लोगों के शरीरों में सुस्पष्ट क्षयी-विकार मिलते हैं उनमें से अधिकांश को अपने जीवनकाल में उनके होने का पता तक नहीं चलता। इसके विपरीत कुछ लोगों ने अथवा यह कहना चाहिए कि केवल थोड़े से ही लोगों में संक्रमण से शीघ्र या देर में क्षय-रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

पशुओं के प्रयोगोत्पादित क्षय-रोग और मनुष्यों के स्वयमोत्पन्न राज-यक्ष्मा (फुप्फुस क्षय) में केवल यही एक अन्तर नहीं होता।

ऐसा प्रतीत होता है कि राजयक्ष्मा (फुप्फुस क्षय) केवल मनुष्यों में ही होता है और यदि सम्भवतः पशुओं में होता भी हो तो बहुत विरल होता है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रयोगशाला में पशुओं में कभी नहीं होता। चाहे क्षय कीटाणुओं को त्वचा बेधकर, भोजन के साथ, अथवा श्वास के साथ किसी भांति से उनके शरीर

में क्यों न प्रविष्ट किया जाय। गिनीपिग, खरगोश इत्यादि पशुओं में जिनमे स्वाभाविक क्षय रोग बहुत कम होता है, प्रयोगोत्पादित सक्रमण से केवल अर्बुदाकार यक्ष्म उत्पन्न होते हैं, जो कि रक्त-नाडीशून्य सेल समूह होते हैं। परन्तु मनुष्यों के स्वयमोत्पन्न राजयक्ष्मा में फेफड़ों मे उत्पादक और श्रावक प्रदाही प्रक्रिया प्रधान होती है जिसमे विशिष्ट क्षयी सेलवृद्धि कभी होती है और कभी नही भी होती। दूसरे शब्दों मे यह कह सकते हैं कि प्रयोगोत्पादित सक्रमण से पशुओं मे सर्वाङ्गिक अथवा वजरीला क्षय होता है जो मनुष्यो मे बहुत कम पाया जाता है।

डा० रिवार्ट ने पशुओं के प्रयोगोत्पादित यक्ष्मा मे और मनुष्यो के राजयक्ष्मा में विशेष भेद किया है। इसमे कोई सन्देह नही कि धूल मे मिलाकर क्षय-कीटाणुओं को सुँघाने से पशुओं के फेफडो मे यक्ष्म उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु इसप्रकार जो रोग उत्पन्न होता है, वह मनुष्य के राजयक्ष्मा रोग के सदृश नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि जब तक और प्रमाणों से सिद्ध न किया जाय तब तक यह नही कहा जा सकता कि मनुष्यों मे सक्रमण इसीप्रकार होता है। जिन दशाओं मे मनुष्य क्षय-कीटाणुओं को श्वास-मार्ग से ग्रहण करते हैं, वे प्रयोग की दशाओं से कही भिन्न होती हैं। न यह सिद्ध किया जा सकता है कि रोग होने से पूर्व मनुष्यो मे श्वास मार्गद्वारा क्षय कीटाणु प्रविष्ट होते हैं और न यह कि कीटाणु प्रविष्ट होकर उन्ही इन्द्रियों मे स्थापित होते हैं जिनमे रोग होता है। डा० वैक्मीस्टर का कहना है कि फुफुस क्षय केवल प्रौढ मनुष्यो मे होता है। यह रोग पशुओं मे न अपने आप होता है और न कभी प्रयोगद्वारा उत्पन्न किया जा सका है।

प्रयोगद्वारा ज्ञात बाते मनुष्यों के सम्बन्ध मे तभी लागू हो सकती हैं जब पहले पशुओं मे प्रयोगद्वारा मनुष्यों के राजयक्ष्मा के सदृश रोग उत्पन्न कर लिया जाय। पशुओं में प्रयोगद्वारा अन्य प्रकार के क्षय रोग उत्पन्न करने से कोई विशेष बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि उनमे जो अङ्ग-विकार होते हैं, वे मनुष्य के राजयक्ष्मा के अङ्ग-विकारो से कहीं भिन्न होते हैं।

यह प्रश्न अभीतक सन्तोषपूर्वक हल नहीं हुआ है कि क्षय-कीटाणुओं के सक्रमण के बाद राजयक्ष्मा रोग जो बाल्यावस्था मे और पशुओं में नही होता, प्रौढावस्था में मनुष्यो मे क्यों हो जाता है? फ्रूण्ड, हार्ट, वैक्मीस्टर तथा अन्य लोगों का यह विश्वास है कि पहली पसली के छोटी होने से

अथवा पहली उपपर्शुका के अस्थिरूप होने से फुफुस शिखर पर दबाव पडता है और इससे वहाँ रोग होता है। परन्तु यह बताया जा चुका है कि इस सिद्धान्त मे इस प्रश्नसम्बन्धी सब बाते हल नही होती।

राजयक्ष्मा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने के लिए और कई एक सिद्धान्त उपस्थित किये गये हैं जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं —

सक्रमण की तीव्रता—शरीर मे क्षय-कीटाणुओ के प्रवेश करने पर रोग केवल तभी होता है जब उनकी सख्या और रोगोत्पादक शक्ति अधिक होती है और उनको ग्रहणशील ततुओ मे टिकने का स्थान मिल जाता है। अधिकाश कीटाणुकृत रोगो के अनुभव से यह विदित होता है कि एक साधारण पशु किसी सख्या तक कीटाणुओ का प्रतिरोध कर सकता है और उस सख्या तक कीटाणुओ के उसके शरीर मे प्रविष्ट होने से रोग उत्पन्न नही होता। यह स्पष्ट है कि स्वयमोत्पन्न सक्रमण मे कीटाणुओ की सख्या का पता नही चल सकता। किन्तु प्रयोगद्वारा यह ज्ञात हुआ है कि जब सक्रमण की मात्रा कम होती है तो पशु रोग होने से बच जाता है। डा० कार्वेट ने पता लगाया है कि बछडो मे पशु क्षय-कीटाणुओ की थोडी मात्रा अर्थात कम सख्या में पिचकारी लगाने से केवल स्थानबद्ध और परिमित विकार उत्पन्न होता है जो शीघ्र अच्छा हो जाता है और बछडे थोडे समय के लिए अस्वस्थ होकर बाद को नीरोग बने रहते हैं। कीटाणुओ की मध्यम मात्रा का अनिश्चित परिणाम होता है। अधिक मात्रा मे पिचकारी लगाने से लगभग सदा उग्र सर्वांगिक क्षय होता है जिससे कुछ दिनों मे पशु की मृत्यु हो जाती है। डा० गिल्बर्ट और ग्रेग ने पता लगाया है कि गिनीपिग मे सक्रमण उत्पन्न करने के लिए १० से १८० तक क्षय-कीटाणुओ की आवश्यकता होती है। डा० गिल्बर्ट और वेब ने पता लगाया है कि कीटाणुओ की इस सख्या मे बच्चो मे सक्रमण तो हो जाता है, परन्तु रोग नही होता।

अनेक लोगो का कहना है कि कीटाणुओ के शरीर मे प्रवेश करने के विभिन्न मार्गो के अनुसार सक्रमण के परिणाम मे बडा अन्तर हो जाता है। ८७ गिनीपिग पशुओ मे श्वास के साथ क्षय कीटाणुओं को प्रविष्ट करने पर डा० फिंडेल को पता लगा कि ५० मे भी कम कीटाणुओ के इसप्रकार शरीर मे प्रवेश करने से रोग उत्पन्न हो जाता है और पशुओ के बच्चों में तो

केवल एक ही कीटाणु से रोग हो जाता है। इसके विपरीत अन्न-मार्ग से संक्रमण उत्पन्न करने के लिए बहुत बड़ी संख्या में कीटाणुओं की आवश्यकता होती है। डा० फिडेल ने १४ गिनीपिग पशुओं को १९ हजार से ३ लाख ८७ हजार तक क्षय-कीटाणु खिलाये थे। १७४ दिन तक उनको निरीक्षण में रखने पर भी उनको कोई क्षयी विकार नहीं मिले। अनुभव में उनको ज्ञात हुआ कि कम से कम ३॥ करोड़ कीटाणु खिलाने से अन्न मार्ग से संक्रमण हो सकता है। इससे विदित होता है कि कीटाणुओं की जिस संख्या से श्वास-मार्ग में संक्रमण होता है, अन्न-मार्ग से संक्रमण उत्पन्न करने के लिए उससे ६० लाख गुनी संख्या में कीटाणुओं की आवश्यकता होती है।

प्रयोगद्वारा ज्ञात ये मनोरञ्जक बातें मनुष्यों के प्राकृतिक संक्रमण के सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से लागू नहीं हो सकतीं। ये प्रयोग कीटाणुओं के शुद्ध शस्यों (Cultures) से किये गये थे, परन्तु मनुष्य के शरीर में कीटाणुओं के ऐसे शुद्ध शस्यों का प्रवेश कभी नहीं होता। श्वास या भोजन के साथ अथवा त्वचा को वेधकर, चाहे किसी मार्ग से कीटाणु शरीर में प्रवेश करें, वे सदा धूल, कफ और भोजन के पदार्थ इत्यादि में सम्मिश्रित रहते हैं। इसके अतिरिक्त उनके साथ अन्य जाति के कीटाणु भी रहते हैं, जिनका संक्रमण के अन्तिम परिणाम पर बड़ा प्रभाव हो सकता है। यह भी बताया जा चुका है कि मनुष्यों में बाल्यावस्था में भी क्षय-संक्रमण के प्रति बड़ी प्रतिरोधशक्ति होती है और इसी कारण हर संक्रमण के बाद रोग नहीं होता। यह विश्वास किया जाता है और युक्तिसंगत भी प्रतीत होता है कि कीटाणुओं की अल्पमात्रा में बार बार और अधिक मात्रा में केवल एक ही बार संक्रमण होने से रोग उत्पन्न हो सकता है।

युक्तिपूर्वक ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता कि कभी किसी मनुष्य के श्वास के साथ, चाहे वह क्षय-रोगी के सन्निकट ही क्यों न रहता हो, इतने कीटाणु उसके शरीर में प्रवेश कर सकते हैं, जितने कीटाणुओं की मनुष्य के समान डीलडौल के पशु को संक्रमित करने के लिए आवश्यकता होगी। इससे यह प्रतीत होता है कि मनुष्यों के प्राकृतिक संक्रमणों में कीटाणुओं की संख्या प्रायः रोग उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं होती। परन्तु दूसरी ओर यह भी भलीभाँति ज्ञात हो चुका है कि मनुष्य शरीर

मे क्षय-कीटाणुओ की वशवृद्धि होती है। अतएव थोडे से कीटाणुओ से भी अनुकूल अवस्था मे रोग उत्पन्न हो सकता है। डा० कार्वेट कम सख्या मे कीटाणुओ के हानिकारक न होने का निम्नलिखित कारण मानते हैं। कीटाणुओ के प्रवेश करने पर शरीर की रक्षाशक्तियाँ प्रेरित होकर जाग्रत हो जाती है और वे थोडे कीटाणुओ के प्रतिरोध के लिए पर्याप्त होती हैं। परन्तु जब कीटाणुओ की सख्या अधिक होती है तो कीटाणु शरीर की रक्षाशक्तियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। बच्चों मे चिकित्सानुभव (Clinical experience) से इस बात की कुछ अश तक पुष्टि होती है। अधिकाश बालक शिशुकाल मे अल्पसख्यक कीटाणुओं से सक्रामित होते हैं और उस सक्रमण से उनको कोई हानि नही होती। परन्तु थोडे से बालको मे, जिनमे सक्रमण की मात्रा अधिक होती है, उग्र व्यापक क्षय-रोग हो जाता है। हल्के सक्रमण से रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है जिससे कीटाणुओ की वृद्धि रुक जाती है। परन्तु कीटाणुओ की सख्या अधिक होने पर वे रोगक्षमता पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और अपनी सख्या मे वृद्धि करके रोग उत्पन्न कर देते हैं।

इस मत से क्षय-कीटाणुओ से परिपूर्ण बडे बडे नगरो में रहनेवाले बच्चो की रोगक्षमता की बात तो समझ मे आ सकती है, परन्तु इस रहस्य पर कोई प्रकाश नही पडता कि जिस व्यक्ति मे बाल्यकाल मे अल्पसख्यक कीटाणुओं से सक्रमण हो चुका है, कीटाणुओ के वर्षो तक चुपचाप पडे रहने के बाद, प्रौढावस्था मे उसमे फेफडे का क्षय क्यो हो जाता है? इसकी व्याख्या क्षय-प्रवणशीलता या क्षयी-प्रवृत्ति के अनेक सिद्धान्तो से की जाती है, जिनकी विवेचना पूर्व परिच्छेद मे की जा चुकी है।

राजयक्ष्मा की नींव बाल्यावस्था में पड जाती है—कुछ दिनो से यह सिद्धान्त कि फुफुस क्षय बाल्यावस्था मे उपार्जित यक्ष्मा का विलम्बित विकास होता है, प्रचलित हो रहा है। डा० बेहरिंग का मत है कि केवल एक सक्रमण से राजयक्ष्मा नही होता और उनका यह मत गिनीपिग पशुओं पर किये गये प्रयोगों के आधार पर अवलम्बित है। उनका कहना है कि राज-यक्ष्मा उस मनुष्य मे पुनर्संक्रमण होने से होता है, जिसको शिशुकाल मे एक बार पहले क्षय-सक्रमण हो चुका है। उनका यह भी मत है कि बाल्यावस्था का यह प्रथम सक्रमण प्रधानत क्षयी गायों के दूध के द्वारा होता है। क्षय-

कीटाणु पाचक संस्थान के मार्ग से होकर लसिका-ग्रन्थियों में पहुँच जाते हैं और वहाँ वे वर्षों तक निष्क्रिय अवस्था में बने रहते हैं। प्रौढावस्था में जब किसी रोग से शरीर निर्बल हो जाता है तो उनकी रोगोत्पादक शक्ति फिर प्रबल होकर उनसे फेफड़ों में रोग हो जाता है। फेफड़े का क्षय उस वृत्त का अन्तिम फल होता है, जिसका बीजारोपण शिशुकाल में हो जाता है।

फुफ्फुस क्षय के बारे में डाक्टर हैम्बर्गर का भी यही विचार है कि फेफड़े का क्षय पुराने निवृत्त या गुप्त क्षय का पुनरुद्दीपन होता है, पर इसके लिये नये संक्रमण का होना आवश्यक नहीं है। उनका कहना है कि बालकों में क्षय-रोग का रूप प्रौढावस्था के रोग के रूप से भिन्न होता है। फेफड़े का क्षय जो प्रौढावस्था में बहुत होता है, बच्चों में बहुत कम होता है। परन्तु यह भली प्रकार विदित है कि अधिकांश लोगों में बाल्यावस्था में क्षय संक्रमण हो जाता है। ऐसी दशा में यह सिद्धान्त निकालना न्यायसंगत प्रतीत होता है कि राजयक्ष्मा के होने से कई वर्ष पूर्व क्षय-संक्रमण हो जाता है।

हैम्बर्गर की राय में फुफ्फुस क्षय की गति उपदंश के समान होती है जिसमें रोग शान्त रह-रहकर फिर उभड़ता है। प्राथमिक विकार बाल्यकाल में दस वर्ष की आयु से पूर्व हो जाता है। शैशवकाल में यदि संक्रमण की मात्रा अधिक अथवा शरीर की प्रतिरोधशक्ति कम होती है तो इस प्राथमिक क्षयी-विकार से या तो उग्र व्यापक क्षय हो जाता है अथवा क्षय-कीटाणु रक्त में मिलकर अन्य स्थानों में पहुँच जाते हैं। परन्तु अधिकांश लोगों में यह प्राथमिक क्षयी-विकार हल्का होता है और इसलिए या तो यह बिलकुल अच्छा हो जाता है या सुप्त अवस्था में पड़ा रहता है। जिनमें क्षय-कीटाणु स्थानान्तरित होकर शरीर के विभिन्न भागों में पहुँच जाते हैं, उनमें द्वितीय श्रेणी के क्षयी विकारों का, लसिका ग्रन्थियों, अस्थियों और संधियों के क्षय के रूप में प्रादुर्भाव होता है। दस वर्ष के बाद यक्ष्मा के विभिन्न प्रकार के पुरातन क्षय, स्वरयंत्र का क्षय, कुछ संधि-क्षय, वृक्क-क्षय, त्वचा क्षय, पार्श्वकला का क्षय इत्यादि तृतीयक रूपों का प्रादुर्भाव होता है। क्षय-रोग के ये तृतीयक रूप शिशुकाल में कभी नहीं मिलते और उपदंश के तृतीयक रूपों की भाँति रोग के प्रारम्भ के वर्षों बाद प्रकट होते हैं।

हैम्बर्गर के मतानुसार राजयक्ष्मा बाल्यावस्था में उपार्जित क्षय का

पुनरुद्दीपन होता है जो वर्षों तक शान्त रहने के बाद किसी कारणवश अनुकूल अवस्था पाकर उभड आता है।

क्षयी-विकारों की गुप्तावस्था (Latency of tuberculous lesions)—इस सिद्धान्त पर पहुँचने से पूर्व कि राजयक्ष्मा (प्रौढावस्था का फुफुस क्षय) बाल्यावस्था मे उपार्जित क्षय-सक्रमण का पुनरुद्दीपन होता है, यह देखना है कि जीवित और विषैले क्षय-कीटाणु विना किसी रोग-लक्षण के उत्पन्न किये शरीर मे वर्षो तक रह सकते हैं अथवा नही। प्रसार सम्बन्धी परिच्छेद मे यह बताया जा चुका है कि चाहे मृत्यु किसी कारण से हो, शवों की परीक्षा करने से और जीवित मनुष्यो मे यक्ष्मिन-परीक्षा से यह निस्सन्देह सिद्ध हो चुका है कि ६० से ९५ प्रतिशत लोगों के शरीरो में किसी न किसी भाग मे क्षयी विकार होते हैं और उनमे से अधिकाश लोग स्वस्थ बने रहते हैं। यह भी बताया जा चुका है कि इन गुप्त क्षयी-विकारों की सख्या प्रथम वर्ष मे बहुत कम होती है, परन्तु प्रतिवर्ष क्रमश बढती जाती है और प्रौढावस्था पहुँचने तक ९० प्रतिशत हो जाती है।

पशुओं पर प्रयोग करने से एक महत्वपूर्ण बात यह और ज्ञात हुई है कि क्षय-कीटाणु विना किसी स्थूल या सूक्ष्म-विकार के उत्पन्न किए हुए दीर्घकाल तक शरीर मे रह सकते हैं। अनेक विशेषज्ञो ने पता लगाया है कि ऐसा मनुष्यों मे भी होता है। बर्टिल ने इस दशा को क्षय-रोग की लासिकीय गुप्तावस्था (Lymphoid Latency) का नाम दिया है। उन्होंने कुछ गिनीपिग पशुओं को कई सप्ताह तक क्षय-रोगियों के साथ रक्खा था, और उनको रोगियों के कमरे मे स्वतन्त्रतापूर्वक विचरने की और रोगियों के साथ खेलने की छुट्टी दे रक्खी थी। इसके बाद उनको उस समय तक निरीक्षण मे रक्खा, जबतक उनकी स्वाभाविक मृत्यु न होगई। जिनमे बीच मे क्षय-रोग के लक्षण व्यक्त होगये उनको उसी समय मार डाला गया। इन पशुओं के शवों की परीक्षा करने पर २७ मे से १७ मे कोई स्थूल क्षयी-विकार नही मिले, फिर भी उनकी उदर और वक्ष की लसिका-ग्रन्थियों को निकालकर जब अन्य पशुओं मे पिचकारी लगाई गई तो रोग उत्पन्न होगया। ठीक इसी प्रकार की बातें मनुष्य की चीरकर निकाली गई लसिका-ग्रन्थियों के सम्बन्ध में देखी गयी हैं। यद्यपि जॉच करने पर उनमे कोई स्थूल या सूक्ष्म विकार नही दिखाई पडे, तथापि पशुओं में उनकी पिचकारी लगाने पर क्षय-रोग

उत्पन्न होगया। सन् १८९० ई० मे लुमिस ने पता लगाया था कि क्षयरहित मनुष्यो मे से २६६ प्रतिशत लोग क्षय-कीटाणु के गुप्तग्राहक होते हैं। इससे भी अधिक प्रतिशत सख्या मे कालमेटी को क्षयरहित रोगियो के अस्पतालों मे मरे हुये बच्चों मे क्षय-कीटाणु गुप्तावस्था मे मिले थे। न इन बच्चो के जीवन-काल मे क्षय-रोग के कोई लक्षण प्रकट हुए थे और न मरने पर इनके शरीर मे कोई क्षयी विकार पाये गये थे। इन बातो से उन्होंने यह तात्पर्य निकाला है कि लसिका ग्रन्थियो के सक्रमणों मे साधारणत गुप्त रहने की प्रवृत्ति होती है।

क्षय-रोग की यह लासिकीय गुप्तावस्था वर्षों तक—यथार्थ म जीवन भर—रहती है, परन्तु जैसे-जैसे आयु बढती है, क्षय-कीटाणु स्थानाबद्ध होते जाते हैं और अभिभूत तन्तुओं मे से किसी न किसी स्थान पर सूक्ष्म विकार प्रकट होते जाते हैं। बहुत मे लोगो मे उनके जीवन-काल मे क्षय रोग के कोई लक्षण व्यक्त नही होते, परन्तु अन्य कारणों मे मृत्यु होने के बाद जब उनके शरीर की परीक्षा की जाती है तो उनकी लसिका-ग्रन्थियो, फेफडो और पार्श्व-कला मे जीवित और विषैले क्षय-कीटाणु मिलते हैं। जीवित और विषैले क्षय-कीटाणु केवल पके हुये क्षयी विकारो मे ही नहीं, बल्कि सूत्रोत्पादक (Fibroid) और ककडीले (Calcified) विकारों मे भी पाये जाते है। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि क्षयी-विकारो के ककडीले हो जाने मे क्षय-कीटाणुओ की मृत्यु नही होती। अनेक विशेषज्ञों की खोज मे पता लगा है कि मनुष्य और पशुओं के वक्षस्थल और उदर की लसिका ग्रन्थियो के खटिक-सचित ककडीले भाग मे विषैले और जीवित क्षय-कीटाणु मिलते हैं। ककडीले पदार्थ प्रधानत प्रौढावस्था में पाये जाते हैं और दो वर्ष से कम आयुवाले बच्चो मे बहुत कम मिलते है। इनमे से कुछ तो पूर्णतया सौत्रिकतन्तु के घेरे मे घिरे होते हैं, परन्तु अधिकाश पूर्ण रूप मे घिरे नहीं होते, इसलिये जब कभी शरीर की प्रतिरोधशक्ति कम हो जाती है, तो कीटाणु उनमे बाहर निकलकर रक्त या लसिका मे पहुँच जाते हैं और उनके प्रवाह के साथ अन्य किसी स्थान पर पहुँचकर रोग उत्पन्न कर देते हैं। जहाँ एक ओर इनके स्थानान्तरित होने से अन्य स्थानो मे आत्म-संक्रमण (Autoinfection) होता है वहाँ दूसरी ओर साधारणत इनसे रोगक्षमता भी उत्पन्न होती है जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा।

इसप्रकार के क्षयी-विकारो के विस्तृत प्रसार को देखते हुये और इस बात पर विचार करते हुए कि क्षय-कीटाणु बिना किसी शारीरिक विकार उत्पन्न किये शरीर के तन्तुओ मे वर्षो तक जीवित बने रहते हैं, गुप्त क्षय का मानना न्याय-सगत प्रतीत होता है। चिकित्सको को यह स्मरण रखना चाहिये कि इन गुप्त क्षयी-विकारो के इलाज की कोई आवश्यकता नही होती। जब इन गुप्त कीटाणुओ से उत्पन्न रोगक्षमता और मनुष्य की प्रतिरोधशक्ति का साम्य किसी कारणवश नष्ट हो जाता है तो इन कीटाणुओ के पुनरुत्तेजित होने से राजयक्ष्मा हो जाता है। इस आत्म-सक्रमण के स्थानान्तरित होने से जो रोग होता है, वह कहाँ होगा और उसका क्या रूप होगा, यह बात इस बात पर उतनी निर्भर नही होती कि क्षय कीटाणु किस स्थान से स्थानान्तरित होते है जितनी कि उस व्यक्ति की शरीर की रचनासम्बन्धी विशेपताओ पर।

रोगक्षमता—पाल रोमर द्वारा प्रतिपादित क्षयोत्पत्ति का सिद्धान्त जो हाल मे अधिक मान्य होता जाता है और जिसका आधार भी प्रकटत सुदृढ प्रतीत होता है, यह है कि राजयक्ष्मा बाल्यावस्था मे उपार्जित क्षय-सक्रमण से उत्पन्न क्षय-रोग के प्रति रोगक्षमता की एक अभिव्यक्ति होती है।

अन्य सक्रामक रोगो के सम्बन्ध मे यह देखा गया है कि रोग का एक बार आक्रमण होने पर उससे रोगक्षमता उत्पन्न होने के कारण उस रोग के कीटाणुओ से दुबारा सक्रमण नहीं होता। यह बात क्षय-रोग के सम्बन्ध मे भी ठीक प्रतीत होती है। बाल्यावस्था मे हल्का क्षय-सक्रमण हो जाने से शरीर मे कुछ रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है जिससे फिर बाहरी क्षय कीटाणुओ से दुबारा सक्रमण नहीं होता। जिस व्यक्ति मे बाल्यावस्था मे क्षयी-विकार उत्पन्न होकर निवृत्त या शान्त हो जाते हैं वह क्षय-कीटाणुओ के प्रति रोगक्षम हो जाता है।

रोगक्षमता के प्रयोगप्राप्त प्रमाण—कॉक की खोज मे यह सिद्ध हो चुका है कि प्रयोगरूप मे क्षय-कीटाणुओ को पिचकारी (Inoculation) द्वारा शरीर में प्रविष्ट करने से पशुओं में रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है। अन्य कई लोगो ने भी इसका समर्थन किया है। किसी स्वस्थ गिनीपिग मे क्षय कीटाणुओ का निवेशन करने पर प्रवेश-व्रण कुछ दिनो मे भर जाता है और बाहर से देखने मे अच्छा हो जाता है। परन्तु १० से १४ दिन बाद उस निवेशन स्थान पर एक गिल्टी बन जाती है जो शीघ्र पककर फूट जाती है और

वहाँ एक व्रण बन जाता है जो पशु की मृत्यु तक अच्छा नही होता। परन्तु किसी क्षयी पशु मे क्षय-कीटाणुओं की पिचकारी लगाने पर परिणाम भिन्न होता है। प्रवेशव्रण तो अच्छा हो जाता है, पर गिल्टी नहीं बनती और कुछ दिन के बाद प्रवेशस्थान कडा और लगभग आध इञ्च के व्यास मे काला-सा हो जाता है। कुछ दिन और बीतने पर उस स्थान मे गलाव पड जाता है। गलित तन्तु छूटकर एक शुद्ध व्रण बन जाता है जो शीघ्र अच्छा हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्वस्थ पशुओं को सक्रामित करने पर प्रादेशिक लसिका-ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं, परन्तु क्षयी पशुओ मे नही फूलती।

इस सम्बन्ध मे रामर और हैम्बर्गर ने जो कार्य किया है उससे क्षय-सक्रमणसम्बन्धी विचार मे बहुत कुछ परिवर्तन होगया है और उनसे क्षय-रोग से बचने के जिन उपायो की ओर निर्देश होता है वे वास्तव मे क्रान्तिकारी हैं। उन्होने पता लगाया है कि क्षय-रोग मे पुनर्सक्रमण उतना ही कठिन एव असम्भव होता है जितना उपदश रोग में। उन्होने क्षय कीटाणुओ को त्वचा वेधकर, भोजन के साथ, श्वास के साथ इत्यादि सभी मार्गों से शरीर मे प्रविष्ट करके सक्रमण उत्पन्न करने की चेष्टा की, परन्तु क्षयी पशुओं मे कोई नया क्षयी-विकार नहीं उत्पन्न हो सका। इसके विपरीत स्वस्थ पशुओं में सक्रमण होकर रोग से उनकी मृत्यु होगई। उन्होने न केवल गिनीपिग और खरगोशों ही मे, बल्कि भेड, कुत्त और बन्दरो मे भी सक्रमण उत्पन्न करने की चेष्टा की, परन्तु सफलता प्राप्त नहीं हुई। रोमर को पता लगा कि क्षय-कीटाणुओं की जिस मात्रा से एक स्वस्थ भेड मे सक्रमण होकर आठ सप्ताह मे व्यापक क्षय से उसकी मृत्यु हो जाती है, उस मात्रा से एक क्षयी भेड की कुछ हानि नही होती। बन्दरो में भी यही बात पाई गई। रोमर की खोज से यह विदित होता है कि यह रोगक्षमता वश-परम्परा द्वारा अन्तरित नही होती, यहाँ तक कि गर्भवती माता मे मौजूद होने पर भी सन्तान मे नही पहुँचती।

रोमर और हैम्बर्गर की प्रयोगरूपी खोज से एक और महत्त्वपूर्ण बात यह ज्ञात हुई है कि यदि पुनर्संक्रमण मे कीटाणुओं की मात्रा कम होती है तो रोगक्षमता पूर्ण मिलती है और प्रवेशव्रण बहुत शीघ्र अच्छा हो जाता है। और यदि पुनर्संक्रमण मे क्षय कीटाणुओं की मात्रा अत्यधिक होती है तो पशु की मृत्यु शीघ्र हो जाती है। साधारणत रोगक्षमता उन पशुओ मे मिलती है जो कुछ समय (३ या ४ मास) पहले से क्षयी होते हैं।

इन प्रयोगात्मक खोजों से जो बातें ज्ञात हुई हैं वे दृढ आधार पर अवलम्बित हैं और विभिन्न देशों में अनेक लोगों ने उनका समर्थन किया है। परन्तु क्षयोत्पत्ति के अध्ययन में कई और महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं। यह भलीभाँति ज्ञात हो जाने पर कि अधिकाश लोगों में बाल्यावस्था में क्षय-सक्रमण हो जाता है, यह प्रश्न न्यायपूर्वक पूछा जा सकता है कि क्या प्रौढावस्था मे भी क्षय-संक्रमण हो सकता है? क्षय-रोग की पूर्वरक्षा के उपायों के विचार में यह प्रश्न बडे महत्व का है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि शिशुकाल और बाल्यकाल के उपार्जित क्षयी-विकारो से प्रौढा-वस्था मे राजयक्ष्मा कैसे हो जाता है? क्या राजयक्ष्मा की उत्पत्ति नये सक्रमण से होती है अथवा ऐसे पुराने क्षयी-विकारो से, जो पहले शान्त रहते हैं और फिर किसी कारणवश जाग्रत होकर बढने लगते हैं और अन्य स्थानों मे फैलने लगते हैं?

मनुष्यों में पुनर्संक्रमण की विधि— जिस मनुष्य मे एक बार सक्रमण हो जाता है उसमे पुनर्संक्रमण दो प्रकार से हो सकता है—(१) आभ्यन्तरिक (Endogenous) अर्थात् उसी मनुष्य के शरीर के भीतर के कीटाणुओं से, (२) बाह्यान्तरिक (Exogenous) अर्थात् शरीर के बाहर से अन्य किसी मनुष्य या पशु से आये हुए कीटाणुओं से। आभ्यन्तरिक या आत्म-पुनर्संक्रमण बडी सरलता से हो सकता है। जब फेफडे में कोई क्षयी-विकार पककर श्वास-नल मे फूट जाता है तो खाँसने से क्षयी-द्रव्य श्वास-नलिकाओं के द्वारा फेफडे के अन्य भाग मे पहुँच जाता है और वहाँ इसके ठहर जाने से नये क्षयी-विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इसी भाँति स्वरयत्र और अँतडियो मे भी क्षय-रोग हो सकता है। अँतडियो में रोग कफ के निगलने से हो सकता है। आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण सदा श्वास-नलिकाओं के द्वारा ही नही होता, किन्तु रक्तद्वारा भी होता है। जब क्षयी-विकार पककर किसी रक्तनाडी में फूट जाते हैं तो क्षय-कीटाणु रक्त मे मिलकर शरीर के अन्य भागो मे पहुँच जाते हैं। इसके अतिरिक्त लसिकाद्वारा भी पुनर्संक्रमण हो सकता है। क्षयी द्रव्य लसिका मे मिलकर उसके साथ लसिका-ग्रन्थियों इत्यादि मे पहुँच जाता है।

बाह्य पुनर्संक्रमण का होना यदि सम्भव हो तो बहुत ज्यादा होना चाहिए, क्योंकि क्षय कीटाणु विश्वव्यापी होते हैं और यह स्पष्ट है कि जिस

व्यक्ति को एकबार क्षय-रोग होगया है वह प्रवणशील होता है, अन्यथा उसको प्रथम संक्रमण से रोग क्यों हो जाता ? संक्रमण का होना अत्यन्त सहज है क्योंकि यह देखा जाता है कि जब किसी क्षयरहित बच्चे का क्षय-रोगी से सम्पर्क होता है तो उसमें तुरन्त संक्रमण हो जाता है। हैम्बर्गर ने एक शिशु के बारे में लिखा है कि उसमें केवल एक घंटे के संसर्ग से संक्रमण होगया था। प्रौढ लोगों में भी यही बात पाई जाती है। जब ऐसे लोग, उदाहरणार्थ असभ्य-जातियों के लोग, जिनमें बाल्यावस्था में संक्रमण नहीं होता, क्षयी लोगों के सम्पर्क में आते हैं तो उनको तुरन्त क्षय संक्रमण होकर रोग हो जाता है।

इन पूर्व पक्षों को जो सावधानी से किये गये अन्वेषणों से ज्ञात बातों पर स्थित हैं, मानते हुए अब यह देखना है कि मनुष्य में पुनर्संक्रमण के प्रश्न के सम्बन्ध में चिकित्सानुभव हमको क्या बतलाता है, क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्यों में प्रयोगविधि से काम नहीं लिया जा सकता। इस सम्बन्ध में यह देखने की आवश्यकता है कि (१) क्षय-रोगियों के अस्पतालों में कितना बाह्य और कितना आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण होता है, (२) उन नीरोग मनुष्यों में जो क्षय-रोगियों के साथ रहते हैं, क्षय-रोग कितना होता है और (३) जिन लोगों में बाल्यावस्था में क्षय-संक्रमण नहीं हुआ है, उनमें संक्रमण का क्या प्रभाव होता है।

क्षय-रोगियों के अस्पतालों में पुनर्संक्रमण—चिकित्सानुभव से ज्ञात हुआ है कि किसी व्यक्ति को उसके जीवनकाल में उद्भेदक रोग दुबारा बहुत कम होते हैं। यह भी देखा गया है कि अस्पताल के जिस कमरे में चेचक इत्यादि संक्रामक रोग के रोगी रहते हैं वहाँ अधिक तीव्र रोगवालों से हल्के रोग वालों को छूत लगने का भय नहीं होता। लगभग सभी संक्रामक रोगों में यह देखा जाता है कि जबतक रोग मौजूद रहता है तबतक उस रोग के बाहरी कीटाणुओं से पुनर्संक्रमण नहीं होता। क्षय-रोगियों के अस्पतालों के अनुभवों से क्षय-रोग के सम्बन्ध में भी इसीप्रकार की सूचना मिलनी चाहिये। इन अस्पतालों में अपने सहरोगियोंद्वारा प्रक्षिप्त क्षय-कीटाणुओं से पुनर्संक्रमण होने की सभी सुविधाएँ होती हैं। क्योंकि यह मानना पड़ेगा कि अस्पतालों में चाहे कितनी ही सफाई क्यों न रक्खी जाय, अनेक रोगियों के एकत्रित होने पर थूक की फुहार के द्वारा संक्रमण होना नहीं रोका जा सकता। गिनीपिग

पशुओं को पिँजड़ों में बन्द करके क्षय रोगियों के स्वच्छ से स्वच्छ कमरे में रखने पर भी उनको शीघ्र क्षय-रोग हो जाता है। परन्तु अभी तक ऐसा देखने में नहीं आया है कि किसी उग्र और प्रगतिशील रोग से पीड़ित रोगी में उसके साथ एक कमरे में रहनेवाले किसी हल्के या शान्त रोगवाले रोगी को पुनर्संक्रमण होगया हो और वह भी ऐसी दशा में जब उग्र रोगवाले रोगी के कफ में असंख्य कीटाणु बाहर निकलते हैं और थूक की फुहार से संक्रमण होने की बहुत सुविधा होती है।

अनेक रोगी जिनको यथार्थ में क्षय-रोग नहीं होता, महीनों तक स्वास्थ्यशालाओं में रहते हैं, परन्तु अभी तक यह देखने में नहीं आया है कि वहाँ ठहरने के कारण उनमें से किसी को क्षय-रोग होगया हो। यही कारण है कि अस्पतालों और स्वास्थ्यशालाओं में बद्ध रोगियों (जिनके कफ में क्षय-कीटाणु नहीं निकलते हैं) को खुले रोगियों (जिनके कफ में क्षय-कीटाणु निकलते हैं) से पृथक नहीं रक्खा जाता, यद्यपि बहुत से चिकित्सकों का यह दृढ विश्वास होता है कि क्षय-रोग के फैलने में फुहार का बड़ा प्रभाव होता है।

यदि ऐसे प्रौढ मनुष्यों में, जिनमें बाल्यकाल में संक्रमण हो चुका है, पुनर्संक्रमण हो सकता है तो अस्पताल के कर्मचारियों में जिनका रोगियों से घनिष्ठ सम्पर्क रहता है, संक्रमण अवश्य होना चाहिए। परन्तु इस व्यवसाय के सहस्रों व्यक्तियों के अनुभव से विदित होता है कि उनमें अन्य लोगों की अपेक्षा न क्षय-रोग अधिक होता है, न क्षयज मृत्यु। इस विषय के आँकड़े सबसे पहले थ्योडोर विलियम्स ने प्रकाशित किये थे। उन्होंने दिखलाया कि क्षय-कीटाणुओं के अनुसंधान से बहुत पहले भी जब कि रोग के प्रसार के रोकने का कोई उपाय काम में नहीं लाया जाता था, अस्पताल के कर्मचारियों में क्षय-रोग होते नहीं देखा गया था। सन् १८४८ ई० से, जिस वर्ष लन्दन नगर में क्षय-रोगियों के लिए ब्राम्पटन अस्पताल खोला गया था, सन् १८८२ ई० तक उक्त अस्पताल के विभिन्न कर्मचारियों में शहर के अन्य नागरिकों की अपेक्षा अधिक क्षय नहीं हुआ, यद्यपि इनमें से बहुत से कर्मचारी वर्षों तक लगातार वहाँ काम करते रहे। बाद को एक दूसरे निबन्ध में विलियम्स ने सन् १९०९ ई० तक के आँकड़ों का संकलन किया है। इस काल में भी वही दशा मिली है। हाल में अस्पताल के कर्मचारियों में क्षय-

रोग की कमी का कारण स्वच्छता की उन्नति, कफ की शुद्धि इत्यादि कही जा सकती है, परन्तु सन् १८२२ ई० से पूर्वकाल के सम्बन्ध मे ऐसा नहीं कहा जा सकता।

फ्रास और जर्मनी के अस्पतालो से भी इसीप्रकार के आँकडे सकलित करके अनेक लोगो ने प्रकाशित किये है। डा० सागौन ने विभिन्न देशो की स्वास्थ्यशालाओ से वडे शिक्षाप्रद आँकडो का सकलन किया है जिनसे यह तात्पर्य निकलता है कि क्षय-रोगियो के साथ व्यवहार करनेवाले लोगो में अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक क्षय-रोग नही होता।

ऐसे आँकडो को कुछ लोगो ने क्षय-रोग के सक्रामक न होने के प्रमाण में उद्धृत किया है, परन्तु अब तक जो बातें ज्ञात हुई हैं उनके विचार से इन आँकडोद्वारा केवल इतना ही सिद्ध होता है कि क्षय-रोग मे पुनर्संक्रमण नहीं होता।

दाम्पत्यिक क्षय—जो लोग पहले से सक्रामित नही होते उनमे कितना शीघ्र क्षय-रोग हो जाता है इस बात पर विचार करते हुए यही अनुमान होता है कि क्षयी पतियों की पत्नियो मे और क्षयी पत्नियो के पतियो में अधिकाश को क्षय-रोग हो जाना चाहिए। उपदश रोग मे ऐसा ही होता है। दम्पति के एक व्यक्ति से दूसरे को रोग यदि पहले से ही न हो चुका हो तो अवश्यमेव लग जाता है। परन्तु बहुत काल तक इस रहस्य पर कोई प्रकाश नहीं पडा कि पति-पत्नी दोनो मे, जिनका पिता-पुत्र से भी परस्पर अधिक घनिष्ठ सम्पर्क होता है, क्षय रोग इतना कम क्यो होता है? जिन परिवारो मे लगभग सब या अधिकाश बच्चो मे क्षय-रोग हो जाता है उनमें भी ऐसा बहुत कम देखने में आता है कि उनके माता पिता दोनो में क्षय-रोग हो। पहले क्षय-रोग के सक्रामक न होने के पक्ष म यह एक प्रबल युक्ति बतलाई जाती थी, परन्तु अब यह ज्ञात हो चुका है कि इसका कारण रोगक्षमता होती है जो सक्रमण के हल्के होने से रोग न होकर उत्पन्न हो जाती है।

कई वर्षो तक डा० फिशबर्ग एक परोपकारिणी समिति के चिकित्सक थे और उनके निरीक्षण मे प्रतिवर्ष लगभग ८०० से १००० तक क्षय रोगी रहते थे। ये रोगी निर्धन होने के कारण जन-सकीर्ण कोठरियो में रहते थे, जहाँ दम्पतियों मे एक से दूसरे व्यक्ति को सक्रमण होने की सभी सुविधाएँ थीं। वास्तव मे अधिकाश रोगी या रोगिनी अपनी नीरोग पत्नी या पति के साथ

एक ही चारपाई पर सोते थे । फिर भी ऐसे बहुत कम उदाहरण देखने में आये थे जिनमे क्षय-रोग पति-पत्नी दोनो मे पाया गया हो । जिन विधवाओं के पतियो की मृत्यु क्षय-रोग से हुई थी उनमे क्षय-रोग बहुत कम होते देखा गया था । १७० दम्पतियो मे से जिनमे एक ही एक व्यक्ति को क्षय-रोग था, २५ प्रतिशत मे पति-पत्नी दोनो मे क्षय-रोग मिला था और यह भी उस दशा मे, जब कि उनमे से अधिकांश एक दूसरे के बहुत सन्निकट रहते थे, यहाँ तक कि एक ही चारपाई पर सोते थे । जब ऐसी दशाओ मे भी क्षय-संक्रमण नहीं होता तो यह कहा जा सकता है कि अन्य प्रौढ मनुष्यो मे नही हो सकता ।

डा० फिशबर्ग का यह अनुभव विचित्र नही है। डा० मगौर को ४४० ऐसे दम्पतियो मे से जिनमे एक ही व्यक्ति को क्षय-रोग था, केवल १६ दम्पतियो मे दूसरे व्यक्ति मे भी रोग मिला । टाम को ४०२ दम्पतियो में से केवल १२ ऐसे मिले थे जिनमे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति मे सम्भवत संक्रमण हुआ था । अन्य कई लोगों ने इसीप्रकार की जाँचे की हैं और उनमे भी यही परिणाम निकलता है कि पति को पत्नी से या पत्नी को पति से क्षय-रोग बहुत कम लगता है। हाल मे डा० लेवी ने ३१५ निर्धन दम्पतियो की जाँच की है, जिनसे ३४ प्रतिशत एक चारपाई पर सोते थे । इनमें केवल २८ प्रतिशत में दाम्पत्यिक सक्रमण मिला था । १५५३ क्षयी दम्पतियों मे डा० वौट को केवल ७ प्रतिशत मे दोनो व्यक्तियों मे क्षय रोग मिला था । इस विषय के जितने आँकडे प्रकाशित हुए हैं उनमे सबसे बडी प्रतिशत सख्या यही है और यह स्मरण रखने योग्य है कि यह ठीक वही अनुपात है जिसमे ससार की मानव जाति मे क्षय-रोग पाया जाता है ।

इस सम्बन्ध की एक विचित्र घटना विशेष उल्लेखनीय है । डा० प्रेट्रुस्की ने सबसे पहले इसका वर्णन किया था और इसको "मातृ रोगक्षमता" का नाम दिया था । एक स्त्री ने क्षयी पुरुष के साथ विवाह किया और उससे उसको सन्तान उत्पन्न हुई। अधिकाश सन्तान को क्षय रोग होगया था या उससे मृत्यु होगई । परन्तु उसको स्वय क्षय-रोग नहीं हुआ । अन्य लोगो ने भी ऐसी घटनाएँ देखी हैं । पुरुषों में भी इसके अनुरूप घटनाएँ देखी गई हैं जिनको "पिता की रोगक्षमता' कहा जा सकता है । एक मनुष्य किसी स्त्री से विवाह करता है जिसकी क्षय-रोग से मृत्यु हो जाती है। वह फिर दूसरा विवाह

करता है और दूसरी स्त्री की भी क्षय-रोग से मृत्यु हो जाती है, परन्तु वह स्वयं नीरोग बना रहता है। इसप्रकार एक मनुष्य की क्रमश तीन स्त्रियों की क्षय-रोग से मृत्यु होगई थी, पर वह नीरोग बना रहा। ऐसे लोगों की सन्तान में साधारणत क्षय-रोग हो जाता है।

इन बातों के विस्तृत वर्णन करने की इसलिए आवश्यकता हुई कि क्षयोत्पत्ति के सम्बन्ध में ये बातें बड़े महत्व की हैं। इनसे विदित होता है कि (१) क्षय सक्रमण केवल एक बार हो सकता है और (२) राजयक्ष्मा केवल उन्हीं लोगों मे होता है जिनके शरीर की रचना में किसी कारणवश क्षय-ग्रहणशीलता होती है। चूँकि दम्पति के क्षयरहित व्यक्ति को बाल्यकाल मे सक्रमण हो लेता है, इसलिए उसको दूसरे क्षयी व्यक्ति के साथ प्रसग करने के कारण पुनर्संक्रमण का जो अवसर मिलता है इससे रोग की उत्पत्ति मे कोई सहायता नही मिलती। क्षय-रोग होना या न होना उस दम्पति के क्षयरहित व्यक्ति की शरीर की रचना के ऊपर निर्भर होता है, न कि पुनर्संक्रमण के सुअवसरों पर।

क्षय-सक्रमण से उत्पन्न रोगक्षमता के चिकित्सानुभव से प्राप्त प्रमाण—हाल मे जाँच करने से ज्ञात हुआ है कि क्षय-रोगियो के रक्त में क्षय कीटाणुओं का मिलना कोई असाधारण बात नहीं है, फिर भी उनमे उग्र घजरीले क्षय के लक्षण व्यक्त नहीं होते, जैसा कि होना चाहिए। रोगक्षमता सम्बन्धी इसीप्रकार की घटनाएँ उपदंश और शीत ज्वर में भी देखी गई हैं। इससे विदित होता है कि क्षय सक्रमण से कीटाणु और मनुष्य शरीर में परस्पर एक दूसरे के प्रति क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

चिकित्सानुभव से ज्ञात कुछ बातें ऐसी हैं जिन पर अब तक कोई प्रकाश नहीं पड़ा था, परन्तु अब क्षय रोगी मे क्षय-कीटाणुओं के प्रति उत्पन्न रोगक्षमता के मानने से वे समझ में आ जाती हैं और उनसे इस धारणा का भी समर्थन होता है कि पशुओं मे प्रयोगद्वारा जो बातें ज्ञात होती हैं उनमे से कुछ मनुष्यों के सम्बन्ध में भी उपयुक्त होती हैं। असंख्य क्षय-कीटाणुओं से लदा हुआ कफ क्षय-रोगी के कंठ, मुख, होठ इत्यादि से होकर निकलता रहता है, फिर भी वहाँ की श्लेष्मकला और ग्रीवा की लसिका-ग्रन्थियों मे क्षय-रोग प्रौढ़ो मे बहुत कम होता है। और लोगों की तरह क्षय-रोगियों को भी प्राय अपने दाँत उखड़वाने पड़ते है और टॉन्सिल (Tonsil) निकलवाने

पडते हैं, परन्तु फिर भी इन स्थानों मे क्षय नही होता, यद्यपि क्षय-कीटाणुओं से परिपूर्ण कफ खुले हुए व्रण पर लगा रहता है।

बहुत दिनों से यह देखा गया है कि जिन बालकों में लसिका-ग्रन्थियों का क्षय होता है उनको आगे चलकर फेफडों का सक्रिय क्षय बहुत कम होता है। कुछ लोग तो यहाँ तक मानते हैं कि ऐसे बालक राजयक्ष्मा के प्रति रोग-क्षम होते हैं। इसी भाँति अस्थि, सधि और त्वचा के क्षयवाले रोगियो मे भी राजयक्ष्मा बहुत कम होता है। अमेरिका की कोलराडो रियासत की जन-सख्या का अधिकाश भाग उन लोगो की सन्तान हैं जो क्षय-रोग के कारण उस रियासत मे जा बसे थे। अब इस रियासत के निवासियो मे क्षय-रोग के प्रति रोगक्षमता पाई जाती है। कुछ लोग इसका श्रेय वहाँ की जलवायु को देते हैं, परन्तु इससे इस घटना की सन्तोषपूर्वक व्याख्या नही होती। प्राकृतिक छाँट मे रोगग्रहणशील वशो का लोप होकर केवल उन्हीं की सन्तान चलती हैं जिनमे प्रतिरोधशक्ति अधिक होती है। रोगियों की सन्तान होने पर भी उनका शेष रह जाना सूचित करता है कि उनमें असाधारण प्रतिरोधशक्ति होती है जो उनकी सन्तान मे भी आ जाती है। चिकित्सानुभव से भी ज्ञात होता है कि जो क्षय-रोगी क्षयी माता-पिता के सन्तान होते हैं अथवा जिनको स्वय बाल्यावस्था मे ग्रन्थि क्षय हो जाता है उनमे रोग हल्का होता है और उसकी गति कम भीषण होती है।

अस्तु, क्षय-रोगियो मे क्षय-रोग के प्रति रोगक्षमता अनेक चिकित्सानुभवसिद्ध बातो से प्रमाणित होती है जो अन्यथा समझ मे नही आती।

क्षयरहित मनुष्यों में क्षय रोग—जहाँ एक ओर सक्रामित मनुष्यो मे क्षय-कीटाणुओं के पुनर्संक्रमण के प्रति रोगक्षमता दिखाई पडती है वहाँ दूसरी ओर यह देखा जाता है कि सक्रमणरहित मनुष्य बहुत क्षय-ग्रहणशील होते हैं। और जब कभी उनमे सक्रमण होता है तो उसीप्रकार का रोग होता है जैसा कि पशुओ में प्रयोगद्वारा उत्पन्न होता है। इस बात का स्मरण रखते हुए कि नवजात शिशु—चाहे वे क्षयी वशो से उत्पन्न हुए हों या अक्षयी वशो से—सदैव क्षय-सक्रमण से मुक्त होते हैं, यह धारणा स्वत उत्पन्न होती है कि उनमे सक्रमण होने पर जो रोग होगा, वह पशुओ के प्रयोगोत्पादित रोग के समान उग्र और प्रगतिशील होगा। किन्तु इसका पता लगाना सम्भव नही है, क्योंकि यह स्वय विदित है कि शिशुओ पर इस

प्रकार के प्रयोग नहीं किये जा सकते। परन्तु यहूदियों मे खतना करते समय नवजात शिशुओं में क्षय-संक्रमण हो जाने के कुछ उदाहरण देखने में आये हैं। इनमे यह देखा गया है कि बच्चे को तुरन्त क्षय रोग हो जाता है, रोग की गति बडी तीव्र होती है और प्रादेशिक लसिका ग्रन्थियाँ भी रोगाक्रान्त हो जाती हैं। इसके बिलकुल विपरीत प्रौढो में संक्रमण के हल्केपन के उदाहरण कमाइयों और शवच्छेदकों मे देखने मे आते हैं। इनमे अकस्मात् उँगली कट जाने से प्रवेशन स्थान पर केवल स्थानाबद्ध और हल्का क्षय-रोग होता है। इसके अतिरिक्त ऐसे कुछ और प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह निस्सन्देह विदित होता है कि प्रौढ मनुष्यो मे प्रयोगद्वारा भी क्षय-कीटाणुओं से पुनर्संक्रमण उत्पन्न नहीं किया जा सकता। फरवरी, सन १९०० ई० मे डा० फेलिक्स क्लैम्परर ने अपनी भुजा में त्वचा के नीचे पशु-कीटाणु की पिचकारी लगाई थी। दस मास के बाद पिचकारी के स्थान को, जो कुछ कडा पड गया था, काटकर अनुवीक्षण यन्त्रद्वारा परीक्षा करने पर उसमे सुसङ्गठित दानेदार तन्तु मिला जिसमें दैत्य सेले भी थीं, परन्तु क्षय-कीटाणु नहीं मिले। इससे विदित होता है कि विशिष्ट क्षयी-प्रक्रिया नहीं थी। एक और चिकित्सक ने, जिसको चौदह वर्ष से क्षय-रोग था, अपने शरीर मे पशु-कीटाणुओं की पिचकारी लगवाई थी। चौदह पिचकारी लगाने पर भी कोई प्रभाव नहीं हुआ। चार क्षय-रोगियों मे गिनीपिग पशुओं के क्षयी लसिका-ततुओं की ३९ पिचकारी लगाई गई थी। इससे जो स्थानिक विकार उत्पन्न हुए थे व बहुत क्षुद्र थे, किसी मे भी व्यापक प्रभाव नहीं हुआ था। बल्कि रोगी कहते थे कि प्रयोगकाल मे उनको कुछ लाभ हुआ था। अन्य अनेक चिकित्सकों ने भी इसीप्रकार के प्रयोग किये हैं और यह बडे महत्व की बात है कि चिकित्सकों के ये सभी प्रयोगिक संक्रमण हानिरहित सिद्ध हुए हैं।

राजयक्ष्मा रोगक्षमता की एक अभिव्यक्ति होती है—उपरोक्त प्रयोगज्ञात तथा चिकित्सानुभवसम्बन्धी बातों से यह स्पष्ट है कि क्षय-कीटाणुओं का संक्रमण या प्रवणशीलता दोनों मे से अकेले किसी से क्षय-रोग उत्पन्न नहीं हो सकता। संक्रमण होने पर जहाँ एक को रोग होता है तो अनेक ऐसे होते हैं जो नीरोग बने रहते हैं। यथार्थ मे बाल्यावस्था में जो स्वत संक्रमण होता है उससे शरीर मे क्षुद्र रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है जिससे क्षय-कीटाणुओं से पुर्नसंक्रमण नहीं होता।

यह भी स्पष्ट है कि राजयक्ष्मा केवल उन्हीं व्यक्तियों में होता है, जिनमें बाल्यावस्था में संक्रमण तो हो जाता है, परन्तु जो युवावस्था तक नीरोग बने रहते हैं।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राजयक्ष्मा केवल उन्हीं लोगों में हो सकता है, जो पूर्व संक्रमण से कुछ रोगक्षम हो जाते हैं।

वास्तव में राजयक्ष्मा स्वयं रोगक्षमता की एक अभिव्यक्ति होती है। यदि ऐसा न होता तो रोगी की उग्रव्यापक क्षय होकर उन लोगों की तरह मृत्यु हो जाती जिनमें पूर्वसंक्रमण न होने के कारण रोगक्षमता का अभाव होता है। यह रोगक्षमता साधारणतः मनुष्य की रक्षा के लिए पर्याप्त होती है, परन्तु कुछ विशेष दशाओं में यह असमर्थ हो जाती है और उस समय पुनर्संक्रमण हो सकता है। यह पुनर्संक्रमण बाह्य कीटाणुओं से भी हो सकता है, क्योंकि क्षय-कीटाणु विश्वव्यापी होते हैं और उनसे बचना कठिन होता है, और शरीर के भीतर भी उन कीटाणुओं की संख्यावृद्धि और स्थानान्तरित होने से हो सकता है जो शरीर के अन्दर निवृत्त या गुप्त अवस्था में क्षयोविकारों में रहते हैं।

संक्रामक रोगों में उपार्जित रोगक्षमता पूर्ण नहीं होती। यह केवल सापेक्षिक और जीवन की साधारण अवस्था में पर्याप्त होती है, परन्तु विशेष आपत्तिकाल में अपर्याप्त होती है। बाल्यावस्था में क्षय-कीटाणुओं के संक्रमण से उपार्जित रोगक्षमता के सम्बन्ध में भी यही बात ठीक प्रतीत होती है। इससे एक साधारण मनुष्य की बाह्य क्षय-कीटाणुओं के पुनर्संक्रमण से रक्षा होती रहती है, परन्तु जब इसमें कुछ कमी हो जाती है तो पुनर्संक्रमण से व्यापक क्षय न होकर केवल स्थानिक क्षय होता है। चूँकि शरीर का सबसे अधिक ग्रहणशील भाग फेफड़ा होता है, इसलिए यह स्थानिक क्षय अन्य अवयवों की अपेक्षा फेफड़ों में अधिक होता है।

पशु-कीटाणुओं के संक्रमण से प्राप्त रोगक्षमता—कुछ विशेषज्ञों का मत है कि प्रौढावस्था में जो रोगक्षमता देख पड़ती है और जिसके कारण मनुष्य-कीटाणुओं से पुनर्संक्रमण नहीं होने पाता, वह बाल्यावस्था में पशु-कीटाणुओं से संक्रमण हो जाने से उत्पन्न होती है। डा० क्लाइव रिवियरी मनुष्यजाति को इसप्रकार पशु-कीटाणुओं से कृत्रिम तौर पर संक्रमण कराकर रोगक्षम बनाने के पक्ष में है। उनका कहना है कि जब तक संक्रमण के मानव उद्गम स्थान बिलकुल दूर न किये जा सकें अथवा कृत्रिम रोगक्षमता उत्पन्न न की जा सके तब तक दूधद्वारा पशु-कीटाणुओं से संक्रमण का होना क्षय-रोग के

संग्राम में सबसे बड़ा सहायक है। यह पहले कहा जा चुका है कि पशु-कीटाणुकृत संक्रमण बहुत कम घातक होता है और इससे मनुष्य को मनुष्य क्षय-कीटाणुओं के संक्रमण से रक्षा हो सकती है। यह इस बात से विदित होता है कि जिन लोगों में पशु-कीटाणुकृत ग्रन्थियों, अस्थियों इत्यादि का क्षय-रोग हो जाता है उनमें राजयक्ष्मा बहुत कम होता है। इस विषय में एडिनबर्ग नगर के, जहाँ पशु-कीटाणुकृत क्षय बहुत फैला हुआ है, डा० मेकलीन द्वारा संकलित आँकड़े बड़े महत्व के हैं। उन्होंने पता लगाया है कि वीयना नगर की अपेक्षा एडिनबर्ग नगर में चार वर्ष की आयु तक क्षय संक्रमण अधिक होता है जिससे दुग्धज संक्रमण की अधिकता सूचित होती है। परन्तु राजयक्ष्मा से एडिनबर्ग की अपेक्षा वीयना में तिगुनी मृत्यु होती हैं। योरोप के अन्य मध्य देशों की तुलना में उदर क्षय की अधिकता और राजयक्ष्मा की कमी समस्त ग्रेटब्रिटेन की एक विशेषता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि पशु-कीटाणुकृत संक्रमण पहले अधिक हो जाने से राजयक्ष्मा से, जो कि मनुष्य क्षय-कीटाणुओं से होता है, लोगों की कुछ रक्षा होती रहती है। ब्राउन्ली ने पता लगाया है कि इङ्गलैंड के उन प्रान्तों में राजयक्ष्मा कम होता है जिनमें बाल्यकाल में क्षय-रोग से मृत्यु अधिक होती है और जहां से क्षय-संक्रामित दूध लन्दन नगर को अधिक आता है।

रोगक्षमता का ह्रास—यह स्पष्ट है कि राजयक्ष्मा का विकास केवल बाल्यावस्था के संक्रमण की तीव्रता ही पर निर्भर नहीं होता। शरीररूपी भूमि की, जिस पर कीटाणुओं का आक्रमण होता है, रचना का महत्व होता है। कुछ लोगों की इतने हल्के संक्रमण से रोग होकर मृत्यु हो जाती है, जितने से एक साधारण व्यक्ति की कुछ भी हानि नहीं हो सकती। इससे विदित होता है कि शरीर की प्रवणशीलता का बड़ा प्रभाव होता है। जैसा कि पूर्व परिच्छेद में बताया गया है, यह प्रवणशीलता क्या चीज होती है, इस पर अभी तक पर्य्याप्त प्रकाश नहीं पड़ा है। अनेक भौतिक, रासायनिक और शारीरिक परिवर्तनों से जिनसे लोग अभी तक अनभिज्ञ हैं, इस रोगक्षमता का ह्रास हो सकता है। यह बात उन बच्चों में देखने आती है जो क्षय कीटाणुओं से सक्रामित होने पर भी बढ़ते रहते हैं। परन्तु जब खसरा, कुकर खाँसी इत्यादि किसी रोग के आक्रमण से इनकी रोगक्षमता का ह्रास हो जाता है, जैसा कि इन रोगों के दौरे में यक्ष्मिन-परीक्षा के ऋणात्मक

होजाने से विदित होता है, तो गुप्त क्षयी विकारो के पुनरुद्दीपित हो जाने से क्षय-रोग हो जाता है। अन्य ज्वर रोगों मे भी ऐसा होता है, परन्तु अभी तक इस बात का पता नहीं लगा कि इन सक्रामक रोगो के हो जाने से शरीर मे क्या क्या भौतिक और रासायनिक परिवर्तन हो जाते हैं और इनका क्या प्रभाव पडता है ?

क्षयोत्पत्तिसम्बधी प्रश्न के हल करने के मार्ग मे यह समस्या कि क्षय-प्रवणशीलता क्या वस्तु है, एक ऐसा रोडा है, जिसपर सब सिद्धान्त आकर अटक जाते हैं। पशुओ पर प्रयोग, मनुष्यो मे चिकित्सासम्बन्धी अनुभव और जनशास्त्र (Demography) के अध्ययन से जो बाते ज्ञात हुई हैं उनसे इस प्रश्न पर अभी तक कोई प्रकाश नहीं पडा है। ऐसा कोई कारण या कारण समूह नही है जो सब रोगियो पर लागू हो सके। जैसा कि डा० मार्टियस का कथन है, क्षय प्रवणशीलता कोई एक ऐसी अखड विशेषता नही होती जो केवल उन्ही लोगो मे पाई जाती हो जिनको क्षय रोग होता है या जिसका उन लोगो मे पूर्ण अभाव होता हो जो सक्रमण होने पर भी रोग से बच जाते हैं। यह एक जटिल वस्तु प्रतीत होती है। प्रत्येक व्यक्ति मे शरीररचना और इन्द्रिय व्यवहार सम्बन्धी कितनी ही ऐसी बाते होती हैं जिनमे से दशा विशेषो मे प्रत्येक से पृथक् पृथक् अथवा कई एक के साथ मिल जाने से क्षय-रोग हो जाता है। और फिर यह भी नही कि इन बातो मे कोई स्थिरता होती हो। भिन्न भिन्न दशाओं मे भिन्न भिन्न बातो के भिन्न भिन्न सयोग हो सकते हैं। इस विचार दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति क्षय-प्रवणशील कहा जा सकता है, परन्तु भिन्न भिन्न व्यक्तियो की प्रतिशोधशक्ति में अनेक प्रकार के अन्तर होते हैं, जो विभिन्न प्रवणशील कारणो के आकस्मिक सयोग पर निर्भर होते हैं। और इन प्रवणशील कारणों पर भी मनुष्य के जीवन-काल में जो प्राणशक्ति सम्बन्धी परिवर्तन होते रहते हैं, उनका प्रभाव पडता है। अस्तु, प्रवणशीलता के भी, अत्यन्त रोगग्रहणशीलता से लेकर अत्यन्त रोगक्षमता तक विभिन्न दर्जे होते हैं। अतएव इन बातो से क्षय-रोग के विभिन्न रूप-भेदो का कारण कुछ अश तक समझ मे आ सकता है।

आभ्यन्तरिक और बाह्य पुनर्सक्रमण—इस बात पर विचार करते हुए कि क्षय-रोग उस व्यक्ति में होता है जिसमें पूर्व सक्रमण से कुछ रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है और जिसके शरीर के किसी भाग मे क्षयी-विकार

निवृत्त या शुप्त अवस्था मे बने रहते हैं, यह प्रश्न उठता है कि फेफडे के इस स्थानिक क्षयी विकार का पुनरुद्दीपन बाहर के नये कीटाणुओं के पुनर्संक्रमण से होता है अथवा शरीर के अन्दर के उन कीटाणुओं के स्थानान्तरित होने से, जो शरीर मे वर्षों से बन्द पडे रहते हैं और किसी कारणवश रोगक्षमता का ह्रास होने पर पुनरुत्तेजित हो जाते हैं।

इस सम्बन्ध मे प्रयोगद्वारा जो बातें ज्ञात हुई हैं उनमे परस्पर कुछ विरोध है। आर्थर और राबिनाविश ने पता लगाया है कि जब गिनीपिग पशुओं मे हल्के विषैले कीटाणुओं से कम मात्रा मे, जिससे केवल स्थानिक क्षयी विकार उत्पन्न होते हैं, सक्रमण कराया जाता है तो उसका यह परिणाम होता है कि अधिक विषैले मनुष्यक्षय-कीटाणुओं से दुबारा सक्रमण कराने पर साधारणरूप का व्यापक क्षय नहीं होता, परन्तु कुछ कुछ मनुष्यों के राजयक्ष्मा के अनुरूप फेफडों का क्षय होता है। खरगोशों मे भी उन्होंने इसीप्रकार पुरातन क्षयी विकार उत्पन्न किये थे। अन्य लोगों ने भी इन बातों का समर्थन किया है। इन बातों से यह प्रतीत होता है कि राजयक्ष्मा बाह्य पुनर्संक्रमण से होता है।

इसके विपरीत बेहरिंग का मत है कि राजयक्ष्मा का प्रादुर्भाव आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण से होता है। इनके मतानुसार प्राथमिक सक्रमण पाचक सस्थान के मार्ग से बाल्यावस्था में हो जाता है और क्षय-कीटाणु उस समय तक चुपचाप पडे रहते हैं जब तक किसी कारण से वे पुनरुत्तेजित नहीं हो जाते। परन्तु यदि यह बात सत्य होती तो पशु-कीटाणुकृत राजयक्ष्मा अधिक सख्या मे मिलना चाहिये था, क्योंकि बाल्यावस्था मे कम से कम १० प्रतिशत सक्रमण इन कीटाणुओं से होते हैं। परन्तु अभी तक राजयक्ष्मा के ऐसे बहुत कम उदाहरण ज्ञात हुए हैं जिनमें केवल पशु-कीटाणु मिले हों। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कुछ लोगों का विचार है कि जिन लोगों मे पशु-कीटाणुओं से सक्रमण हो जाता है वे मनुष्य कीटाणुओं के प्रति रोगक्षम हो जाते हैं, इसलिए उनमे फेफडे का क्षय नहीं होता, परन्तु यह बात अभी तक प्रमाणापेक्ष है।

रोमर और मक का कहना है कि उनकी खोज से यह सिद्ध होता है कि पुनर्संक्रमण सदा आभ्यन्तरिक अर्थात शरीरान्तर्गत क्षयी विकारों मे कीटाणुओं के स्थानान्तरित होने से होता है। मक का

कहना है कि एक क्षयी व्यक्ति न केवल क्षय-ग्रहणशीलता से मुक्त ही होता है प्रत्युत यथार्थ में वाह्य पुनर्संक्रमण के प्रति रोगक्षम भी होता है। यह मानना पड़ेगा कि जब बाल्यावस्था में प्रथम बार क्षय-संक्रमण होता है, तो शरीर को एक बड़े संकट का सामना करना पड़ता है, परन्तु जब वह उस संकट को पार कर लेता है तो उसमें रोगक्षमता आ जाती है। परन्तु युवावस्था में, जब शरीर की प्राणशक्तियों पर बड़ी माँग होती है, कीटाणु शरीर पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और शरीर का सबसे अधिक ग्रहणशील भाग होने से फेफड़े में क्षय-रोग हो जाता है।

निदानशास्त्र में इसके अनुरूप अन्य दशाएँ हैं, जिनसे विदित होता है कि शरीर में बिना कोई हानि पहुँचाये विषैले क्षय कीटाणु रह सकते हैं। मधज्वर, डिफ्थीरिया, फुफ्फुस प्रदाह इत्यादि रोगों के कीटाणुओं के वाहक लोगों में वर्षों तक रोग के कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते, परन्तु दूसरों को उनसे निरन्तर भय होता है। टेक्साज ज्वर (Texas Fever) से यह बात और भी अधिक विशद हो जाती है। जिन पशुओं में यह ज्वर होकर अच्छा हो जाता है उनके शरीर में इसके जीवित कीटाणु बने रहते हैं। परन्तु रोगक्षम हो जाने पर उनमें *नया संक्रमण नहीं होता, इसलिए संक्रामित चरागाहों में रहने पर भी उनकी कोई हानि नहीं होती।* परन्तु जब उनको कोई अन्य व्याधि हो जाती है तो फलस्वरूप उनके शरीर के अन्दर बहुत दिनों से चुपचाप पड़े हुए कीटाणुओं के पुनरुत्तेजित हो जाने से पुराने रोग का पुनरुद्दीपन हो जाता है।

मनुष्यों में भी इसीप्रकार की चिकित्सानुभवसम्बन्धी घटनाएँ पाई जाती हैं। यह भलीभाँति ज्ञात हो चुका है कि शीतज्वर के कीटाणुओं से संक्रमण होने पर उसी ज्वर के अन्य वाह्य कीटाणुओं से पुनर्संक्रमण नहीं होता। यही कारण है कि शीतज्वरपरिपूर्ण प्रान्तों के असली निवासियों में प्रौढ़ावस्था में शीतज्वर कम होता है। परन्तु कुछ लोगों में कई वर्ष बाद पुनर्संक्रमण होकर जीर्ण शीतज्वर हो जाता है जिसको राजयक्ष्मा से समानता दी जा सकती है। उपदंश रोग में यह बात और भी विशदरूप से दिखाई पड़ती है। इस रोग में पुनर्संक्रमण अत्यन्त कठिन और साधारणतः असम्भव होता है। त्वचा और श्लेष्मकलाओं पर बाहरी उपदंश-

कीटाणुओं का कोई प्रभाव नहीं होता, परन्तु आभ्यन्तरिक कीटाणुओं से वे प्रभावित हो जाते हैं। लिवेंडिटी ने सिद्ध कर दिया है कि पशुओं में उपदंश-कीटाणुओं से संक्रमण होने पर फिर दुबारा नया संक्रमण नहीं होता। उनके रक्तन्तरल में रोगक्षम शक्ति होती है, परन्तु उनके रक्त में कीटाणु रहते हैं और उनसे स्वस्थ पशुओं में संक्रमण हो सकता है।

यह बताया जा चुका है कि निवृत्त क्षयी विकारों में जीवित और विषैले क्षय कीटाणु होते हैं, यहाँ तक कि कंकडीले क्षयी विकारों में भी होते हैं। इसमें सन्देह है कि एक बार क्षय-कीटाणुओं से संक्रमण होने पर फिर कभी इनका शरीर में अभाव होता है। यही कारण है कि राजयक्ष्मा को आभ्यन्तरिक संक्रमण से उत्पन्न माना जाता है। रोमर के मतानुसार राजयक्ष्मा उन गुप्त क्षयी विकारों का पुनरुद्दीपन होता है जो बाल्यकाल में क्षय-संक्रमण से उत्पन्न होते हैं और जिनमें क्षय कीटाणु वर्षों तक चुपचाप पड़े रहते हैं। जब कभी किसी अन्य रोग के होने से अथवा किसी और कारण से रोगक्षमता का ह्रास हो जाता है तो निवृत्त क्षयी विकार पुनरुत्तेजित हो जाते हैं। इन दशाओं में भी रोगक्षमता का पूर्ण ह्रास नहीं होता। यह इस बात से विदित होता है कि रोग बहुत समय तक फेफड़ों में ही स्थानाबद्ध रहता है। राजयक्ष्मा इसलिए क्षय रोग के प्रति रोगक्षमता का एक प्रमाण है। अधिकांश लोगों में पूर्व संक्रमण से कुछ रोगक्षमता हो जाने के कारण सर्वांगिक क्षय नहीं होता।

प्रौढ़ मनुष्यों की रोगक्षमता—अभी तक इस बात पर सन्तोषपूर्वक प्रकाश नहीं पड़ा है कि हल्के प्राथमिक संक्रमण से बच्चों की भाँति प्रौढ़ों में रोगक्षमता क्यों उत्पन्न नहीं होती। यह बताया जा चुका है कि जब ऐसे देशों के प्रौढ़ मनुष्य, जहाँ क्षय रोग नहीं होता और इसलिए क्षय-कीटाणुओं के अभाव के कारण बाल्यकाल में संक्रमण नहीं हो पाता, पहले पहल शहरों में आकर क्षयी वातावरण में रहने लगते हैं तो उनको तुरन्त शिशु और गिनीपिग पशु की भाँति उग्ररूप का क्षय हो जाता है। मक ने इसकी व्याख्या करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि दो बातें सम्भव हो सकती हैं। एक यह कि केवल बालकों के ही शरीर में रोगक्षमता के विकास की शक्ति होती है, दूसरा यह कि जब एक प्रौढ़ मनुष्य क्षयरहित वातावरण से क्षयी वातावरण में आता है तो वह वहाँ के लोगों में

स्वतन्त्रतापूर्वक विचरने लगता है, इसलिए संक्रमण उसको अत्यधिक मात्रा में हो जाता है जिसके रोकने की उसमें पर्याप्त शक्ति नहीं होती। इसके विपरीत एक सुरक्षित शिशु आयु के प्रथम कई वर्षों में लोगों के बीच में अधिक नहीं जाता। इसलिए यदि उसके घर में ही कोई क्षय रोगी न हो तो उसका केवल अल्पसंख्यक कीटाणुओं से सम्पर्क होता है। इसका यह कारण भी हो सकता है कि बाल्यकाल में पशु-क्षय-कीटाणुओं से, जो मनुष्य कीटाणुओं की अपेक्षा कम विषैले होते हैं, क्षय-संक्रमण होकर लोगों में रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है।

सारांश—राजयक्ष्मासम्बन्धी संक्रमण और रोगक्षमता के विषय में अब तक जो बातें ज्ञात हुई हैं उनसे निम्नलिखित सारांश निकलता है।

सभ्य जातियों में लगभग सभी स्त्री-पुरुषों में प्रौढावस्था तक क्षय-संक्रमण हो जाता है, परन्तु इस संक्रमण से सब में रोग नहीं होता।

क्षय-संक्रमण लगभग सब लोगों में बाल्यावस्था में हो जाता है और क्षय-कीटाणु शरीर के अन्दर वर्षों तक चुपचाप पड़े रहते हैं। जब शरीर की प्रतिरोधशक्ति कम हो जाती है अथवा किसी कारण से कीटाणु पुनरुत्तेजित हो जाते हैं तो आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण होकर क्षय-रोग हो जाता है।

बाल्यावस्था में संक्रमण होने पर यदि उग्र क्षय होकर तुरन्त मृत्यु न हो जाय तो क्षय-कीटाणुओं के बाह्य और आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण के प्रति प्रतिरोधशक्ति बढ़ जाती है। अधिकांश लोगों में यह उपार्जित रोग-क्षमता इतनी होती है कि उनके जीवन भर न बाह्य पुनर्संक्रमण हो सकता है और न आभ्यन्तरिक।

जब किसी कारणवश इस रोगक्षमता का ह्रास हो जाता है तो शरीर के अन्दर के कीटाणु पुनरुत्तेजित होकर और सन्तानोत्पत्ति करके अन्य स्थानों में फैल जाते हैं और वहाँ रोग उत्पन्न कर देते हैं। अनुभव से यह विदित होता है कि ऐसे स्थानान्तरिक पुनर्संक्रमण उन लोगों में अधिकतर होते हैं जिनमें बाल्यकाल में अधिक मात्रा में संक्रमण होता है।

अतएव राजयक्ष्मा क्षय-कीटाणुओं के बाह्य और आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण के प्रति रोगक्षमता की एक अभिव्यक्ति होती है। जब किसी



चित्र सं० ११—[illegible] फेफड़े के इस चित्र में [illegible] सूचित करते हैं।

(From Baldw[illegible] [illegible]dar's Bacteriology, [illegible]
Path[illegible] [illegible] and Tube C[illegible])

आठवाँ परिच्छेद

निदान और शरीर-विकृति

यक्ष्म—जब क्षय-कीटाणु शरीर मे प्रविष्ट होकर किसी स्थान पर स्थापित हो जाते हैं और उनकी वृद्धि होने लगती है तो शरीर के ततुओ मे आत्मरक्षक और बाद को क्षतिपूरक प्रतिक्रियाये होने लगती है। आक्रान्त ततु की रचना, सक्रमण की तीव्रता, शरीर की रोगक्षमता तथा बहुत सी अन्य बातो के अनुसार, जिनका अभीतक ठीक ठीक ज्ञान नही हुआ है, यह प्रतिक्रिया विविध रूप की होती है। परन्तु सबका मूलाधार एक ही होता है। क्षय-कीटाणुओ से जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे विशिष्ट और लाक्षणिक रूप के होते हैं। क्षय-कीटाणुओ की उत्तेजना से तन्तुओ मे उत्पादक प्रदाह होकर वहाँ पर एक गुठली सी बन जाती है जिसको यक्ष्म (Tubercle) कहते हैं।

यक्ष्मनिर्माण क्षयोप्रक्रिया को विशेषता और मूल तत्व होता है। इसका सर्वोत्तम अध्ययन उग्र व्यापक बजरीले क्षय (Acute miliary Tuberculosis) मे होता है, क्योंकि इस रोग मे कीटाणुओ के उत्तरोत्तर आक्रमणो के अनुरूप हर आयु के यक्ष्म पाये जाते हैं। छोटी छोटी कडी गिरिटयाँ फेफडो भर मे बिखरी हुई होती हैं। नए यक्ष्म भूरे रग के और अर्द्ध पारदर्शक होते हैं और पुराने यक्ष्म कुछ पीलापन लिए हुए सफेद और अपारदर्शक होते हैं। नये पारदर्शक यक्ष्म बाजरा के दानो से छोटे और पुराने अपारदर्शक यक्ष्म कुछ बडे होते हैं (चित्र न० १९)। फेफडो के ऊपरी भाग मे वे अधिक सख्या में और अधिक बडे होते है, क्योंकि ऊर्ध्व स्थलों म रक्तप्रवाह की कमी के कारण उनकी वृद्धि अधिक और शीघ्र होती है। अलग अलग ये यक्ष्म इतने छोटे होते हैं कि नग्न नेत्र से साफ साफ दिखाई

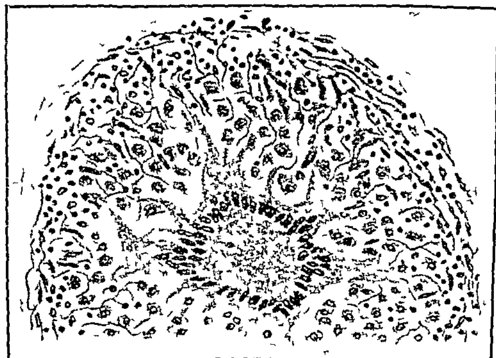


चित्र न० १६—उग्र व्यापक बजरीला क्षय, फेफड़े के इस चित्र में छोटे छोटे सफेद दाने यक्ष्म सूचित करते हैं।

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis, by permission.)

(पृष्ठ १२०)

The Hindi Mandir Press, Allahabad



चित्र नं० २१—यक्ष्म का सूक्ष्म रूप अधिक बढ़े हुए रूप में (Tendeloo)

(पृष्ठ १५१)

The Hindi Mandir Press Allahabad

नहीं पड़ते। जो यक्ष्म दिखाई देते हैं, वे वस्तुत अनेक छोटे छोटे यक्ष्मों के समूह होते हैं। इसलिए उनको सयुक्त यक्ष्म (Conglomerate tubercle) कहते हैं।

यक्ष्म का सूक्ष्म रूप—अणुवीक्षण यन्त्र से देखने पर यक्ष्म एक विशिष्ट सुपरिगत सेल समूह प्रतीत होता है (चित्र न० २० और २१)। उसमे आदि से ही रक्त का अभाव होता है। निकटस्थ लसिका और रक्तवाहिनी नाड़ियाँ सेलों की वृद्धि मे दबकर मिट जाती हैं। प्रत्येक प्रतिरूपक तरुण यक्ष्म मे एक बहुमींगी वाली (Multi neucleted) सेल होती है, जिसको दैत्यसेल (Giant cell) कहते हैं। इस दैत्यसेल के चारोओर एक विशेष प्रकार की सेलें होती हैं जो रूप और विन्यास मे उपस्तरण (Epithelium) की सेलों के सदृश होती हैं। इसलिए इन सेलों को उपस्तरणीयवत (Epithelioid) सेल कहते हैं। इन सेलों के चारोंओर यक्ष्म की परिधि पर लसिकाणुओं का घेरा होता है।

दैत्यसेल—साधारणत दैत्यसेल यक्ष्म के मध्य मे होती है। इसका शरीर वसात्मक अपकृष्ट जीवोज (Degenerative protoplasm) का बना होता है जिसमे बहुत सी मींगी होती हैं। मींगी देखने में अडाकार तथा लम्बाकार होती हैं और विन्यास मे समकेन्द्रिक अर्द्धचन्द्राकार या छल्लाकार होती हैं। इनकी सख्या कभी कभी एक दैत्यसेल मे सौ तक होती है। क्षय-कीटाणु प्रधानत दैत्यसेलों मे मींगियो के बीच बीच मे अलग अलग अथवा गुच्छों में पड़े दिखाई देते हैं। प्रौढ दैत्यसेलों के जीवोज के केन्द्र मे क्षय-कीटाणु नहीं होते। दैत्यसेल का जीवोज या तो समानभाव अथवा कुछ कुछ दानेदार होता है। इसकी लम्बी लम्बी धाराएँ निकटस्थ उपस्तरणीयवत सेलो के बीच मे भी फैली हुई दिखाई दे सकती है।

दैत्यसेल की व्युत्पत्ति—दैत्यसेलो की व्युत्पत्ति का विषय विवादग्रस्त है। वीगर्ट और बामगर्टन इत्यादि कुछ लोगो का मत है कि क्षय-कीटाणुओं के विषैले प्रभाव के कारण जीवोज तो पृथक् पृथक् सेलो मे विभक्त नहीं हो सकता, परन्तु मींगियों मे विभाजनशक्ति बनी रहती है, इससे दैत्यसेल उत्पन्न हो जाती है। क्षयी केन्द्रों मे साधारणत ऐसी सेले मिलती है जिनका जीवोज अपकृष्ट तथा जिनकी मींगियों मे रजकतंतु अधिक होता है। इस मत के अनुसार दैत्यसेल एक अपकर्षीय घटना होती है। दूसरी ओर

इसके विपरीत मेचनीकाफ का मत है कि दैत्यसेल की उत्पत्ति कीटाणुभक्षण (Phagocytosis) की एक अभिव्यक्ति होती है। दैत्यसेलें सक्रिय वृहत कीटाणुभक्षी सेलें होती हैं जो अनेक उपस्तरणीयवत् सेलों के मिलने से आक्रमणकारी क्षय-कीटाणुओं के सङ्गठित प्रतिकार के लिए बनती हैं। दैत्य-सेल के जिस भाग में मींगी नहीं होती वह साधारणतः कीटाणुओं के विषों से नष्ट होता है। अस्तु, यह प्रकट है कि दैत्यसेलों की व्युत्पत्ति का प्रश्न अभी तक हल नहीं हुआ है। जैसा कि बताया जा चुका है क्षय-कीटाणु प्रधानतः दैत्यसेलों में पाये जाते हैं और कभी कभी उपस्तरणीयवत् सेलों में भी मिलते हैं, परन्तु सेलों के अन्तर्वर्ती पदार्थ में बहुत विरल होते हैं। यक्ष्म के किलाटीय अंशों में वे परिधि पर मिलते हैं, मध्य में कभी नहीं मिलते। किलाटभूत दैत्यसेलों में केवल उन्हीं भागों में मिलते हैं जिनमें रञ्जनशक्ति बनी रहती है।

उपस्तरणीयवत् सेलें (Epithelioid cells)—कुछ यक्ष्मों में उपस्तरणीयवत् सेलें कम होती हैं और लसिकाणुओं की संख्या अधिक होती है। ऐसे यक्ष्मों को लसिकाणुप्रधान यक्ष्म (Lymphoid tubercle) कहते हैं। परन्तु अधिकतर यक्ष्मों में उपस्तरणीयवत् सेलें प्रधान होती हैं। ऐसे यक्ष्मों को उपस्तरणीयवत् सेलप्रधान यक्ष्म (Epithelioid tubercle) कहते हैं। ये सेलें गोल अथवा कुछ कुछ लम्बी सी होती हैं और इनके शरीर पर साधारण रँगने की विधि से हलका रंग चढ़ता है। उनकी मींगी में साधारणतः बहुत थोड़ा दानेदार क्रोमैटिन (Chromatin) होता है। दैत्य-सेलों की भाँति इन सेलों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी मतैक्यता नहीं है। मैक्सिमों का विचार है कि ये सेलें लसिकाणुओं से उत्पन्न होती हैं। परन्तु बामगार्टन के मतानुसार इनकी सृष्टि बंधकतन्तुओं की सेलों से होती है। अन्य लोगों का विचार है कि वे रक्त की भ्रमणकारी सेलों (Wandering cells) से उत्पन्न होती हैं। फुट के मतानुसार वे रक्तनाड़ियों के अन्तस्तरण (Endothelium) की सेलों से उत्पन्न होती हैं।

यक्ष्म की उत्पत्ति—यक्ष्म की उत्पत्ति का विषय बहुत दिनों से विवादग्रस्त चला आता है, परन्तु बामगार्टन की विस्तृत खोज से इस बात पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है। यह देखा गया है कि जब क्षय-कीटाणु किसी रक्तकेशिका में अथवा अन्तिम श्वासप्रणालिका

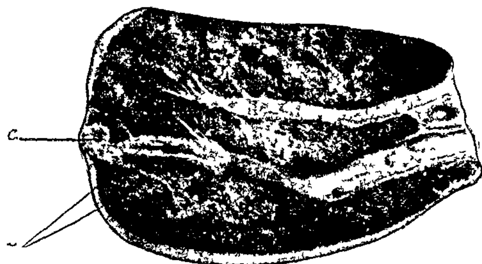
की दीवार मे रुक जाते हैं तो उनसे साधारण प्रवाह की भाँति रक्तनाडियो का फूलना, और उनसे श्वेत रक्तकणो का बाहर निकलना, इत्यादि प्रतिक्रिया नहीं होती, किन्तु स्थानिक बधक तन्तु की सेलो से नई सेले उत्पन्न होती हैं जो कीटाणुओं को घेर लेती हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन स्थानिक तन्तु की सेलों से उत्पन्न नई सेले उपस्तरणीयवत सेलों मे परिणत हो जाती हैं और उनमें से कई एक के मिलने पर दैत्यसेल बनती है। क्षय-कीटाणुओं के विषों से कुछ सेले नष्ट हो जाती है और फलत रक्त से कुछ भ्रमणकारी सेले आने लगती हैं। पहले तो ये बहु मींगीवाली होती है, परन्तु शीघ्र ही इनका स्थान लसिकाणु ले लेते हैं जो यक्ष्म के बाहरी भाग मे दिखाई देते हैं।

यक्ष्म का विकास और प्रगति

विनाश—(Coagulation necrosis) जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यक्ष्म मे रक्तनाडी नही होती, इसलिए रक्त के अभाव के कारण उनकी प्राणशक्ति टिकाऊ नही होती। इसके अतिरिक्त क्षय कीटाणु और यक्ष्म की नई सेलों मे जो जीवनसंग्राम होता है, उसमे कुछ कीटाणुओ का भी नाश होता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि कीटाणुओ के नष्टभ्रष्ट शरीरों से विषैले पदार्थ निकलते हैं। रक्त की कमी और कीटाणुओं के विषो से सेल-समूह के मध्यभाग की सेलो को मृत्यु हो जाती है। मृत सेलों की मींगी टूटफूट जाती है और उनके जीवोज मे वसात्मक अपकर्ष (Fatty degeneration) हो जाता है। फलत सेलो का पृथक् रूप मिटकर एक रूपरहित राशि बन जाती है।

किलाटीय परिवर्तन—(Caseation) सेलों की मृत्यु के पश्चात् उनके शरीरो की रूपरहित राशि रासायनिक परिवर्तन से पनीर के सदृश एक श्वेत अपारदर्शक पदार्थ में परिणत हो जाती है। (चित्र न० ?? और २३) किलाटसदृश रूप होने के कारण इस प्रक्रिया को 'किलाटीय प्रक्रिया' (Caseation) कहते हैं। कभी कभी यह किलाटीय पदार्थ अनियत काल तक ज्यो का त्यों बना रहता है, परन्तु अन्त मे (शीघ्र या देर मे) उसमे इन दो में से एक प्रकार का परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि एक ओर जहाँ क्षय-कीटाणु शरीर की सेलो के नाश की चेष्टा करते हैं वहाँ दूसरी ओर शरीर की सेलें कीटाणुओं के आक्रमण को रोकने की और उनके द्वारा की हुई क्षति को पूरा करने की चेष्टा करती हैं। यह क्षतिपूरक क्रिया (Reparative process)

चित्र २२



चित्र न० २२—किलाटीय परिवतन। 'सी' (c) अक्षर फुफ्फुस शिखर मे रध्र सूचित करता 'एफ' (f) अक्षर फुफ्फुस खंडों के बीच मे की दरार सूचित करता है। चित्र के निचले भाग मे भूरे अंश विस्तृत किलाटीय परिवतन सूचित करते हैं। चित्र न० २३—'सी' (c) अक्षर शिखर ऊपरी भाग में एक छोटा किलाटीय स्थल सूचित करता है। 'बी' (b) अक्षर एक

की दीवार मे रुक जाते हैं तो उनसे साधारण प्रदाह की भाँति रक्तनाडियो का फूलना, और उनसे श्वेत रक्तकणो का बाहर निकलना, इत्यादि प्रतिक्रिया नही होती, किन्तु स्थानिक बधक तन्तु की सेलों से नई सेले उत्पन्न होती हैं जो कीटाणुओं को घेर लेती हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन स्थानिक तन्तु की सेलो से उत्पन्न नई सेले उपस्तरणीयवत सेलों मे परिणत हो जाती हैं और उनमें से कई एक के मिलने पर दैत्यसेल बनती है। क्षय-कीटाणुओं के विषों से कुछ सेले नष्ट हो जाती है और फलत रक्त से कुछ भ्रमणकारी सेले आने लगती हैं। पहले तो ये बहु मींगीवाली होती हैं, परन्तु शीघ्र ही इनका स्थान लसिकाणु ले लेते हैं जो यक्ष्म के बाहरी भाग मे दिखाई देते हैं।

यक्ष्म का विकास और प्रगति

विनाश—(Coagulation necrosis) जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यक्ष्म मे रक्तनाडी नही होती, इसलिए रक्त के अभाव के कारण उनकी प्राणशक्ति टिकाऊ नही होती। इसके अतिरिक्त क्षय कीटाणु और यक्ष्म की नई सेलों मे जो जीवनसंग्राम होता है, उसमे कुछ कीटाणुओ का भी नाश होता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि कीटाणुओं के नष्टभ्रष्ट शरीरों से विषैले पदार्थ निकलते हैं। रक्त की कमी और कीटाणुओ के विषों से सेल-समूह के मध्यभाग की सेलो की मृत्यु हो जाती है। मृत सेलों की मींगी टूटफूट जाती है और उनके जीवोज मे वसात्मक अपकर्ष (Fatty degeneration) हो जाता है। फलत सेलों का पृथक् रूप मिटकर एक रूपरहित राशि बन जाती है।

किलाटीय परिवर्तन—(Caseation) सेलों की मृत्यु के पश्चात् उनके शरीरों की रूपरहित राशि रासायनिक परिवर्तन से पनीर के सदृश एक श्वेत अपारदर्शक पदार्थ मे परिणत हो जाती है। (चित्र न० ७२ और ७३) किलाटसदृश रूप होने के कारण इस प्रक्रिया को 'किलाटीय प्रक्रिया' (Caseation) कहते हैं। कभी कभी यह किलाटीय पदार्थ अनियत काल तक ज्यों का त्यों बना रहता है, परन्तु अन्त मे (शीघ्र या देर में) उसमे इन दो में से एक प्रकार का परिवर्तन हो जाता है, क्योकि एक ओर जहाँ क्षय-कीटाणु शरीर की सेलो के नाश की चेष्टा करते हैं वहाँ दूसरी ओर शरीर की सेले कीटाणुओं के आक्रमण को रोकने की और उनके द्वारा की हुई क्षति को पूरा करने की चेष्टा करती हैं। यह क्षतिपूरक क्रिया (Reparative process)

दो प्रकार की होती है—(१) खटिकसंग्रह (Cafcifiction), (२) स
निर्माण (Fibrosis) ।

खटिकसंग्रह—पहले किलाटीय पदार्थ सौत्रिक तन्तु से घिर ज
है और फिर जल का शोषण होकर शुष्क हो जाता है तथा मात्रा मे व
कम हो जाता है । इसके बाद उसमे खटिक (Calcium) के दाने जमा ह
लगते हैं, जिससे अन्त मे वह ककडीला हो जाता है (चित्र न० २४) । क
कभी खटिक के दानों के मिलने से बडी बडी ककडी सी बन जाती हैं ।
ककड़ियों मे प्राय कीटाणु जीवित अवस्था में बने रहते हैं । यह रासायनि
परिवर्तनक्रिया क्षयी व्रणों के पुरने की साधारण और स्वाभाविक विधि होती

सूत्रनिर्माण—परन्तु यक्ष्म मे सदा किलाटीय परिवर्तन, खटि
सग्रह अथवा गलाव नही होता । अधिकाश लोगो मे, जिनमे राजयक्ष
विकसित नही होता अथवा उसकी प्रगति रुककर अन्त मे रोग अच्छा
जाता है, बधक तन्तु की सेलो से सूत्र की रचना होकर यक्ष्म सौत्रिक क्षत-चि
मे परिणत हो जाता है । मृतक शरीरो का शवच्छेद करने पर निदानशास
वेत्ताओं को पता लगा है कि अधिकाश लोगो के फेफडो और पार्श्वकलाअ
मे क्षतचिह्न होते हैं, जिससे विदित होता है कि बहुत से लोगों में क्षय-रोग होक
स्वय अच्छा हो जाता है । इन्ही पुरे हुये अथवा गुप्त क्षयी-विकारवाले लोगों
यक्ष्मिन प्रतिक्रिया मिलती है, यद्यपि प्रकटत उनमे कोई रोग नही होता ।

गलाव (Softening)—जब नाशकारक क्रिया प्रबल होती है त
यक्ष्म के किलाटीय पदार्थ मे सौत्रिक या खटिक परिवर्तन होने के बजा
गलाव होने लगता है । जब ऐसा होता है तो यक्ष्म पक जाता है और उसक
किलाटीय पदार्थ गलकर क्षयी पीव मे परिणत हो जाता है । (चित्र न २५

यक्ष्म की अन्तगति—यक्ष्म की अन्तगति सूत्रनिर्माण तथ
खटिकपरिवर्तन और किलाटीयपरिवर्तन तथा गलाव—इन दोनों प्रकार क
क्षतिपूरक और नाशकारक प्रक्रियाओं की तीव्रता पर निर्भर होती है । वस्तुत
क्षय-रोग की गति पर इन्ही दो क्रियाओं की परस्पर तीव्रता का प्रभाव होत
है । पहली दो क्रियायें क्षतिपूरक और दूसरी दो क्रियाये नाशकारक होती हैं
जब नाशकारक क्रियायें प्रबल होती हैं तो रोग के लक्षण और रोग का विस्तार—
दोनों में वृद्धि होती है । जब क्षतिपूरक क्रियायें प्रबल होती हैं तो रोग क
गति मद होती है और अन्त मे सौत्रिक या खटिक परिवर्तन होकर क्षयी व्रण



चित्र नं० २४—किलाटीय भाग में ग्रटिकसंग्रह; काले काले गोल दाने संगृहीत ग्रटिक के दाने सूचित करते हैं

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis, by permission)

(पृष्ठ १५४)

The Hindi Mandir Press, Allahabad



चित्र न० २५—रन्ध्र बनने से पूर्व किलाटीय भाग में गलाव

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis, by permission)

(पृष्ठ १२४)



चित्र न० २६—फेफड़े के शिखर में नयी क्षत-चिह्न

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis, by permission)

(पृष्ठ १२७)

The Hindi Mandir Press, Allahabad

अच्छे तक हो जाते हैं। साधारण पुरातन राजयक्ष्मा मे दोनो प्रकार की क्रियायें प्राय साथ साथ चलती है। क्षतिपूरक प्रक्रिया, जिसमे वधक ततु की सेलो की सम्वृद्धि होती है, प्रधानत यक्ष्म की परिधि पर दिखाई देती है। यक्ष्म के मध्यभाग में नाशकारक क्रिया की प्रबलता होती है। इसलिए यक्ष्म के मध्यभाग मे बहुधा किलाटीयपरिवर्तन देख पडता है और उसको घेरे हुये सौत्रिक ततु होता है। इससे स्पष्ट है कि रुग्नभाग को परिमित करने की प्रकृति कितनी चेष्टा करती है। अन्त मे जैसा कि पहले कहा जा चुका है, घिरे हुए किलाटीय पदार्थ मे खटिक सग्रह हो जाता है।

फेफड़ों के क्षय-रोग का विकाश और रूप—यह पहले ही बताया जा चुका है कि सभ्य जातियो के अधिकाश लोगो मे बीस वर्ष की आयु तक क्षय सक्रमण हो जाता है और क्षय-कीटाणु साधारणत भोजन अथवा श्वास मार्ग के किसी भाग से शरीर मे प्रवेश करते हैं। इस बात पर विचार करते हुए कि लोग बिना सोचे विचारे चाहे जहाँ थूक देते हैं और श्वास या भोजन के साथ कफ के कणो का शरीर के अन्दर पहुँचना कितना आसान है, मनुष्य जाति मे क्षय-सक्रमण की विश्वव्यापकता समझ मे आ जाती है। अब यह देखना है कि मनुष्य-शरीर मे क्षय-सक्रमण और क्षय-रोग मे क्या क्या विकार उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य में प्राथमिक यक्ष्म—प्रयोगो से यह स्पष्ट ज्ञात हो चुका है कि किसी पशु में प्रथम क्षय सक्रमण से जो यक्ष्म उत्पन्न होता है, उसका रूप उसी पशु मे बाद की क्षय रोग की सब अभिव्यक्तियो से भिन्न होता है। प्राथमिक विकार में केवल उत्पादक प्रतिक्रिया होती है जिससे कई सेलों के घनने से यक्ष्म की उत्पत्ति होती है, परन्तु स्रावक प्रवाह बिलकुल नही होता। यह प्राथमिक विकार कुछ बडा हो जाता है और लसिकावाहिनियोंद्वारा निकटस्थ लसिका ततुओ मे स्थानान्तरित हो जाता है, जहाँ पर द्वितीयक (Secondary) रूप के विकार हो जाते हैं। इस दर्जे तक पहुँचकर विकार की प्रक्रिया रुक सकती है और सूत्रनिर्माण तथा खटिक सग्रह होकर विकार अच्छा हो जाता है। कभी-कभी विकार पूर्णत विलीन हो जाता है। परन्तु जब तक इस प्राथमिक सक्रमण का कुछ भी चिह्न अवशिष्ट रहता है तब तक वह पशु क्षय-कीटाणुओ के प्रति अतिचैतन्य रहता है और जब

कभी उन कीटाणुओ से फिर सक्रमण होता है तो वह उनका घोर प्रतिरोध करता है जो स्रावक प्रवाह के रूप मे व्यक्त होता है। यदिमन प्रतिक्रिया के अनुभव से यह विदित होता है कि मनुष्यों में भी ऐसी ही अतिचैतन्यता की दशा होती है जो प्रथम वर्ष के बाद प्रकट होती है और आयु के पहली और दूसरी दशाब्दियों मे क्रमश बढती जाती है। चूँकि बहुत कम बच्चो में क्षय-रोग के लक्षण व्यक्त होते हैं और चिह्न मिलते हैं, इसलिए यह स्वत' प्रकट होता है कि इस अतिचैतन्यता के कारणरूपी विकार बहुत छोटे होते हैं,—इतने छोटे कि उनका पता लगाना बडा कठिन होता है।

फेफड़ों में प्राथमिक विकार—अनेक निदानशास्त्रवेत्ताओ ने इन प्राथमिक विकारो का पता लगाने को चेष्टा की है। सावधानी से शवच्छेद करने और फेफडों को निकालकर उनकी एक्सरे-परीक्षा करने से यह विदित हुआ है कि लगभग २० प्रतिशत लोगो के फेफडो मे *बिखरे हुए खटिकपूर्ण* विकार मिलते हैं। साधारणत ऐसे विकार बहुसंख्यक होते हैं, पर कभी कभी अकेले भी होते हैं उनमे से अधिकाश फेफडे के पृष्ठ से लगभग ½ इच की गहराई पर होते हैं। फेफडे के शिखर पर वे बहुत कम होते हैं। परिमाण मे सरसो से लेकर ज्वार तक के बराबर होते हैं। अणुवीक्षण यन्त्र से देखने पर विदित होता है कि वे विकास की विभिन्न अवस्थाओ के होते हैं। छोटी गिल्टियाँ गोल होती हैं। उनके बीच का भाग ककडीला होता है और सघन सौत्रिक तनु से घिरा होता है। बडे विकार आकर मे अनियमित होते हैं और लगभग सौत्रिक तंतु के बने होते हैं। अनेक मे खटिक-सग्रह के ककडीले अश होते हैं और मध्य मे प्राय सूखा या कुछ गीला किलाटीय पदार्थ होता है। सबके सब सुसीमित होते हैं और फुप्फुस तनु के बीच में नगो की भाँति जडे हुए से प्रतीत होते हैं। फेफडे के जिन भागों में वे होते हैं उनसे सम्बन्ध रखनेवाली लसिकावाहिनियों और ग्रन्थियो मे भी पुरातन रोग होता है। साधारणत फुप्फुस तनु की अपेक्षा लसिका ग्रन्थियों में रोग अधिक विस्तृत होता है। साधारणत उनमे किलाटीय परिवर्तन होने के बाद सूत्र-निर्माण या खटिक-सग्रह मिलता है। फेफडे के इन पृष्ठस्थ विकारों और तत्सम्बन्धी लसिका-ग्रन्थियो के सम्मिलित रोग को वान रैङ्की ने प्राथमिक संयोग (Primary complex) का नाम दिया है।



चित्र नं० २७—शिखर क्षय, कोषबद्ध किलाटीय पदार्थ और लसिकावाहिनियों तथा श्वास नलोंद्वारा स्थानिक प्रसार।
(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis, by permission)
(पृष्ठ १५७)



चित्र नं० २८—शिखर क्षय, चित्र २७ का अणुवीक्षण यन्त्रद्वारा प्रदर्शित रूप
(From Baldwin Petroff and Gardner's Bacteriology Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis, by permission)
(पृष्ठ १६०)

The Hindi Mandir Press Allahabad





चित्र नं० २९—शिखर का निवृत्त क्षय
पार्श्वकला मोटी होगई है, 'सी' (C) अक्षर अवशिष्ट
रंध्र सूचित करता है, 'टी,' 'बी' (T B)
अक्षर ककड़ीला क्षय और श्वासनला
की मोटी पड़ी हुई दीवार सूचित
करते हैं

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriol
Pathology and Laboratory diagnosis of Tuber
culosis, by Permission)

(पृ० १४०)

चित्र नं० ३०—शिख तपाक वायुमान

(From Baldwin, Petr er's Bacterio
Pathology and Lab is of Tube
culosis, by

(पृ

The Hindi Mandir Press Allahabad

द्वितीयक रूप का क्षय-रोग

फुफ्फुस शिखर का क्षय—सभ्य जातियों के लोगों के फेफड़े की जाँच करने से पता लगता है कि अधिकांश लोगों में एक या दोनों फेफड़ों के शिखरों पर स्थानाबद्ध कठोर और पिचके हुए क्षेत्र मिलते हैं और उनके साथ साथ पार्श्वकला में सघन बंधन होते हैं। ऐसे विकार विभिन्न देशों में २० से ९० प्रतिशत तक लोगों में पाये जाते हैं। शिखरों के इन विकारों की सावधानी से जाँच करने पर पता लगता है कि उनके आसपास फुफ्फुस प्रायः सिकुड़ा हुआ होता है और उनके ऊपर की पार्श्वकला भीतर की ओर खिंची हुई होती है। काटकर देखने पर इन विकारों के विविधरूप मिलते हैं। विकार क्षेत्र साधारणतः पच्चाकार होता है। उसका चौड़ा भाग पार्श्वकला की ओर तथा नोक भीतर की ओर होती है और उसमें जाती हुई एक मोटी और टेढ़ी मेढ़ी श्वास प्रणालिका होती है। इस श्वास-प्रणालिका के साथ रक्तनाड़ियाँ होती हैं और वे भी मोटी और कड़ी होती हैं। फुफ्फुस ततु के स्थान में गहरे रंग का सौत्रिक गूथ (क्षत-चिह्न) होता है (चित्र न० २६), जिसमें क्षयी प्रक्रिया के चिह्न कभी मिलते हैं और कभी नहीं मिलते। कुछ में भूरे रंग के छोटे छोटे बहुत से यक्ष्म मिलते हैं जिनमें से कुछ ककड़ीले होते हैं। किसी किसी में मटर से लेकर विलायती अखरोट के कद की एक गिल्टी होती है जो कभी कभी पूर्णतः ककड़ीली होती है और कभी कभी उसमें कुछ श्लिलाटीय पदार्थ होता है (चित्र न० २७ और २८)। कुछ रोगियों में शिखर पर छोटे रंध्र बन जाते हैं जो कभी खाली और कभी स्राव से भरे होते हैं (चित्र न० २९)। श्वास-नलों और रक्तनाड़ियों के ऊपर से नीचे तक जाँच करने से पता लगता है कि उनके शाखाओं में विभाजित होने के स्थान पर जो लसिका-ततु होता है उसमें भी कुछ रंगीन गाँठें सी होती हैं जो सूत्रनिर्माण या स्फटिकपरिवर्तन से पुरे हुए यक्ष्मों की बनी हुई प्रतीत होती हैं। परन्तु ऐसे विकार बहुत दूर तक नहीं होते। टेंटुआ और श्वास-नलों की लसिका-ग्रन्थियों की जाँच करने पर उनमें फुफ्फुस ततु के रोग के अनुरूप कोई रोग-चिह्न नहीं मिलते।

फेफड़े के शिखर के विकृत भाग को काटकर और उसकी अणुवीक्षण यन्त्रद्वारा परीक्षा करने पर पता लगता है कि वह एक पुरा हुआ निवृत्त

क्षयी विकार होता है और उसके चारोओर सूत्रनिर्माणयुक्त पिचका हुआ फुफ्फुस ततु होता है। परन्तु क्षतिपूर्ति की मात्रा न्यूनाधिक होती है। किसी किसी मे तो यक्ष्मों मे किलाटीय पदार्थ होता है जिसमे क्षय-कीटाणु भी होते हैं। औरो मे यक्ष्मो के बजाय केवल स्फटिक और सौत्रिक ततु के ढेर होते हैं। क्षत-चिह्नों के सिकुड़ने मे फेफड़े के उस भाग का प्रकृतिस्थ कोष्ठीय रूप बिगड जाता है और पिचके हुए वायुकोष्ठो के चारोओर प्रतिपूरक वायुध्मान होता है (चित्र न० ३०)।

शिखर का यह क्षय-रोग फेफडे के अन्य भागो मे बिखरे हुए छोटे छोटे प्राथमिक विकारो से कही भिन्न होता है। यह विस्तार मे बडा होता है और सुसीमित नहीं होता। इसके अवयव विविध रूप के होते हैं और इसके साथ टेटुँआ और श्वास-नलो की लसिका-ग्रन्थियो मे रोग नही होता। इसमे निवृत्त क्षयी प्रदाह के लगभग सब लक्षण होते हैं। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि मनुष्य में फेफडे के शिखर का क्षय-रोग प्राथमिक क्षयी विकार नहीं होता, बल्कि पुनर्संक्रमण की एक अभिव्यक्ति होती है। शिखर का यह विकार पूरी तरह से पुरा हुआ नहीं होता है। पशुओं मे पिचकारी लगाकर यह सिद्ध किया जा चुका है कि शिखर के विकार मे जीवित क्षय-कीटाणु रहते हैं और यहाँ से फेफडे के अन्य भागो तथा अन्य इन्द्रियो मे रोग के फैलने की आशका रहती है।

प्राथमिक क्षयी विकार और शिखर के क्षय-रोग में सम्बन्ध— प्राथमिक क्षयी विकार फेफडे भर मे बिखरे होते हैं और पार्श्वकला से कुछ नीचे होते हैं। साधारणत वे फुफ्फुस शिखरो मे नहीं होते। फिर उनका शिखर-क्षय से क्या सम्बन्ध होता है? यह स्वय स्पष्ट है कि उनके सीधा फैलने से शिखर मे रोग नही होता। यह ऊपर बताया जा चुका है कि प्राथमिक यक्ष्मों के साथ रोग सदा लसिकावाहिनी नाड़ियोंद्वारा स्थानान्तरित होकर टेटुँआ और श्वास-नलो की लसिका-ग्रन्थियों में पहुँच जाता है।

जब टेटुँआ और श्वास-नलो की लसिका-ग्रन्थियो मे विस्तृत रोग हो जाता है तो उनमे क्षय-कीटाणुओं को रोकने की पूरी शक्ति नहीं रहती। कुछ कीटाणु उनमे होकर निकल जाते हैं और महा लसिका नाडी (Thoracic duct) मे होते हुए शिरा-रक्त मे जा मिलते हैं। शिरा-

क्त के द्वारा फुप्फुस धमनी मे होकर वे फेफडे मे फिर पहुँच जाते हैं और वहाँ अनेक कीटाणु रक्त-केशिकाओं मे रुक जाते हैं। चूँकि इस विधि से क्षय कीटाणु फेफडे के सब भागो मे पहुँचते हैं, इसलिए अब प्रश्न यह उठता है कि द्वितीयक रूप का क्षय-रोग केवल शिखरो पर ही क्यो होता है? फेफडे के इस भाग की दशा अनोखी होती है। साधारण श्वास मे इस भाग मे गति बहुत कम होती है, फलत रक्त तथा लसिका का प्रवाह बहुत धीमा होता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि जब क्षय-कीटाणु किसी रक्त-केशिका मे देर तक ठहर जाते हैं तो वे उनसे बाहर निकलकर वायु कोष्ठो मे पहुँच जाते हैं और फिर से लसिकावाहिनियो के प्रभाव मे आ जाते है। जिस स्थान पर लसिका-प्रवाह मद होता है उस स्थान पर वे बहुत देर तक बने रह कर रोग उत्पन्न कर देते हैं। फुप्फुस शिखर मे ऐसी दशा के होने का युक्तिपूर्वक अनुमान किया जा सकता है।

इसप्रकार फुप्फुस तन्तु मे क्षय-कीटाणु जब दुबारा जमा होते हैं तो पहले से सचेत हुए तन्तुओं मे उनका घोर प्रतिरोध होता है जो प्रदाह के रूप मे व्यक्त होता है। इस स्रावक फुप्फुस प्रदाह की मात्रा और विस्तार क्षय कीटाणुओं की सख्या और शरीर की प्रतिरोधशक्ति पर अवलम्बित होता है।

थोडे कीटाणुओं से केवल हल्की और अल्पकालिक प्रतिक्रिया होती है। परन्तु सम्भवत कीटाणुओं का बीजारोपण बहुत दिनो तक जारी रहता है। फलत अन्त मे बहुत बडा भाग रोगाक्रान्त हो जाता है जिसमे विकास की सभी अवस्थाओं के क्षयी विकार मिल सकते हैं।

फेफडे के शिखर मे क्षय-रोग उत्पन्न होने की जो विधि बताई गई है उसमे केवल भीतरी पुनर्संक्रमण ही अन्तर्भुक्त है। यह मालूम है कि पूर्व संक्रमण की दशा मे तन्तुओं मे स्थायी विकार उत्पन्न करने के लिये एक बडी संख्या मे क्षय कीटाणुओं की आवश्यकता होती है। कुछ लोगो का यह कहना है कि शिखर क्षय बाहर से श्वास के साथ आये हुये नये कीटाणुओ से पुनर्संक्रमण होने का फल होता है। परन्तु यह कल्पना करना कि श्वास के साथ इतने अधिक कीटाणु अन्दर पहुँच जायेगे जिससे विस्तृत रोग उत्पन्न हो सके, बहुत कठिन है। यह ठीक है कि प्राथमिक विकार इतने पुर सकते हैं कि जिसमे अतिचैतन्यता कम हो जाय और फलस्वरूप थोडे से कीटाणु भी रोग उत्पन्न करने मे सफल हो सकते हैं। परन्तु ऐसी हालत मे

शरीर की दशा लगभग प्राथमिक संक्रमण की सी हो जायगी। ऐसी दशा में श्वास-मार्गद्वारा नये संक्रमण से ऐसी विस्तृत प्रदाही प्रतिक्रिया, जिसके बाद पुरातन क्षय रोग हो जाय, नही होनी चाहिये, बल्कि केवल स्थानावद्ध उत्पादक विकार होना चाहिये जो खटिक परिवर्तन होकर अच्छा हो जाय।

बाह्य पुनर्संक्रमण के सिद्धान्त के प्रतिपादक इस तर्क को इस बात के उदाहरण देकर काटेंगे कि फेफडे के शिखर का द्वितीयक क्षय-रोग अठारह वर्ष की आयु के पहले विरल होता है और यह कहेंगे कि यदि प्राथमिक विकार ५ या ६ वर्ष को आयु मे हो जाते है तो यह मानना युक्तिसगत है कि शिखर मे रोग अठारह वर्ष से बहुत पहले ही स्थानान्तरित हो जाना चाहिये। परन्तु शवच्छेदानुभव से विदित होता है कि शिशुओ मे भी फेफडे के शिखर मे रंध्रो का पाया जाना कोई असाधारण बात नही होती। स्कूल के बच्चो मे रेथविन की जाँच से स्पष्ट विदित होता है कि उनमें शिखर का पुरातन रोग, उससे कही अधिक होता है, जितना लोग पहले समझते थे। दूसरी ओर ऐसी अनेक अन्य बाते भी होती हैं जिनके कारण फुफ्फुस शिखर मे प्राथमिक संक्रमण के बाद तुरन्त क्षय-रोग नही होता। प्रयोग की दशाओ मे हाल के प्राथमिक संक्रमण से शरीर मे इतनी अतिचैतन्यता आ जाती है कि श्वासद्वारा अपेक्षाकृत बडी मात्रा में पुनर्संक्रमण होने मे भी फेफडो मे केवल बहुत थोडा स्थायी विकार होता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि एक बार थोडी मात्रा मे पुनर्संक्रमण होने से कोई विशेष प्रभाव नही होता, परन्तु दीर्घकाल तक लगातार थोडा थोडा पुनर्संक्रमण होने से उनके संचित प्रभाव से अन्त मे पुरातन रोग हो जाता है। अन्तिम बात यह भी स्मरण रखनी चाहिये कि कुकरखाँसी, खसरा इत्यादि अन्तर्वर्ती रोगों का फुफ्फुस क्षय के सुषुप्त विकारो पर निश्चित और सुव्यक्त प्रभाव पडता है। ऐसे रोगो के प्रकोप मे फेफडे या टेटुँआ अथवा श्वास-नलो की लसिका-ग्रन्थियो मे प्रदाह होने से उनमे कीटाणुओ को रोकने की शक्ति नहीं रहती, इसलिये उनमे से क्षय-कीटाणु बाहर निकल जाते हैं।

एक या दोनो फेफडों के शिखरों मे जो निवृत्त क्षयी विकार साधारणत पाया जाता है, उसमे पुनर्संक्रमण के लक्षण होते हैं। यह मानना सबसे अधिक न्यायसगत प्रतीत होता है कि यह विकार प्राथमिक विकारो से, जिनमें टेटुँआ तथा श्वास-नलो की लसिका-ग्रन्थियाँ भी अभिभूत होती हैं,

क्षय-कीटाणुओं के रक्त-मार्गद्वारा लगातार शिखर मे पहुँचने मे होता है। अधिकाश लोगो मे शिखर का विकार बिलकुल अच्छा हो जाता है, परन्तु कुछ लोगों मे यह फैलकर धीरे-धीरे फेफडे के नये क्षेत्रो को आक्रान्त करता जाता है जिसमे अधिक गभीर रोग हो जाता है।

फुफ्फुस शिखर से क्षय-रोग का फैलना—यदि रोग की प्रक्रिया यही पर न रुक जाय तो रोग बढकर फेफडे के अन्य भागो मे और प्राय दूसरे फेफडे मे भी फैल जाता है। सामान्यत रोग ऊपर से नीचे को फैलता है। सबमे पुराने विकार फेफडे के ऊपरी भाग मे होते हैं और निचले भाग मे नवीन विकार होते हैं। साधारणत रोग शिखर मे वर्षो तक शान्त रहकर नीचे को बढता है। फेफडे के शिखर के सुषुप्त रोग को जाग्रत करनेवाले कारणों की विवेचना पूर्व परिच्छेदो मे की जा चुकी है।

शिखर से रोग के फैलने की चार विधियाँ होती हैं

(१) लगातार वृद्धि— शिखर से रोग लगातार बढता हुआ क्रमश नीचे को फैलता जाता है।

(२) रक्तद्वारा रोग का फैलना—उग्रसर्वांगिक बजरीला क्षय तो रक्तद्वारा रोग के प्रसारण से ही होता है, परन्तु वयस्को के पुरातन राजयक्ष्मा के फैलने मे इस मार्ग का बहुत कम हाथ होता है। राजयक्ष्मा रोगियो मे रक्त-मार्ग का रोग के फैलाने मे कम महत्त्व होना इस बात से भी विदित होता है कि अधिकाश रोगियो मे फेफडों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियो मे रोग कम होता है।

(३) लसिकाद्वारा रोग का फैलना—लसिकाद्वारा रोग एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित हो सकता है। परन्तु फेफडे मे क्षय-रोग के फैलने मे इस मार्ग का बहुत कम महत्त्व होता है, क्योंकि राजयक्ष्मा पुनर्संक्रमण का फल होता है और पुनर्संक्रमण मे लसिका-ग्रन्थियाँ बहुत कम अभिभूत होती है।

(४) श्वास-नलोंद्वारा रोग का फैलना—शिखर के प्रारम्भिक विकार से फेफड़े में विस्तृत क्षयी विकारों के होने का सबसे बड़ा साधन श्वास-नलोंद्वारा रोग का फैलना होता है। वस्तुत इसमें कोई सन्देह

नही कि उग्र वजरीले क्षय के अतिरिक्त फेफडे में क्षय-रोग की प्रगति बहुत कुछ श्वास-नलोद्वारा रोग के फैलने पर ही निर्भर होती है।

जब रोग बढता है तो छोटे श्वास-नलो की दीवारे भी आक्रान्त हो जाती हैं। फलत क्षय कीटाणु और नष्टभ्रष्ट तन्तु श्वास-नलों मे पहुँच जाते हैं और उनके द्वारा रोग अन्य भागो मे फैल जाता है। (चित्र नं० ३१)

उत्पादक प्रतिक्रियायें—जब केवल थोडा-सा नष्टभ्रष्ट तन्तु किसी श्वास-नल मे स्खलित होता है तो वह नीचे की शाखा और प्रशाखाओं मे होता हुआ वायु-कोष्ठो की नलियो तक पहुँच जाता है। इस भाग की विचित्र बनावट और विशिष्ट कार्य के कारण बाह्य पदार्थ वहाँ रुक जाते है। यदि क्षय-कीटाणुओ की सख्या कम होती है तो उनसे अल्पकालिक पदाही प्रतिक्रिया हो जाती है, जिसमे बहुत से कीटाणु मारे जाते है। शेष कीटाणु स्थानिक लसिका तन्तु मे ले जाये जाते हैं और वहाँ पर यक्ष्म बन जात हैं।

प्रत्येक सूक्ष्म श्वासप्रणालिका से ३ से ५ तक वायु-कोष्ठीय नलियाँ निकलती हैं। इसलिए कई एक यक्ष्म गुच्छे के रूप मे दिखाई देते हैं। इस गुच्छे का विन्यास एक विशिष्ट ढग का होता है, जो श्वास-नलोद्वारा रोग फैलने का लाक्षणिक होता है। यक्ष्मो का गुच्छा अगूरो के गुच्छे से मिलता-जुलता होता है। फेफडे के क्षय-रोग के इस रूप-भेद को एश्कोफ और उसके शिष्यो ने गुच्छ ग्रथिल (Acinous nodose) क्षय का नाम दिया है। काटकर देखने पर ऐसे विकार भूरे रग के गोल गोल गिल्टियो के गुच्छो के ढेर से लगते हैं। बाद को जब किलाटीय परिवर्तन हो जाता है तो वे पीले हो जाते हैं। अगल-बगल के यक्ष्म जब फैलते हैं तो एक दूसरे से सट जाते हैं और उनके बीच का फुप्फुस ततु, जिसमे कोई विशिष्ट विकार नहीं होता, पिचककर ठोस हो जाता है। इसप्रकार पिचककर ठोस होने को सपीडन सघनता (Collapse induration) कहते हैं। वायु-कोष्ठो की दीवारे इतनी पिचक जाती हैं कि उनमें कार्य-शक्ति नही रहती और उनमे सौत्रिक क्षत-चिह्न बनकर काले दाने जमा हो जाते हैं। जब इसे सपीडित सघन क्षेत्र के चारोंओर कई एक छोटे छोटे यक्ष्म होते हैं तो वे एक दूसरे से मिल जाते हैं और उनके मिलने से एक गाँठ-सी बन जाती है जिसके बीच मे काले दाने होते हैं। यह रूप उत्पादक गुच्छग्रथिल (Proliferative acinous



चित्र नं० ३१—श्वास-नलों द्वारा क्षय रोग का फैलना, बाँये फुफ्फुस शिखर पर स्थित रंध्र से रोग श्वास नलद्वारा फैलकर बाये निचले फुफ्फुसखंड में पहुँच गया है। ए (A) अक्षर टेंटुआ में व्रण सूचित करता है।

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis, by permission)

(पृष्ठ १६२)

The Hindi Mandir Press, Allahabad

नहीं कि इस
कुछ श्वास-न
जब
जाती हैं । प
हैं और उन

किसी श्वा
में होता ह
विचित्र व
हैं । यदि
मवाही भ
कीटाणु
जाते हैं ।

निकलती
गुच्छे स
फैलने का
जुलता जात
शिराओं में ग
दाहरण के
ढेर में लग
हो जाते हैं
है और उन



... गुच्छ दधिल हुए, श्वास नलोंद्वारा फैले हुए ... का अणुवीक्षणदर्शन द्वारा प्रदर्शित
(From Baldwin, Petroff and Gardner, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis by permission)
(पृष्ठ १६१)



चित्र नं० २२—स्रावक गुच्छ ग्रन्थिल क्षय, श्वास नलोंद्वारा फैले हुए स्रावक गुच्छ ग्रन्थिल क्षय का अणुवीक्षणयन्त्र द्वारा प्रदर्शित रूप

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis, by permission)

(पृष्ठ १६२)



चित्र नं० ३४—काचभ फुप्फुस-प्रदाह

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis, by permission)

(पृष्ठ १६३)

nt Hindi Mandir Press Allahabad

nodose Tuberculosis) नामक क्षय रोग का लाक्षणिक होता है चित्र न ३२)। यह रूप बहुत सामान्य होता है और पुरातन फुफ्फुस क्षय के लगभग हरएक रोगी में मिल सकता है। ऐसे रोग का परिणाम विभिन्न होता है। कभी कभी यक्ष्म बनकर पुर जाते हैं और बिखरे हुए सफेद मोतियों की भाँति बने रहते हैं। कभी कभी वे एक दूसरे से मिल जाते हैं और उनमें किलाटीयपरिवर्तन होकर गलाव हो जाता है। गलित पदार्थ छूँट जाने पर एक छोटा-सा रन्ध्र बन जाता है और रोग के सीधा लगातार बढने से विस्तृत क्षेत्र में पुरातन रोग हो जाता है।

स्रावक प्रतिक्रियायें—यदि शिखर के व्रणकारक विकार से अधिक पदार्थ श्वास-नलो में पहुँच जाता है और उसमें क्षय-कीटाणु अधिक होते हैं तो अतिचैतन्यता के कारण जहाँ कहीं वह पदार्थ रुकता है, वहीं प्रबल स्रावक और प्रदाही प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। कीटाणुओं के टिकने से वायु-कोष्ठों में रक्त तरल, लाल रक्तकण, श्वेत रक्तकण तथा सूत्रिन का स्राव होने लगता है। फलत अनेक वायुकोष्ठीय नालियों के एक साथ आक्रान्त होने के कारण विभिन्न परिमाणों का श्वास-नल फुफ्फुस प्रदाह (B.oncho pneumonia) हो जाता है (चित्र न० ३३)।

नग्न नेत्रों से देखने पर रोग गुच्छ ग्रन्थिल-सा देख पडता है, परन्तु इसमें व्यक्तिगत ग्रन्थियों की आकृति उत्पादक रोग की भाँति सुपरिमित नहीं होती। उनकी सीमाएँ अस्पष्ट और धुंधली-सी होती हैं। उनका रंग पहले गहरा लाल होता है। रुग्न भाग को अणुवीक्षणयन्त्र द्वारा देखने से ज्ञात होता है कि वह लाल रक्तकण, बहुमींगीवाले श्वेत रक्तकण और सूत्रिन का बना होता है।

कुछ दिन बाद स्राव का अणुवीक्षणयन्त्र द्वारा प्रदर्शित रूप बदल जाता है। लाल रक्तकणों और बहुमींगीवाले श्वेत रक्तकणों में एक मींगीवाले बहुत से श्वेत-रक्तकण आ मिलते हैं। स्थूलरूप में भी परिवर्तन हो जाता है और वह विचित्र नीबू का सा पीला अपारदर्शक होता है। इसलिए इसको काचभ फुफ्फुस-प्रदाह (Vitreous or gelatinous pneumonia) कहते हैं (चित्र न० ३४)।

ऐसे प्रदाहरूपी रोग का अन्तिम परिणाम भिन्न भिन्न होता है। कुछ रोगियों में यह अच्छा हो जाता है, केवल थोड़े-से यक्ष्म शेष रह जाते हैं

जिनके साथ साथ कुछ सूत्रनिर्माण भी होता है। जब प्रदाही स्राव मे सूत्रिन अधिक होती है तो कभी कभी उसका पाचन नही हो पाता और वह सौत्रिक ततु मे परिणत हो जाती है। परिणाम यह होता है कि सघन सौत्रिक क्षत-चिह्न के बनने से वायु-कोष्टों के छिद्र मिट जाते हैं। ऐसी प्रतिक्रियाये परिमित क्षेत्र मे तो हरएक राजयक्ष्मा मे पाई जाती हैं, परन्तु कभी कभी ये फेफडे के पूरे खड मे होती हैं। अन्य दशाओ मे सम्पूर्ण स्रावराशि मे किलाटीय-परिवर्तन हो जाता है। तब इसको किलाटीय फुफ्फुस-प्रदाह (Caseous pneumonia) कहते हैं (चित्र न० ३५)। यह दशा न्यूनाधिक काल तक रहती है, परन्तु साधारणत गलाव होकर रन्ध्र बन जाते है। उपरोक्त प्रकार के रोग को स्रावक गुच्छ ग्रन्थिल क्षय-रोग कहते हैं। पुरातन राजयक्ष्मा का यह भी एक साधारण अग होता है जो कभी कम और कभी बहुत विस्तृत होता है।

श्वास-वाहन—अभी तक केवल इसी बात का वर्णन किया गया है कि संक्रामक पदार्थ के श्वास-नल मे स्खलित होने पर शिखर के विकार के निकटस्थ भागो में जो रोग होता है वह कैसे होता है। यदि बहुत-सा नष्टभ्रष्ट तन्तु श्वासनल मे पहुँच जाय तो वह श्वास क्रिया मे पूरा का पूरा ढकिलकर फुफ्फुसमूल तक पहुँच सकता है और फिर प्रश्वास से उसी फेफडे के अथवा दूसरे फेफडे के दूसरे श्वास-नल की शाखा मे पहुँच सकता है। तब एक बिलकुल नया भाग रोगाक्रान्त हो सकता है। किलाटीय तन्तु और बहुत-से क्षय-कीटाणुओ की नाशकारक क्रिया से उस श्वास-नल की दीवारे नष्ट हो जाती हैं। उस श्वास-नल से सम्बन्ध रखनेवाले फुफ्फुस तन्तु मे नई उत्पादक तथा स्रावक प्रतिक्रियायें हो जाती है और फेफडे का नया भाग रोगाक्रान्त हो जाता है।

श्वासनालिक वितरण का फेफडे मे क्षय-रोग के गम्भीर और घातक प्रसारों मे बडा महत्व होता है। एक तो इससे सक्रिय रोग के आसपास रोग फैलता है और दूर पर नये भागो मे रोग होता है। प्रतिक्रिया चैतन्यता के नियमों पर निर्भर होती है। थोडे-से कीटाणुओ से केवल अल्पकालिक प्रदाह होता है। अधिक कीटाणुओं से स्रावक प्रदाह अधिक होता है। इतना अधिक, कि उससे विशिष्ट यक्ष्मनिर्माण छिप जाता है। अस्तु, कीटाणुओं की मात्रा के अनुसार गुच्छ ग्रथिल रोग प्रधानत उत्पादक अथवा स्रावक होता है। विस्तार मे रोग अणुवीक्ष्य क्षेत्रों से लेकर पूरे फुफ्फुसखड तक होता है।



चित्र नं० २५—किलाटीय फुप्फुस प्रदाह

(From Fishburg's Pulmonary Tuberculosis, by permission)

(पृष्ठ १६४)



चित्र नं० २६—फेफड़े के ऊर्ध्वखण्ड में एक अनियमित बड़ा रंध्र, फेफड़े के निचले खण्ड में संयुक्त यक्ष्म और काचभ विकार देख पड़ते हैं।

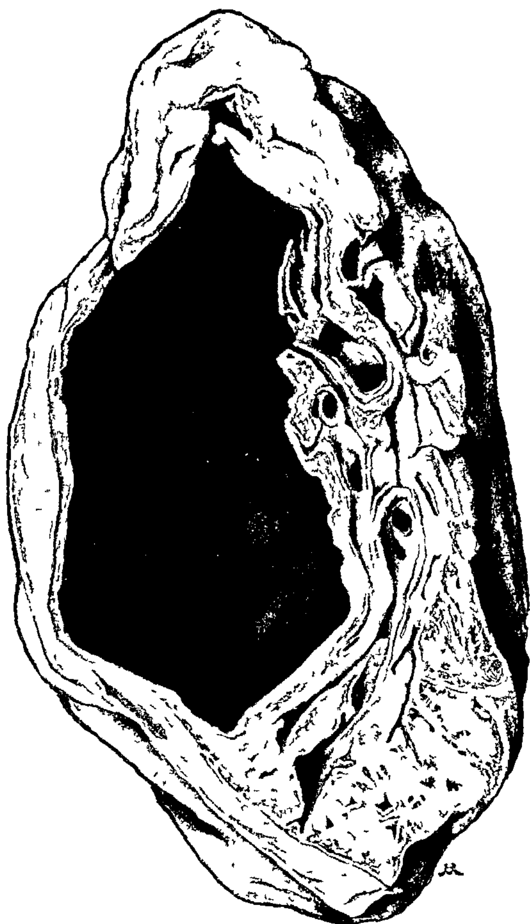
(From Fishburg's Pulmonary Tuberculosis, by permission)

इसका परिणाम स्थानावद्ध यक्ष्मनिर्माण और उसके साथ साथ न्यूनाधिक संपीडन सघनता अथवा किलाटीय फुफ्फुसप्रदाह तथा रध्रनिर्माण होता है। पहले परिणाम के उदाहरणस्वरूप एक ओर गुच्छग्रन्थिल क्षय के बीच में सौत्रिक ततु के रगीन सूक्ष्म क्षत-चिह्न और दूसरी ओर लगभग सम्पूर्ण फुफ्फुसखड की सघनता तथा सूत्रनिर्माण के विस्तृत क्षेत्र का उल्लेख किया जा सकता है। स्रावकरूप के उदाहरण के लिये क्षयी श्वासनल-फुफ्फुसप्रदाह तथा खडीय फुफ्फुसप्रदाह और उनके अनुगामी विस्तृत सूत्रनिर्माण अथवा रध्रनिर्माण का उल्लेख किया जा सकता है। अस्तु, पुरातन व्रणकारक क्षय-रोग मे श्वासनालिक वितरण का महत्व स्पष्ट है।

रध्र निर्माण—जब नाशकारक प्रक्रिया प्रबल होती है, तो फेफडे का आक्रान्त भाग गलकर कफ के साथ बाहर निकल जाता है और फेफडे का वह भाग खोखला हो जाता है। फेफडे के इन खोखले स्थानो को रध्र कहते हैं। रध्र की दीवारे टेढीमेढी होती हैं और किलाटीय पदार्थ, पीव और नष्टभ्रष्ट फुफ्फुस ततुओं से आच्छादित होती है (चित्र नं० ३६)।

फेफडे मे इसप्रकार कभी एक और कभी अनेक रध्र बन जाते हैं। वे बहुधा फेफडे के ऊपरी भाग मे होते हैं। आकार मे वे भग के बीज से लेकर मुट्ठी के बराबर तक होते हैं। परन्तु कभी कभी सब का सब फेफडा खोखला हो जाता है और केवल मोटी पार्श्वकला का खोल शेष रह जाता है (चित्र नं० ३७)। जैसा कि ईवर्ट ने बतलाया है, रध्र फेफडो के कुछ प्रदेशो मे विशेषत होते हैं। फेफडे के शिखर मे सबमे अधिक रध्र होते हैं। इसके बाद निम्नखड के शिखर का नम्बर आता है। फेफडे के निचले खड के शिखर में ऊर्ध्वखड के निचले भागो की अपेक्षा रध्र पहले बनते हैं। निचले खड के पाददेश और अगले किनारे मे सबसे कम रध्र बनते हैं।

जब एक फेफडे मे बहुत से रध्र होते हैं तो उनके बीच की दीवार धीरे धीरे नष्ट हो जाती है और फलत सर्पगतिरूपी एक बडा रध्र बन जाता है। रक्तनाडी और श्वासनल बहुत दिनो तक नष्ट नहीं होते और इसलिए रध्रो में विभिन्न दिशाओ मे आरपार जाते हुए दीर्घकाल तक बने रहते हैं। जब अन्त में यह भी नष्ट हो जाते हैं तो रध्र में केवल सौत्रिक ततु के छिछडे शेष रह जाते हैं। कभी कभी रध्रों के बीच के दीवारो के भग्नावशेष भी इसप्रकार बने रहते हैं।



चित्र नं० ३७—फेफड़े का विस्तृत रध्र, लगभग सब फेफड़ा खोखला होगया है।

इसका परिणाम स्थानाबद्ध यक्ष्मनिर्माण और उसके साथ साथ न्यूनाधिक तंवीडन सघनता अथवा किलाटीय फुफ्फुसप्रदाह तथा रंध्रनिर्माण होता है। पहले परिणाम के उदाहरणस्वरूप एक ओर गुच्छग्रन्थिल क्षय के बीच मे सौत्रिक ततु के रंगीन सूक्ष्म क्षत-चिह्न और दूसरी ओर लगभग सम्पूर्ण फुफ्फुसखंड की सघनता तथा सूत्रनिर्माण के विस्तृत क्षेत्र का उल्लेख किया जा सकता है। स्रावकरूप के उदाहरण के लिये क्षयी श्वासनल-फुफ्फुसप्रदाह तथा खंडीय फुफ्फुसप्रदाह और उनके अनुगामी विस्तृत सूत्रनिर्माण अथवा रंध्रनिर्माण का उल्लेख किया जा सकता है। अस्तु, पुरातन व्रणकारक क्षय रोग मे श्वासनालिक वितरण का महत्व स्पष्ट है।

रंध्र निर्माण—जब नाशकारक प्रक्रिया प्रबल होती है, तो फेफडे का आक्रान्त भाग गलकर कफ के साथ बाहर निकल जाता है और फेफडे का वह भाग खोखला हो जाता है। फेफडे के इन खोखले स्थानों को रंध्र कहते हैं। रंध्र की दीवारें टेढीमेढी होती हैं और क्लिाटीय पदार्थ, पीव और नष्टभ्रष्ट फुफ्फुस ततुओं से आच्छादित होती हैं (चित्र नं० ३६)।

फेफडे मे इसप्रकार कभी एक और कभी अनेक रंध्र बन जाते हैं। वे बहुधा फेफडे के ऊपरी भाग मे होते हैं। आकार मे वे भग के बीज से लेकर मुट्ठी के बराबर तक होते हैं। परन्तु कभी कभी सब का सब फेफडा खोखला हो जाता है और केवल मोटी पार्श्वकला का खोल शेष रह जाता है (चित्र न० ३७)। जैसा कि ईवर्ट ने बतलाया है, रंध्र फेफडों के कुछ प्रदेशों मे विशेषत होते हैं। फेफडे के शिखर में सबसे अधिक रंध्र होते हैं। इसके बाद निम्नखंड के शिखर का नम्बर आता है। फेफडे के निचले खड के शिखर मे ऊर्ध्वखंड के निचले भागों की अपेक्षा रंध्र पहले बनते हैं। निचले खंड के पाददेश और अगले किनारे में सबसे कम रंध्र बनते हैं।

जब एक फेफडे मे बहुत से रंध्र होते हैं तो उनके बीच की दीवार धीरे धीरे नष्ट हो जाती है और फलत सर्पगतिरूपी एक बडा रंध्र बन जाता है। रक्तनाडी और श्वासनल बहुत दिनों तक नष्ट नही होते और इसलिए रंध्रों में विभिन्न दिशाओं मे आरपार जाते हुए दीर्घकाल तक बने रहते हैं। जब अन्त मे यह भी नष्ट हो जाते हैं तो रंध्र में केवल सौत्रिक ततु के छिछडे शेष रह जाते हैं। कभी कभी रंध्रो के बीच के दीवारों के भग्नावशेष भी इसप्रकार बने रहते हैं।

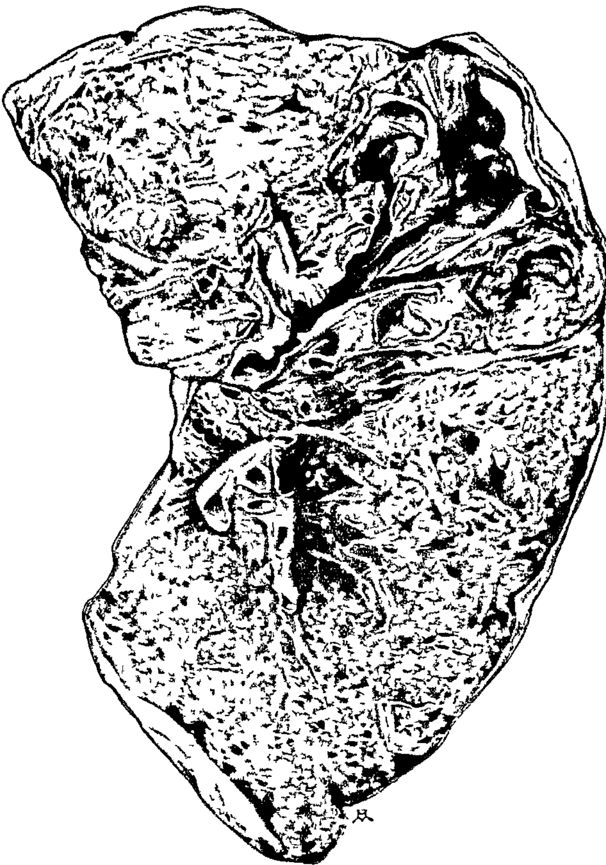
रध्रों की दीवारें अनियमित और चिथडी हुई होती हैं, जिसमे विभि परिमाण के नष्टभ्रष्ट ततु के कुछ टुकडे जो बडे होने के कारण निकल न सकते, प्राय अटके हुए मिलते हैं। जब रंध्र एक छोटे किलाटीय केन्द्र बनता है तो वह छोटा गोल और सुसीमित होता है। परन्तु जब वह वृ प्रावाहिक प्रक्रिया से उत्पन्न होता है तो प्रारम्भ से ही बडा होता है और उसक सीमा अनियमित होती है। छोटे छोटे रंध्रो के मिलने से भी बडे थैलीदार र बन जाते हैं। रंध्रों के बीच के पर्दे मिट जाते हैं और एक बडा चिथडा-सा र बन जाता है जिसकी दीवारे पीवजनक झिल्ली से आच्छादित होती हें। य झिल्ली अकुँरतंतु और क्षयी पीव की बनी होती है।

ईवर्ट स्राव और मैल से खाली क्षयी रध्रो की दीवारों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि अन्दर की ओर एक भूरी-सी नकली झिल्ली होती है ज आसानी से अलग की जा सकती है। इसके हटाने से जो परत दिखाई देत है वह एक कोप का भीतरी और रक्तमय भाग होता है। इस कोप का बाहरी भाग शुद्ध सौत्रिक ततु का बना होता है। इन तीन परतों की परस्पर मुटाई रंध्र की आयु के अनुसार न्यूनाधिक होती है।

मदगति अथवा स्थायी रोग में बधक ततु की दीवार रध्र के चारोओर बन जाती है और भीतर के नष्ट भाग गलकर कफ के साथ बाहर निकल जाते हैं और एक चिकनी दीवारोवाला रध्र शेप रह जाता है। इसके विपरीत प्रगतिशील रोग में नाशकारक प्रक्रिया फुफ्फुस ततु के भीतर ही भीतर फैलती जाती है और रध्र क्रमश बढता जाता है। इसके साथ साथ पीवजनक तथा अन्य कीटाणुओ से भी बहुधा सक्रमण हो जाता है। मिश्रित सक्रमण से रोग क्षेत्र के फैलने में बहुत सहायता मिलती है। फेफडे के पृष्ठ के समीपवाले रध्रो के ऊपर पार्श्वकला के दोनो परत मोटे होकर एक दूसरे से चिपक जाते हैं (चित्र न० ३८)।

इन रध्रों मे उपरोक्त भाँति से फैलने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु कभी कभी उनके चारोओर सौत्रिक ततु के बनने से वे सिकुड जाते हैं। छोटे छोटे रध्र तो कभी कभी इसप्रकार भर जाते हैं, परन्तु साधारणत रध्र की दीवारे चिकनी हो जाती हैं तथा वर्षों तक शान्त बनी रहती हैं और पुराने फोडे की भाँति एक नासूरद्वारा उनसे मैल निकला करता है। जब रध्र बहुत विस्तृत होते हैं और सौत्रिक ततु की रचना अधिक होती है तो पूरा फेफडा सिकुड़कर

चित्र नं० ३८—पृष्ठस्थ रंध्र



(From Fishburg's Pulmonary Tuberculosis, by permission)



अधिक रक्तपात से रोगी की मृत्यु हो गई। अनेक रंध्रों के कारण फेफड़ा छत्ता सा बन गया है, ऊर्ध्व खंड में एक बहुत बड़ा रंध्र, अधिकांश छोटे रंध्र जमे हुए रक्त से भरे हैं, पार्श्वकला मोटी हो गई है

(From Fishburg's Pulmonary Tuberculosis ; by permission)

रध्रो मे रक्त-कोप अधिक बनते हैं और वे विशेषकर रक्तनाडी की खुली दिशा की ओर होते हैं। शवच्छेद करने पर इनका पता लगाना बडा कठिन होता है, क्योंकि जिन रध्रो में वे होते हैं, वे रक्त से भरे होते हैं। रध्र को भलीप्रकार धोकर साफ करने पर वे रध्र की किलाटीय दीवार पर उभरे हुए सफेद गोले-से दिखाई देते है। परिमाण मे वे बाजरे से लेकर मटर के बराबर होते हैं और कभी कभी बेर के बराबर भी होते हैं। साधारणत वे अकेले होते हैं, परन्तु कभी कभी एक से अधिक भी मिलते है।

जब तक रक्त कोप नही बनते, तब तक रक्तस्राव अपेक्षाकृत बहुत कम होता है, क्योंकि जमे हुए रक्त की फुटकियो से रक्तनाडी बन्द हो जाती है। छोटे रध्रो मे निकले हुए रक्त से अधिक रक्तपात स्वय बन्द हो जाता है, परन्तु जब बडे रध्र मे रक्तनाडी फटती है तो रक्तपात बहुत होता है। कभी कभी इतना रक्तपात होता है कि रोगी की मृत्यु हो जाती है (चित्र नं० ४०)।

क्षतिपूरक प्रक्रियायें—जब से वैज्ञानिक आधार पर क्षय-रोग का अध्ययन आरम्भ हुआ है, निरीक्षक चिकित्सको और निदानवेत्ताओ को पूर्ण विश्वास होगया है कि क्षय-कीटाणुओ से उत्पन्न विकार अच्छे हो सकते हैं। लेनेक, वाल्श तथा अन्य लोगो का तो यहाँ तक कहना है कि फेफडे के रध्र तक सूत्रनिर्माणद्वारा पुर सकते हैं। ईवार्ट ने विस्तृत क्षयी रध्रो के सूत्रनिर्माणद्वारा पुरने की प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कार्नेट का कहना है कि काचभ फुफुस-प्रदाह मे किलाटीयपरिवर्तन होना आवश्यक नही होता, प्रदाह शान्त होकर फेफडा पूर्वावस्था को प्राप्त हो सकता है। हाल मे टेडलू, गार्डनर इत्यादि निदानवेत्ताओं ने फेफडे के क्षय-रोग मे क्षतिपूरक प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन किया है।

यह तो स्पष्ट है कि रोगियों की जॉच से और निदान की परीक्षा-विधियों से इस बात का पूरा पता नही चल सकता कि क्षयी विकार अच्छा होकर फेफडा फिर ज्यो का त्यों हो सकता है या नही। क्योंकि रोगी की परीक्षा अनिश्चित होती है और जिन रोगियों का रोग अच्छा होकर फेफडा पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है उनमे उसका पता निदानवेत्ताओ को शवच्छेद करने पर कुछ भी नहीं लगता। फिर भी हाल मे क्षय-रोग की परीक्षा मे रोञ्जन किरणो के प्रयोग से यह पता लगा है कि लोग जितना समझते हैं,

उससे कहीं अधिक संख्या में क्षय-रोग होकर अच्छा हो जाता है। क्षय रोगियों के क्रम से समय समय पर एक्सरे चित्र लेने पर सावधान अन्वेषकों को इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा है कि क्षय-रोग प्राय अच्छा हो जाता है।

अस्तु, क्षतिपूर्ति की प्रक्रिया का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) निदान-परीक्षाद्वारा, (२) एक्सरे परीक्षाद्वारा।

क्षयी-विकारों का सूत्रनिर्माणद्वारा पुरना—यह पहले ही बताया जा चुका है कि फेफड़े के क्षय-रोग में नाशकारक प्रक्रिया के साथ साथ क्षतिपूर्ति भी होती जाती है और यह अत्यन्त उग्र और दुष्ट रोग के अतिरिक्त थोड़ी बहुत सब रोगियों में पाई जाती है। साधारण अनुमान से कहीं अधिक संख्या में संक्रामित मनुष्यों में क्षयी-विकार सूत्रनिर्माणद्वारा पुर जाते हैं। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि जिन लोगों के जीवनकाल में क्षय रोग कभी नहीं हुआ हो अथवा जिनमें हलका क्षय-रोग होकर अच्छा होगया हो, उनके फेफड़ों में शवच्छेद करने पर निवृत्त क्षय-रोग के सौत्रिक क्षत-चिह्न मिलते हैं। सौत्रिकनिर्माण की प्रक्रिया सबसे अच्छी आंतों में देखने में आती है, जहाँ पुरे हुए व्रणों के अनेक क्षत-चिह्न मिलते हैं और उनके साथ साथ सक्रिय जाग्रत क्षयी व्रण भी होते हैं।

कुछ क्षयी व्रण खटिक जमा होने से ककड़ीले हो जाते हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि प्राथमिक क्षयी-विकार बहुधा इसीभाँति पुरते हैं। अधिकांश लोगों में ये ककड़ीले स्थल फुप्फुस तंतु में पड़े हुए हानिरहित खड़िया के टुकड़े होते हैं। परन्तु कुछ ककड़ियों में जीवित और विषैले क्षय-कीटाणु होते हैं। जिनसे भविष्य में आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण का भय रहता है।

अनेक निदानवेत्ताओं ने देखा है कि किलाटीय भाग के चारोंओर प्राय जो सौत्रिक-कोप बन जाता है, वह रोगस्थल को फुप्फुस तन्तु से बिलकुल अलग कर देता है और प्रक्रिया बहुत दिनों तक,—कभी कभी अनिश्चितकाल तक—हानिरहित बनी रहती है, परन्तु जब तक सौत्रिक-कोप में किलाटीय पदार्थ रहता है तब तक सदैव यह भय बना रहता है कि कहीं क्षयी पदार्थ कोप से फूटकर तथा स्थानान्तरित होकर अन्य भागों में न पहुँच जाय अथवा रक्त या लसिकाप्रवाह में न मिल जाय। अनेक रोगियों में

अच्छा होकर रोग का लौटना इन्हीं कारणों से होता है। ईवार्ट का कहना है कि अन्य इन्द्रियों में रध्र के तले से अकुर तन्तु बनकर विकार बिलकुल मिट जाता है, परन्तु क्षयी रध्रों में इन पुष्टस्थ अकुरों का करीब करीब अभाव-सा होता है। फिर भी यदि रध्र से स्राव भलीप्रकार निकलता रहे तो अकुर तन्तु के बनने तथा दीवारों के परस्पर मिलने से रध्र अच्छा हो सकता है। अन्य लोग भी इस मत से सहमत हैं।

सूत्रनिर्माणद्वारा क्षतिपूर्ति के परिणामों का इस पुस्तक में अन्यत्र विस्तृत विवरण दिया गया है। यहाँ पर केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि जब फुप्फुस तन्तु का एक बडा भाग नष्ट हो जाता है तो सूत्रनिर्माण के कारण फेफडे के सिकुडने से मध्य वक्ष खाली जगह को भरने के लिए उस ओर को खिंच जाता है और वक्ष की दीवार पिचक जाती है। दूसरे फेफडे के प्रतिपूरक वायुध्मान से भी इस बात में सहायता मिलती है। अनेक क्षय रोगियों के निरीक्षकों को ये बाते नित्य देखने में आती हैं।

रोग का उपशमन और पुनर्शोषण— क्षयी द्रव्य का शोषण किस प्रकार होता है, इस बात का पता शवच्छेद करने पर नहीं लग सकता। कुछ लोगों ने प्रयोगद्वारा पशुओं के फेफडों में रोग उत्पन्न करके शमनक्रिया का अध्ययन किया है। गार्डनर ने प्रयोगद्वारा पशुओं के फेफडों में रोग उत्पन्न करके देखा है कि क्षयी विकार किलाटीय अवस्था तक पहुँचने पर भी शान्त हो जाते हैं, क्षयी पदार्थों का पूर्णत शोषण हो जाता है और उनका कोई लवलेश शेष नहीं रहता। आधुनिक रोञ्जनकिरण-परीक्षा के प्रयोग से फेफडे में क्षयी विकारों का पूर्णतया शमन होना निस्सन्देह सिद्ध होगया है। अधिकाश रोगियों में क्षयी पदार्थों का शोषण हो जाता है और उनका कोई चिह्न शेष नहीं रहता। उग्र वजरीले क्षग तक का शोषण या सूत्रनिर्माणद्वारा क्षतिपूर्ति हो सकती है और रध्र भी विलीन हो सकते हैं। थोडे थोडे समय बाद रोगियों के फेफडों के एक्सरे चित्र लेकर देखने से क्षयी अभिव्यापनों का शोषण होते देखा गया है। 'उपक्रान्त क्षय' शीर्षक परिच्छेद में इसका विस्तृत वर्णन किया जायगा। यदि यह भी मान लिया जाय कि विस्तीर्ण विकारों में क्षयी प्रक्रिया केवल केन्द्र में होती है और एक्सरे चित्र में जो विस्तीर्ण छाया होती है वह अतिचैतन्यता के प्रदाह अथवा अन्य रोग-जनक कीटाणुओं के सक्रमण की द्योतक होती है, तो भी इस बात से, कि

उनका कुछ भी प्रकट चिह्न शेष नहीं रहता, यह सिद्ध होता है कि क्षयी विकार भी अच्छे हो जाते हैं। इसप्रकार पूरे फुफ्फुसखण्ड के श्वासनालिक फुफ्फुस-प्रदाह और उसके चकत्तों का शोषण हो सकता है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि एक्सरे चित्र लेकर रन्ध्रों के विकास का अध्ययन करते समय अनेक रन्ध्र विलीन होते देखे गये हैं। स्वस्थ फुफ्फुस तन्तु के बीच में जो गोल प्रारम्भिक रन्ध्र होते हैं, उनके सम्बन्ध में यह बात विशेषत सत्य होती है।

वायुध्मान (Emphysema)—पुरातन राजयक्ष्मा में फेफड़े के अनाक्रान्त भाग प्राय वायुध्मात होते हैं। वस्तुत' मृत्यु के बाद वक्ष से फेफड़ों को निकालने पर वे कभी कभी इतने फूले होते हैं कि बिना तलाश के क्षयी विकार नहीं मिलता। फेफड़े के वायुध्मात भागों का पृष्ठ साधारणत भीतरी सौत्रिक बन्धनों और रन्ध्रों के खिंचाव के कारण ऊँचा-नीचा होता है। स्थानाबद्ध वायुध्मान में फेफड़े के पृष्ठ पर फफोले होते हैं।

यह वायुध्मान परिपूरक होता है। जब एक फेफड़े में विस्तृत क्षय होता है तो इसकी कमी को पूरा करने के लिए दूसरा फेफड़ा फूल जाता है। जब दोनो फेफड़े रोगाक्रान्त होते हैं तो अनाक्रान्त भाग फूल जाते हैं। ऐसा केवल श्वास-स्थान की कमी को पूरा करने के लिए होता है, क्योंकि फेफड़े के वायुध्मातभाग की अणुवीक्षणयन्त्रद्वारा परीक्षा करने पर वायु-कोष्ठों की दीवारों और रक्तनाडियों में सच्चे वायुध्मान रोग के सदृश किसी अपचय या अपकर्ष के कोई चिह्न नहीं मिलते। वायु-कोष्ठ केवल फूल जाते हैं।

फेफड़े के क्षय-रोग के रूप-भेद— क्षय रोग के फैलने की विभिन्न रीति और उसमें विकसित होनेवाले विभिन्न प्रकारों के विकारों के अनुसार फेफड़े के क्षय-रोग के रूपों के वर्गीकरण की अनेक चेष्टाएँ की गई हैं। यह एक बड़ा कठिन काम है। क्योंकि विभिन्न प्रकार के विकार शुद्ध रूप में बहुत विरल होते हैं और साथ ही यह बात भी है कि क्षयी-विकार का हरएक रूप विकास की किसी भी अवस्था में रुक सकता है। लगभग हरएक फेफड़े में जिसमें रोग होता है, प्राथमिक और बाद के सक्रमणों के चिह्न मिलते हैं। प्राथमिक विकार जैसा कि पहले बताया जा चुका है, फुफ्फुस तंतु के बीच में एक या अनेक छोटे छोटे अलग अलग पड़े हुए कफडीले क्षत चिह्न होते हैं और ... श्वास-नलों की लसिका-ग्रन्थियाँ रोगाक्रान्त

होती हैं। द्वितीयक सक्रमण विस्तार और रूप मे विविध प्रकार का होता है। कभी कभी यह केवल शिखरबद्ध होता है और विस्तार मे लगभग १ इंच के व्यास से लेकर फेफडे के ऊर्ध्वखड के तिहाई भाग तक होता है जिसमे कभी रध्र-निर्माण होता है और कभी नही। शिखर पर रोग स्थापित होने के बाद तुरन्त अथवा कुछ वर्षो तक शान्त रहकर वहाँ से वह नीचे को फैलता है और धीरे धीरे उस फेफडे भर मे और दूसरे फेफडे मे भी हो जाता है। फेफडे के ऊपरी खड मे क्षत-चिह्न के काले सौत्रिक तंतु के बीच मे रध्र होता है। फेफडे के निचले भाग में श्वास-नलोंद्वारा फैलने के परिणामस्वरूप उत्पादक या स्रावक रूप के विकार और उनके विभिन्न परिणाम होते हैं। ये विकीर्ण यक्ष्मो के गुच्छे और उनके साथ कहीं सूत्रनिर्माण तथा कही फुप्फुस-प्रदाह के क्षेत्र होते हैं।

कभी कभी, परन्तु बहुत विरल बजरीले रूप का क्षय होता है और वह केवल एक फेफडे मे होता है। इस रोग मे फुफुस धमनी की किसी शाखा मे व्रण के स्थान के अनुसार फेफडे के न्यूनाधिक भाग मे गोल छोटे छोटे भूरे पीले रग के यक्ष्म हो जाते हैं और उनके मध्यवर्ती तन्तुओं में कभी प्रदाह होता है और कभी नहीं होता। यदि सक्रमण नवीन और अतिचैतन्यता अधिक होती है तो फुप्फुस-तन्तु मे फुप्फुस-प्रदाह की-सी विस्तृत सघनता मिलती है।

बाल्यावस्था का फुप्फुस-क्षय—बच्चो मे फेफडो का पुरातन क्षय-रोग उतना कम नही होता जितना पहले समझा जाता था। अधिकाश रोगियो मे विकार वैसे ही होते हैं, जैसे वयस्को मे होते हैं। परन्तु जैसा कि बताया जा चुका है, शिखर-विकार उतना नही मिलता जितना तरुणावस्था के बाद पाया जाता है। बच्चो मे नाभिक फुफ्फुस क्षय-रोग के उत्पन्न होने मे घटनाक्रम इसप्रकार होता है—तीव्र प्राथमिक सक्रमण मे टेटुआ और श्वास-नल की ग्रन्थियो मे किलाटीय-विकार हो जाते हैं जो श्वास-नलो की दीवारो को गलाकर उनमें फूट जाते हैं। फल यह होता है कि क्षय-कीटाणुओं से लदा हुआ नष्टभ्रष्ट तन्तु श्वास मे टकिलकर बडे बडे श्वास-नलो मे पहुँच जाता है। श्वास-नलो मे किलाटीय-प्रदाह हो जाता है और उनमे सम्बन्ध रखनेवाले फुप्फुस-तन्तु मे प्रदाही प्रतिक्रिया हो जाती है जो सक्रमण की तीव्रता और अतिचैतन्यता की अधिकता के कारण प्राय घातक होती है।



चित्र नं० ४१—पार्श्वकला का पुरातन प्रदाह, पार्श्वकला के दोनों परत चिपके हुए हैं, शिखर में निवृत्त रोग है।

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis, by permission)

(पृष्ठ १७४)

नवाँ परिच्छेद

निदान और शरीर-विकृति

फेफड़ो के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों में विकार

पार्श्वकला— राजयक्ष्मा के लगभग हरएक रोगी मे पार्श्वकला रोगाक्रान्त हो जाती है। बहुत से क्षय रोगियो मे फेफडे मे रोग व्यक्त होने से पहले पार्श्वकला का प्रदाह होता है। परन्तु इनमे भी लगभग सदैव पार्श्व कला का रोग फेफड के किसी छोटे विकार से फैलकर ही होता है। लगभग सब क्षय-रोगियो मे मृत्यु के बाद शवच्छेद करने पर पार्श्वकला मे बन्धन मिलते हैं। कुछ रोगियो मे पार्श्वकला के दोनों परत एक दूसरे मे चिपक जाते हैं और बन्धन इतने सघन तथा दृढ होते हैं (चित्र न० ४१) कि पार्श्वकला के बिना फटे हुये वक्ष से फेफडे का निकालना अत्यन्त कठिन अथवा असम्भव होता है। कभी सब की सब पार्श्वकला मोटी हो जाती है और कभी किसी किसी स्थान पर विशेषकर, फेफडे के रुग्न भाग के ऊपर। कभी कभी पाददेश मे वक्षोऽदर मध्यस्थ पेशी की आच्छादक कला मोटी होजाती है और उससे मांसपेशी ऊपर को उठ जाती है। कभी कभी पार्श्वकला से फुप्फुस तन्तु मे भीतर की ओर जाते हुये सौत्रिकबन्धन दिखाई देते हैं। पार्श्वकला के बन्धन कभी ढीले होते हैं और आसानी से अलग किये जा सकते हैं और कभी वे बड़े दृढ होते हैं और जब विस्तृत होते हैं तो फेफडे के चारो ओर एक बीज-कोष-सा बन जाता है। फुप्फुसखडो के बीच की पार्श्वकला बहुधा मोटी पाई जाती है। फेफडे को पिचकाने के लिये पार्श्वकला की थैली मे हवा भरने मे इन बन्धनों से बडी बाधा पडती है। दूसरी ओर बन्धनों से एक लाभ यह होता है कि इनके बनने मे स्वाभाविक वायु वक्ष के होने मे

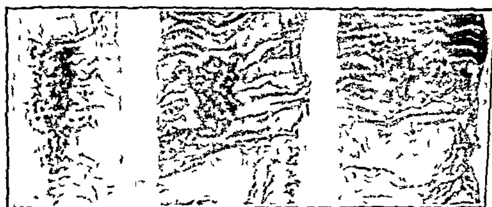
रुकावट होती है। कभी कभी पार्श्वकला का प्रदाह स्रावक होता है जिससे वक्ष में स्राव भर जाता है।

टेंटुआ—कभी कभी फेफड़े के पुरातन क्षय-रोग में, विशेषकर जब फेफड़े में रंध्र होजाते हैं, तो टेंटुआ की श्लेष्मकला में अनेक छोटे छोटे पृष्ठस्थ व्रण होजाते हैं (देखो चित्र न० ३१)।

कंठ—स्वरयन्त्र का प्राथमिक क्षय बहुत विरल होता है। परन्तु स्वरयन्त्र की श्लेष्मकला पर से संक्रामित कफ के लगातार आने-जाने से वह प्राय रोगक्रान्त होजाती है। पुरातन राजयक्ष्मा के लगभग एक चौथाई रोगियों में स्वरयन्त्र रोगाक्रान्त होजाता है। फेफड़ो से लसिकावाहिनियोंद्वारा रोग का स्वरयन्त्र तक पहुँच जाना भी सम्भव है। यह इस बात से विदित होता है कि क्षय-रोग सबसे पहले और सबसे अधिक स्वरयंत्र में उस ओर होता है जिस ओर के फेफड़े में रोग होता है अथवा अधिक तीव्र और सक्रिय होता है।

स्वरयंत्र में क्षय-रोग सबसे पहले अनेक छोटे छोटे पृष्ठस्थ व्रणों के रूप में व्यक्त होता है, जो स्वररज्जुओं के पिछले भाग में और स्वरयन्त्र की पिछली दीवार में होते हैं। अणुवीक्षणयन्त्र से परीक्षा करने से पता लगता है कि व्रण बनने से पहले श्लेष्मकला के नीचे के तन्तुओं में छोटे छोटे यक्ष्म बन जाते हैं। जब यक्ष्म बढ़कर श्लेष्मकला के पृष्ठ तक पहुँच जाते हैं तो व्रण बन जाते हैं। श्लेष्मकला के नीचे नीचे फैलता रहता है और जहाँ कहीं पृष्ठ तक पहुँच जाता है वहाँ व्रण उत्पन्न हो जाता है। इसप्रकार अनेक व्रण बन जाते हैं जो कभी कभी अलग अलग बने रहते हैं, परन्तु जब वे एक दूसरे से मिल जाते हैं तो उनके मिलने से एक बड़ा व्रण बन जाता है। बाद को अधिक गलाव होकर सब का सब स्वररज्जु नष्ट होजाता है। एक पृष्ठ से सामनेवाले पृष्ठ पर लग जाने के कारण रोग दूसरी ओर भी हो जाता है।

स्वरयन्त्र में एक दूसरे प्रकार का क्षय-रोग और होता है जिसको अभिव्यापक रूप (Infiltrating form) का क्षय कहते हैं। इस रोग में स्वरयन्त्र में तीव्र प्रदाही प्रतिक्रिया होती है। तन्तु सूजकर बहुत मोटे होजाते हैं, परन्तु श्लेष्मकलामें कोई व्रण नहीं होता और यह प्राय रक्तहीन पाडुवर्ण की-सी देख पड़ती है। अणुवीक्षणयन्त्र से जाँच करने पर शोथयुक्त अंकुर



चित्र नं० ४२—आंतों के क्षयी कटिबंध व्रण (Tendeloo)

(पृष्ठ १७७)

रुकावट होती है। कभी कभी पार्श्वकला का प्रदाह स्रावक होता है जिससे वक्ष मे स्राव भर जाता है।

टेंटुआ—कभी कभी फेफडे के पुरातन क्षय-रोग मे, विशेषकर जब फेफडे में रध्र होजाते हैं, तो टेंटुआ की श्लेष्मकला मे अनेक छोटे छोटे पृष्ठस्थ व्रण होजाते हैं (देखो चित्र न० ३१)।

कंठ—स्वरयन्त्र का प्राथमिक क्षय बहुत विरल होता है। परन्तु स्वरयन्त्र की श्लेष्मकला पर से संक्रामित कफ के लगातार आने-जाने से वह प्राय रोगक्रान्त होजाती है। पुरातन राजयक्ष्मा के लगभग एक चौथाई रोगियों मे स्वरयन्त्र रोगाक्रान्त होजाता है। फेफडों से लसिकावाहिनियोंद्वारा रोग का स्वरयन्त्र तक पहुँच जाना भी सम्भव है। यह इस बात से विदित होता है कि क्षय-रोग सबसे पहले और सबसे अधिक स्वरयत्र मे उस ओर होता है जिस ओर के फेफडे मे रोग होता है अथवा अधिक तीव्र और सक्रिय होता है।

स्वरयत्र में क्षय-रोग सबसे पहले अनेक छोटे छोटे पृष्ठस्थ व्रणों के रूप में व्यक्त होता है, जो स्वररज्जुओं के पिछले भाग में और स्वरयन्त्र की पिछली दीवार मे होते हैं। अणुवीक्षणयन्त्र मे परीक्षा करने से पता लगता है कि व्रण बनने से पहले श्लेष्मकला के नीचे के तन्तुओं मे छोटे छोटे यक्ष्म बन जाते हैं। जब यक्ष्म बढकर श्लेष्मकला के पृष्ठ तक पहुँच जाते हैं तो व्रण बन जाते हैं। श्लेष्मकला के नीचे नीचे फैलता रहता है और जहाँ कहीं पृष्ठ तक पहुँच जाता है वहाँ व्रण उत्पन्न हो जाता है। इसप्रकार अनेक व्रण बन जाते हैं जो कभी कभी अलग अलग बने रहते हैं, परन्तु जब वे एक दूसरे से मिल जाते हैं तो उनके मिलने से एक बड़ा व्रण बन जाता है। बाद को अधिक गलान होकर सब का सब स्वररज्जु नष्ट होजाता है। एक पृष्ठ मे सामनेवाले पृष्ठ पर लग जाने के कारण रोग दूसरी ओर भी हो जाता है।

स्वरयन्त्र मे एक दूसरे प्रकार का क्षय-रोग और होता है जिसको अभिव्यापक रूप (Infiltrating form) का क्षय कहते हैं। इस रोग मे स्वरयन्त्र मे तीव्र प्रदाही प्रतिक्रिया होती है। तन्तु सूजकर बहुत मोटे होजाते हैं, परन्तु श्लेष्मकलामे कोई व्रण नहीं होता और वह प्राय रक्तहीन पाण्डुवर्ण की सी देख पडती है। अणुवीक्षणयन्त्र से जाँच करने पर शोथयुक्त अंकुर तन्तु

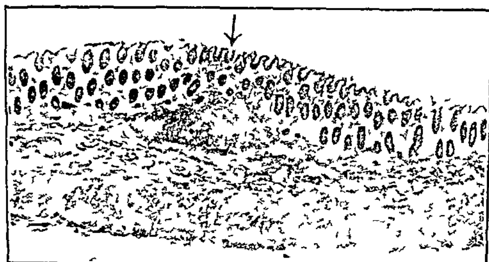
दिखाई देता है। श्लेष्मकला के नीचे गलाव हो जाने पर आक्रान्त भाग न होकर एक विस्तृत व्रण बन जाता है। रोग के बढने पर स्वरयन्त्र के कारटिलेज भी अभिभूत होजाते हैं। यदि रोग की प्रगति मन्द होती है और व्रण के पुरने का अवसर मिल जाता है तो सूत्रनिर्माण होने से स्वरयन्त्र विकृत होजाता है।

आँतों में क्षय-रोग—आँतो प्राथमिकक्षय-रोग बहुत विरल होता है। परन्तु उपद्रवरूप से राजयक्ष्मा के अधिकाश रोगियो की आँतो मे क्षय-रोग होजाता है। मौंटफीयरी अस्पताल मे ५०० लाशो का शवच्छेद करने पर ३२४ अर्थात् ६५ प्रतिशत की आँतो मे स्थूल क्षयी व्रण मिले थे। आँतों के विभिन्न भागों में व्रणों का वितरण इसप्रकार था—द्वादशागुल (Duo Denum) मे १६ प्रतिशत मे, छोटी आँतों के ऊपरी भाग (Jejunum) मे २८ प्रतिशत मे, छोटी आँतो के निचले भाग (Ileum) में ७५ प्रतिशत मे, उपांत्र (Appendix) मे २२ प्रतिशत मे, अन्नपुट (Caecum) मे ६० प्रतिशत मे, बडी आँत मे ४२ प्रतिशत मे और गुदा में ११ प्रतिशत मे।

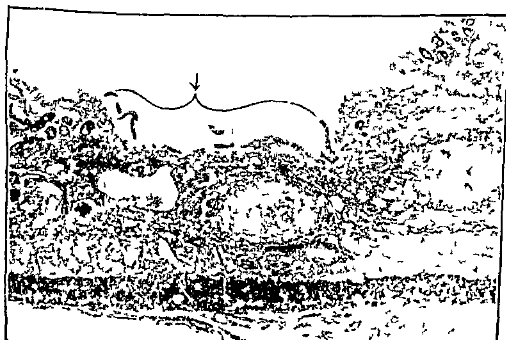
आँतों में क्षय-रोग साधारणत क्षयी कफ के निगलने से होता है। जिन क्षय रोगियों के फेफडो मे व्रण होजाते हैं उनमें से हरएक जाने या अनजाने पर्याप्त मात्रा मे कफ को निगलता रहता है। फेफडो मे रध्र बन जाने पर ऐसा विशेषतया होता है। रक्त-मार्ग या लसिका-मार्ग से भी आँतो मे क्षय-रोग का होना सम्भव है, परन्तु इस बात की साक्षी बहुत कम मिलती है।

आँता मे क्षय-रोग सबसे पहले और सबसे अधिक साधारणत छोटी और बडी आँतो के सन्धि-प्रदेश में सन्धिद्वार के कपाट (Ileocæcalvalve) में अथवा छोटी आँत के अन्तिम भाग मे होता है। इसका कारण यह है कि एक तो इस स्थान पर लसिका तन्तु बहुत होता है और दूसरे आँतों के अन्तर्स्थित द्रव्य को यहाँ पर बहुत देर तक ठहरना पड़ता है। इसप्रकार क्षय-कीटाणुओं के स्थापित होने के लिए आदर्श दशा मिल जाती है। बाद को आँतों के अन्य भागों में रोग होजाता है। आमाशय मे क्षय-रोग बहुत विरल होता है।

आँतो के क्षय-रोग का सबसे अधिक लाक्षणिक रूप लसिका-तन्तु के स्थानो मे व्रण होते हैं। क्षय-रोग सबसे पहले आँतो की लसिका-तन्तु की अकेली चित्तियाँ (Solitary lymph follicles) मे होता है। उनमे बहुत छोटे



चित्र नं० ४३—प्रारम्भिक अन्त्र क्षय,
श्लेष्मकला के नीचे अवस्थित लसिका तंतु में यक्ष्म
(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis by permission)
(पृष्ठ १७७)



चित्र नं० ४४—आँतों का क्षयी-व्रण
(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis, by permission)
(पृष्ठ १७७)

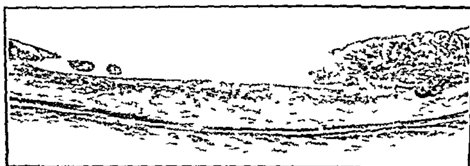
The Hindi Mandir Press, Allahabad



चित्र नं० ४५—आँतो का बडा क्षयीव्रण

(From Baldwin, Petroff, and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis, by Permission)

(पृष्ठ १७७)



चित्र नं० ४६—आँतों का पुरा हुआ क्षयीव्रण

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of tuberculosis, by permission)

(पृष्ठ १७८)

छोटे व्रण होजाते हैं । छोटे छोटे व्रणों के फैलने और एक दूसरे से मिल जाने से बडे बडे व्रण बन जाते है । मोतीझरा के व्रणों से भिन्न क्षयी व्रण आँतो की चौडाई की दिशा मे फैलते हैं और कभी कभी आंत की चौडाई भर म कमरबन्द की भाँति फैल जाते हैं। इसलिए इनको कटिबन्ध व्रण (Girdle ulcers) कहते हैं (चित्र न० ४२) । आँतों के लसिका तन्तु के चकत्ते (Peyer's patches) भी प्राय रोगाक्रान्त होजाते हैं। उनके आक्रान्त होने से जो व्रण बनते हैं वे आँतो की लम्बाई के रुख होते हैं। व्रणो की सीमा अनियमित फटी हुई और चूहो की कुतरी-सी लगती है, उनके किनारे उभरे हुए और भीतर भीतर कटे हुए होते हैं। प्रारम्भिक अवस्था मे किनारे लाल होते हैं, पर बाद को कुछ पीले हो जाते हैं। व्रणो का तला मैला, हरा-सा और दानेदार होता है। तले मे साधारणत कुछ किलाटीय पदार्थ होता है और कुछ यक्ष्म भी दिखाई देते है। व्रण के बाहरी पृष्ठ की आच्छादक कला मे भी प्राय छोटे छोटे भूरे रग के कुछ यक्ष्म होते हैं। कभी कभी रोगस्थल से सम्बन्ध रखनेवालीलसिका-ग्रन्थिया भी फूल जाती है।

आतो के क्षय-रोग का अणुवीक्षणयन्त्रद्वारा प्रदर्शित रूप— अणुवीक्षणयन्त्रद्वारा अनुशीलन करने पर पता लगता है कि यक्ष्म सबसे पहले आतो की दीवार मे श्लेष्मकला मे नीचे के परत में स्थित लसिका-तन्तु मे बनते हैं (चित्र न० ४३)। जब यक्ष्म बडे होते हैं तो उनके ऊपर की श्लेष्मकला ऊपर को उठ जाती है। यक्ष्मो मे किलाटीयपरिवर्तन और गलाव होने मे व्रण बन जाते है (चित्र न० ४४) ।

गलाव होकर बीच का नष्टभ्रष्ट क्षयी तन्तु तो छँटकर निकल जाता है, परन्तु व्रण किनारों पर बढते और फैलते रहते हैं। इसप्रकार फैलने मे अथवा छोटे व्रणो के मिल जाने मे बडे बडे व्रण बन जाते हैं (चित्र न० ४५) ।

लसिकावाहिनी नाडियोंद्वारा रोग श्लेष्मकला के नीचे कुछ दूर तक फैल जाता है और उसमे गलाव होने मे श्लेष्मकला के नीचे नासूर बन जाते है। जब ये नासूर कुछ दूर पर श्लेष्मकला मे फूटते हैं तो असली व्रण के आसपास माध्यमिक व्रण (Secondary ulcers) बन जाते हैं।

बाहर की ओर को भी व्रणों के फैलने मे कोई रुकावट नही होती। आँतो की मांसपेशियो का परत भी प्राय रोगाक्रान्त होकर नष्ट होजाता है। परन्तु क्षयी व्रण आँतो की आच्छादक कला को गलाकर उदरकला मे बहुत कम फूटते है, क्योकि व्रणो के ऊपर की कला मे प्रदाह होकर सूत्रनिर्माण होने मे वह मोटी हो जाती है। सौत्रिक तन्तु के बनने मे रोग की प्रगति रुक जाती है। कभी कभी क्षयप्रक्रिया इतनी तीव्र होती है कि सूत्रनिर्माण के लिये यथेष्ट समय नही मिलता, तब व्रण उदरकला मे फूट जाता है। आँतो के क्षयी व्रणों मे क्षतिपूरक प्रतिक्रियाये भी प्राय देखने मे आती हैं। जब रोग बहुत तीव्र नही होता तो व्रण के किनारों मे उपस्तरण बढने लगती है। किनारो की नीरोग उपस्तरण से सेलो की उत्पत्ति होकर पहले व्रण के किनारे ढक जाते हैं। अधिकाश रोगियो मे क्षतिपूरक प्रक्रिया इतने ही पर समाप्त होजाती है परन्तु कभी कभी व्रण का तला भी नई उपस्तरणीय सेलो से ढक जाता है और यक्ष्म विलीन होकर व्रण बिलकुल पुर जाता है (चित्र न० ४६)।

आँत के जिस भाग मे क्षयी व्रण पुर जाते हैं, वह प्राय मासपेशियों के नष्ट हो जाने से पतला हो जाता है और फूल जाता है, क्योंकि मासपेशियाँ नष्ट होकर फिर नही उत्पन्न होती और उनके स्थान मे लचकहीन क्षत-चिह्न बन जाते हैं। सूत्रनिर्माणद्वारा व्रणों की पूर्ति कम होती है। परन्तु कभी कभी बडी आँतो का छिद्र सूत्रनिर्माण मे सकीर्ण होजाता है और उसके ऊपर का भाग फूल जाता है।

अन्त्र-क्षय का एक सृजनात्मक परन्तु विरल रूप और होता है। छोटी और बडी आँतो के सधिप्रदेश मे सघन सौत्रिक तन्तु के बनने मे एक बतौडी-सी बन जाती है जिससे साधारणत अँतडियो का छिद्र सकीर्ण होजाता है। जब फेफडे मे रोग निष्क्रिय होता है तब यह रोग अधिक होता है।

उदरकला—राजयक्ष्मा मे उपद्रवरूप मे उदरकला बहुधा रोगाक्रान्त होजाती है। क्षय-कीटाणु उदरकला मे रक्त-मार्ग से, आँत के व्रण के फटने से, अन्त्रधारक-कला की किलाटीय लसिका-ग्रन्थियो मे अथवा डिम्ब-प्रणाली से पहुँच सकते हैं। कीटाणुओं की सख्या तथा प्रवेश-मार्ग और रोगी की प्रतिरोधशक्ति के अनुसार उदरकला का प्रदाह स्थानाबद्ध या व्यापक होता है। कभी प्रदाह प्रधानत सूत्ररचनात्मक होता है और उससे उदरकला मे

सघन वधन बन जाते हैं और कभी स्रावकरूप का होता है और उससे जलधर होजाता है। कभी कभी स्राव पीवरूप का होता है और वह सघन वधनों के बीच में बद्ध रहता है। कभी कभी उदरकला में उग्र त्रजरीला क्षय होजाता है (चित्र नं० ४७)।

अन्य इन्द्रियों में विकार—जिन रोगियों की क्षय-रोग से मृत्यु होती है, उनमें ऐसा बहुत विरल होता है कि फेफडो, पार्श्वकला, आँतों और स्वरयन्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी इन्द्रिय मे अंत तक रोग न होजाय। दीर्घकाल तक शरीर में विष व्याप्त रहने से जो क्षीणता, वसात्मक अपकर्ष इत्यादि अविशिष्ट व्यापक विकार होते हैं वे थोडे या बहुत शरीर की सभी इन्द्रियों मे होजाते हैं। इसके अतिरिक्त सिक्थात्मक परिवर्तन, जो पुरातन पूर्योत्पादक रोगों में कुछ इन्द्रियों मे होता है, क्षय-रोग मे विशेषकर अस्थियों और सधियों के क्षय में भी होता है।

परन्तु उपरोक्त पोषणसम्बन्धी अविशिष्ट व्यापक विकारों की अपेक्षा क्षय-कीटाणुओं के अन्य इन्द्रियों मे पहुँचने से जो विशिष्ट विकार होते है वे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। फेफडो से क्षय-कीटाणु निम्नलिखित मार्गों द्वारा अन्य इन्द्रियों मे पहुँच सकते है।

(१) फेफडो के रोग के सीधा फैलने से—पार्श्वकला का क्षय-रोग साधारणत इसीप्रकार होता है।

(२) कफ के साथ क्षय-कीटाणुओं के दूसरे स्थानों मे पहुँचने से—स्वरयन्त्र और आँतों का क्षय प्राय इसीप्रकार होता है।

(३) लसिकावाहिनियोंद्वारा क्षय-कीटाणुओं के दूसरे स्थानों में पहुँचने से—लसिकावाहिनियोंद्वारा संक्रमण फेफडो से उनकी प्रादेशिक लसिका ग्रंथियों मे होजाता है। फेफडे और आँतों की प्रादेशिक लसिका-ग्रन्थियों से क्षय-कीटाणु लसिकाप्रवाह के साथ बहुत दूर तक पहुँच सकते हैं।

(४) रक्त के साथ क्षय-कीटाणुओं के स्थानान्तरित होने से—यह सिद्ध किया जा सकता है कि क्षय-रोगियों के रक्त मे प्राय क्षय-कीटाणु होते हैं और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि रक्त के प्रवाह के साथ अन्य इन्द्रियों में पहुँच सकते हैं। रोग की चरमावस्था मे ऐसा विशेष करके हो सकता है। जननेन्द्रियों, मस्तिष्कावरण तथा अन्य दूरस्थ इन्द्रियों मे क्षय-रोग का होना इसीप्रकार सम्भव है।

फेफड़े के क्षय-रोग में इसप्रकार क्षय कीटाणुओं के स्थानान्तरित होने से शरीर के किसी भी इन्द्रिय में रोग हो सकता है परन्तु कुछ इन्द्रियों में अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा ऐसा अधिक होता है।

लसिका-ग्रन्थियाँ— इस बात को बहुत कम लोग समझते हैं कि बालक और वयस्क, दोनों प्रकार के क्षय रोगियों में लसिका-ग्रन्थियाँ, विशेषकर वक्ष और अंत्रधारक कला की ग्रन्थियाँ बहुधा रोगाक्रान्त होजाती हैं। वस्तुत यह कहा जा सकता है कि टेटुँआ और श्वासनलों की ग्रन्थियाँ राजयक्ष्मा के लगभग हरएक रोगी में आक्रान्त होजाती हैं। उन ग्रन्थियों में भी जो देखने में नीरोग प्रतीत होती हैं, अणुवीक्षण यंत्र से सावधानी से जाँच करने पर सूक्ष्म क्षयी विकार प्राय मिल जाते हैं, परन्तु अधिकाश ग्रन्थियाँ फूलकर बड़ी होजाती हैं। और अनेक पक जाती हैं और कुछ कड़ीली हो जाती हैं। बच्चों में इन ग्रन्थियों के रोगाक्रान्त होने के बहुधा कोई लक्षण व्यक्त नहीं होते। वस्तुत कभी कभी शवच्छेद करने पर भी श्वासनलों तथा फुफ्फुस तन्तु में किसी विकार का पता लगाना बड़ा कठिन होता है। फिर भी ये ग्रन्थियाँ प्राय कष्ट की जड़ होती हैं, क्योंकि इनसे न केवल टेटुँआ और श्वासनल की ग्रन्थिवृद्धि के ही लक्षण प्रकट होते है, बल्कि प्रौढावस्था के फुफ्फुस क्षय के ये प्राय आदिकारण भी होते हैं।

इन बढ़ी हुई ग्रन्थियों के दबाव से बच्चों में श्वासनल सकुचित हो जाते है, परन्तु वयस्कों में ऐसा कम होता है, क्योंकि उनमें श्वासनल अधिक कठोर होते हैं। बच्चों में गिल्टियाँ पककर कभी कभी श्वासनल में फूट जाती है और उससे अनायास मृत्यु, क्षयी श्वासनल-फुफ्फुस-प्रदाह इत्यादि हो जाते हैं।

अंत्रधारककला की लसिका-ग्रन्थियाँ प्रौढ रोगियों में बहुत कम रोगाक्रान्त होती है—उन रोगियों में भी, जिनकी आँतों में क्षयी व्रण होते हैं। परन्तु बच्चों में वे बहुधा रोगाक्रात होजाती हैं, विशेषकर पशु क्षय-कीटाणुओं से। प्राथमिक सक्रमणों में प्रादेशिक लसिका-ग्रन्थियाँ अवश्यमेव आक्रात होजाती हैं। माध्यमिक या स्थानान्तरित सक्रमणों में वे साधारणत आक्रात नहीं होतीं।

प्रणालीविहीन ग्रन्थियाँ— उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य प्रणालीविहीन ग्रन्थियाँ फेफड़े के क्षय-रोग में विरले ही रोगाक्रान्त होती हैं। ६०४ क्षय-

रोगियो के शवो की जाँच करने पर ३९ मे उपवृक्कों मे क्षयी विकार मिले थे। इनमे से अधिकांश की जननेन्द्रियां भी रोगाक्रान्त थीं। सिवाय एक के अन्य किसी रोगी के जीवन-काल मे रोगाक्रान्त होने का सन्देह तक नही किया गया था, क्योकि उनके रोगाक्रान्त होने के स्पष्ट लक्षण प्रकट नही हुये थे। इस बात को सब जानते हैं कि चुल्लिका-ग्रन्थि मे क्षय-रोग बहुत विरल होता है और शवच्छेदो से इस बात का समर्थन भी होता है।

जननेन्द्रियाँ—मूत्रेन्द्रिया और जननेन्द्रियो मे बहुधा क्षय-रोग हो जाता है। राजयक्ष्मा मे जननेन्द्रियो का क्षय लगभग सदा वृक्क, उपाण्डु अथवा डिम्बनलो मे प्रारम्भ होता हैं और अन्य मूत्रेन्द्रिय तथा जननेन्द्रियो मे राग इन स्थानो से फैलकर हो जाता है। रक्तजनित सक्रमण के लिए ये स्थान सबसे कम प्रतिरोध शक्तिवाले प्रतीत होते हैं।

अस्थियाँ और सधियाँ—राजयक्ष्मा मे अस्थियो और सधियो का रोगाक्रांत होना बहुत असाधारण होता हैं। इसका उलटा भी अशत ठीक होता है। अस्थि और सधि क्षयवाले रोगियो मे जाग्रत और प्रगतिशील फुफ्फुस क्षय बहुत विरल होता है।

मासपेशियाँ—क्षय-रोग मे मरे हुए रोगियो के शरीरों की जाँच करने पर मासपेशियाँ क्षीण और पीली मिलती हैं। अणुवीक्षण यत्र से परीक्षा करने पर उनमें अपचय और वसात्मक तथा अन्य प्रकार के अपकर्ष पाये जाते है। ऐसा प्रतीत होता है कि मासपेशियों के अपचय से प्रत्येक मासरज्जु क्षीण होता है, परन्तु उनकी सख्या मे कमी नही होती। ऐच्छिक मासपेशियो मे क्षय रोग बहुत कम होता है।

वात सस्थान—मस्तिष्क मे क्षयी विकार बहुत कम पाये जाते है। वात सस्थान मे केवल मस्तिष्कावरण ऐसा स्थान है जहाँ क्षय-रोग अधिक होता है। राजयक्ष्मा की अतिम अवस्था मे मस्तिष्कावरण का क्षयी प्रदाह प्राय पाया जाता है। ६०४ मृत क्षय रोगियो के शवो की जाँच करने पर ७.२६ प्रतिशत मे मस्तिष्कावरण का प्रदाह मिला था।

रक्तसचालन सस्थान—रक्तसचालन सस्थान भी राजयक्ष्मा मे प्रभावित हुये बिना नही रहता। मासपेशियो के क्षीण होने से और उनमे वसात्मक अपकर्ष होने के कारण हृदय निर्बल, छोटा और क्षीण होजाता है।

जिन रोगियो मे पार्श्वकला और हृद्गकला मे बधन होजाते है और फेफडा सिकुड जाता है उनमे हृदय का दाहिना कोष्ट अति पुष्ट होजाता है। उग्र वजरीले क्षय मे हृदय की मासपेशियो मे वजरीले यक्ष्म मिल सकते है, परन्तु पुराने राजयक्ष्मा मे नही मिलते। कभी कभी हृदयकला मे स्रावक-प्रदाह होजाता है। रक्तनाडियो की दीवारो मे कभी कभी यक्ष्म होजाते है।

सिक्थात्मक परिवर्तन—दीर्घकाल तक पूयोत्पादक रोगो से पीडित रोगियो की विभिन्न इन्द्रियो मे साधारणत एक विचित्र पदार्थ जमा होजाता है जो देखने मे श्वेतसार से मिलता-जुलता है। यह विकार वैसे तो किसी भी इन्द्रिय मे हो सकता है, परतु प्लीहा, यकृति, वृक्क और अँतडियो मे अधिक होता है (चित्र न० ४८)।

चित्र नं० ४८—यकृत का सिक्थामय अपकर्ष



(From Fishburg's Pulmonary Tuberculosis, by permission)

दसवाँ परिच्छेद

क्षय-रोग की लक्षणावली

रोगी का हाल

यह बताया जा चुका है कि क्षय-कीटाणुओं से संक्रमण होने पर सदैव क्षय-रोग उत्पन्न नहीं होता। राजयक्ष्मा में पहले संक्रमण का होना अन्तर्भुक्त होता है। परन्तु संक्रमण होने पर रोग के लक्षणों का व्यक्त होना आवश्यक नहीं है। क्षय-संक्रमण की पहचान बहुत सरल है। यक्ष्मिन-परीक्षा के प्रयोग से तुरन्त और निश्चितरूप से इसका पता लग जाता है और भूल की सम्भावना बहुत कम होती है।

परन्तु धनात्मक यक्ष्मिन प्रतिक्रिया (positive Tuberculin reaction) जो लगभग ९० प्रतिशत जनसंख्या में पाई जाती है, इस बात का प्रमाण नहीं होती कि ऐसी प्रतिक्रियावाले व्यक्ति को कोई रोग है अथवा उसको किसी इलाज की आवश्यकता है। इससे केवल इतना ही विदित होता है कि वह व्यक्ति अपने जीवनकाल में किसी समय क्षय-कीटाणुओं से संक्रामित हो चुका है। सम्भव है इस संक्रमण से उसकी कुछ भी हानि न हुई हो और साधारणत ऐसा ही होता है। यथार्थ में, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इस संक्रमण से उसके शरीर में कुछ रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है जिससे उस व्यक्ति की पुनर्संक्रमण से, जिससे बचना बड़ा कठिन होता है, रक्षा होती रहती है। इस रोगक्षमता के अभाव में पुनर्संक्रमण से उग्र और प्रगतिशील रोग हो जाने की पूरी सम्भावना रहती है।

परन्तु व्यवहारिक रूप में हमारा उद्देश्य क्षय-रोग के पता लगाने का होता है, न कि केवल क्षय-संक्रमण का। कम से कम रोगी तो यही जानना चाहता है कि उसको कोई रोग है अथवा नहीं और उसके लिए किसी इलाज

की आवश्यकता है या नहीं। यह सूचना केवल सावधानी से रोगी का हा
पूछने से, विद्यमान लक्षणों की जाँच करने से, रोगी के विद्यमान तथा शरी
की परीक्षा से ज्ञात रोग-चिह्नों से और आधुनिक परीक्षा-विधियों के उचि
उपयोग से प्राप्त हो सकती है।

रोगनिरूपण में उतावलेपन से हानि—लोग यह समझते
कि प्रारम्भ में जितना शीघ्र रोग का पता लगा लिया जाय, रोग
के अच्छा होने की उतनी ही अधिक सम्भावना होती है। इस धारण
के कारण कुछ दिनों से यह देखा जाता है कि सन्देहमात्र होने
पर चिकित्सक लोग सक्रिय रोग का होना मान लेते हैं और तब
तक वैसा ही इलाज करते रहते हैं जबतक उनका यह विचार गलत
न सिद्ध होजाय। फलत बिचारे अनेक व्यक्ति स्वास्थ्यशालाओं में
अथवा श्रेष्ठ जलवायु के किसी सुदूर स्थान में भेज दिये जाते हैं, अनेक
बालकों का पढना लिखना छुडा दिया जाता है, अनेक शिल्पकारों की नौकरी
तथा अनेक व्यवसायियों का व्यवसाय छुडा दिया जाता है। यह अवश्य है
कि इन सदिग्ध क्षयरहित व्यक्तियों में से अनेक ऐसे होते हैं जो श्रमार्त और
निर्बल होते हैं और उनको आराम की आवश्यकता होती है। इसलिए रोग
की जाँच करने में भूल होने से इन लोगों को लाभ भी होजाता है। परन्तु
अन्य कितने ही को भारी हानि होती है। इनमे से अनेकों को क्षय-रोग न
होने पर भी व्यर्थ का कलक लग जाता है जिसको मिटाने के लिए वे भरसक
परन्तु असफल चेष्टा करते हैं। इस बात की शिक्षा देने पर भी कि एक
समझदार क्षय-रोगी से दूसरों को कोई हानि नहीं पहुँच सकती, क्षय-रोग
को लोग अभीतक बुरी दृष्टि से ही देखते हैं।

कितने ही लोग, जिनको घर रहने पर भी उतना ही लाभ हो सकता
है, कुछ दिनों के लिए स्वास्थ्यशालाओं में भेज दिये जाते हैं। जब वे वहाँ
से लौटते हैं तो उनको इस बात का बराबर डर बना रहता है कि कहीं लोगों
को यह पता न लग जाय कि उनको क्षय-रोग हो चुका है। स्वास्थ्यशाला में
ठहरने का कलक लग जाने से उनको बीमा कराने, विवाह करने तथा नौकरी
इत्यादि तलाश करने में बाधा पडती है।

निर्धन और साधारण हैसियत के लोगों में (अधिकतर क्षय-रोगी
इन्हीं में से होते हैं) रोगनिरूपण में उतावलेपन का और भी अधिक भयङ्कर

परिणाम होता है। इस बात का एक उत्तम और उल्लेखनीय उदाहरण एक अमेरिका की स्त्री का है। यह स्त्री लगातार २६ वर्ष तक क्षय-रोग की विभिन्न संस्थाओं में रही थी। अन्त में जब फुफ्फुस प्रदाह से उसकी मृत्यु हुई और उसके शव की परीक्षा की गई तो क्षय रोग का कोई चिह्न नहीं मिला। यह अनुमान किया जाता है कि अलावा इस बात के कि यह स्त्री इतने दिनों तक बेकार बनी रही, इसके इलाज में जनता का लगभग ३० सहस्र रुपया बिलकुल व्यर्थ व्यय हुआ और उसके कारण लगभग ४० क्षय रोगियों को स्वास्थ्यशालाओं में स्थान नहीं मिल सका जिससे सम्भवत उनको लाभ हो जाता।

कितने ही रोगी ऐसे होते हैं जिनकी घर ही पर रहकर थोड़े व्यय में भलीप्रकार देखरेख हो सकती है, उनको विशेष संस्थाओं में रखने में समाज का बड़ा व्यय होता है। बहुतेरों को क्षय-रोग का संदेह होने पर व्यवसाय से वंचित कर दिया जाता है। जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड में गत यूरोपीय महाभारत के समय यह देखा गया था कि कितने ही व्यक्ति जो प्रारम्भिक क्षय के कारण स्वास्थ्यशालाओं में रह चुके थे, सावधानी से परीक्षा करने पर सेना के योग्य समझकर भरती कर लिये गये। अमेरिका के संयुक्तराज्य की सेना में स्वास्थ्यशालाओं के निकले हुये अनेक रोगी भरती किये गये थे और वे बहुत अच्छे सैनिक सिद्ध हुये।

स्वास्थ्यशालाओं में भरती रोगियों में से बहुतेरों के कफ में क्षय कीटाणु नहीं पाये जाते। इससे विदित होता है कि उनमें से बहुतों को यथार्थ में क्षय रोग नहीं होता। जिनको क्षय-रोग का कुछ भी अनुभव है वे इस बात को स्वीकार करेंगे।

अब कुछ दिनों से उपक्रान्त क्षय रोगियों की उत्कण्ठित तलाश की प्रथा के विरुद्ध एक उल्टी लहर चलती देख पड़ने लगी है। प्रतिष्ठित लेखक अब इस बात पर जोर देने लगे हैं कि अनिश्चित रोग चिह्नों पर भरोसा नहीं करना चाहिये। उनका कहना है कि केवल विष व्याप्ति के लक्षणों को ही सक्रिय रोग की सच्ची कसौटी समझनी चाहिए। डा० एडवर्ड आर्टिस रोगलक्षण के अभाव में केवल निश्चित या अनिश्चित रोग-चिह्नों से सक्रिय रोग मान बैठने की और ऐसे चिह्नवाले रोगियों का व्यवसाय छुड़ाकर स्वास्थ्यशाला में भेजने की बुद्धिमता को स्वीकार नहीं करते,

क्योकि स्वास्थ्यशालाओ मे नये और सक्रिय सक्रमण होने का कुछ न कुछ भय रहता ही है।

हर सदिग्ध व्यक्ति को क्षय-रोगी मानकर इलाज करने के सिद्धान्त से समाज को जो हानि पहुँचती है, उसका एक उत्तम उदाहरण गत यूरोपीय महाभारत में देखने मे आया था। सैनिको की परीक्षा करने पर चिकित्सको को यदि थोडे से भी रोग-चिह्न मिल जाते थे, तो साधारण नागरिको की भाँति उनको भी वे तुरन्त क्षय-रोगी कह देते थे। यदि वे साधारण नागरिक होते तो उनको ऐसी दशा मे स्वास्थ्यशाला मे भरती करा दिया जाता और वहाँ कुछ समय तक रहने के बाद उनको रोगमुक्त कहकर निकाल दिया जाता। परन्तु फौज के इन सिपाहियो को निरीक्षण के लिये अस्पतालो मे भेज दिया जाता था। फल यह हुआ कि फ्रास मे एक हजार ऐसे व्यक्तियो मे केवल १॥ प्रतिशत लोगो मे यथार्थ मे क्षय-रोग निकला। लगभग ११३ मे केवल नाक तथा कठ के पुरातन विकार थे। मेजर रिस्ट का कथन है कि फ्रास की सेना में जिन एक सहस्र सैनिको को क्षय-रोगी समझकर समरक्षेत्र से युद्ध के मूल अस्पताल मे वापस भेज दिया गया था उनमे से बाद को ८०७ क्षयरहित सिद्ध हुये। रोगनिरुपण मे उतावलेपन से सेना को सैनिकों की और धन की जो भारी हानि पहुँचती है, उसका अनुमान नही किया जा सकता। कर्नल बुशनेल का कहना है कि रोगनिरुपण की इस त्रुटि की बुराई सर्वत्र पाई जाती है। जर्मनी, ग्रेटब्रिटेन और फ्रास, किसी भी देश की सेना इस बुराई से खाली नही है।

क्षय-रोग के निरूपण मे उतावलेपन से उतनी ही हानि होती है, जितनी कि सक्रिय और प्रगतिशील रोग की पहचान मे भूल करने से। यदि सावधानी से निरीक्षण किया जाय तो कुछ देर हो जाने से रोगी को कोई विशेष हानि नहीं हो सकती, क्योकि रोग की ठीक ठीक पहचान करने मे अधिक देर नही लग सकती। सक्रिय और प्रगतिशील रोगियों मे रोग बहुत शीघ्र व्यक्त हो जाता है। कुछ देर होने से भी हानि नही होती, क्योंकि वैसे भी ऐसे रोगियो मे इलाज मे अधिक लाभ होने की सम्भावना नहीं होती। पुरातन रोग मे कुछ दिनो की देर से रोग की साध्यासाध्यता मे कोई अन्तर नहीं पडता। परन्तु किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसको यथार्थ मे क्षय-रोग नहीं है,

क्षय रोगी कह देने से प्राय उसकी और उसके परिवार की बरबादी हो जाती है और उसकी समाज को भी बडी हानि पहुँचती है। *बिना किसी प्रतिवाद* के भय के यह कहा जा सकता है कि रोगी के उपक्रान्त अवस्था मे होने का सदा यह अर्थ नहीं होता कि वह रोगी साध्य है अथवा अच्छा हो सकता है। अनेक प्रारम्भिक रोगियो की दशा तथा भविष्य सम्बृद्ध रोगियों की अपेक्षा बुरे होते हैं।

सक्रिय राजयक्ष्मा की पहचान के मोटे वसूल—सक्रिय राजयक्ष्मा में विष व्याप्ति के लक्षण अवश्य पाये जाते हैं। यदि विष-व्याप्ति के लक्षण न हों तो रोगी के संक्रामित होते हुये भी,—और संक्रमण किस में नहीं होता,—उसको किसी इलाज की आवश्यकता नहीं है, विशेषकर ऐसे इलाज की जो समाज के लिये व्यय साध्य और रोगी के परिवार के लिये नाशकारक हो। ऐसे व्यक्ति को न उसके परिवार से पृथक् करने की और न किसी आरोग्यशाला मे भेजने की आवश्यकता होती है। रोगी से यह कहते समय कि उसको उपक्रान्त क्षय है, इस बात को सदैव स्मरण रखना चाहिये।

प्रत्येक सावधान चिकित्सक, चाहे वह रोग को स्थानांकित भले ही न कर सके और उसके लिये उसे किसी विशेषज्ञ की सहायता लेनी पडे, रोग-लक्षणों से प्रारम्भिक राजयक्ष्मा की पहचान कर सकता है। ज्वर, खाँसी, शीघ्रगामी नाडी, आलस्य, रात्रिस्वेद, रक्त निष्ठीवन इत्यादि लक्षणों के बिना सक्रिय क्षय रोग नहीं होता। सक्रिय रोग के प्रकट होते ही सभी या कुछ लक्षण अवश्य या तुरन्त प्रकट हो जाते है।

यदि चिकित्सक इन मोटी बातों को ध्यान मे रक्खे तो भूल होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। यथार्थ में जितने प्रबल आग्रह के साथ इस बात का प्रचार किया जाता है कि रोगनिवारण के लिए क्षय रोग का उपक्रान्त अवस्था मे शीघ्र से शीघ्र पता लगाना चाहिये, यदि उतना ही जोर रोग के लक्षणों पर दिया जाय, जिनका प्रत्येक वैद्य पता लगा सकता है, तो सभी रोगियों के रोग का उचित समय मे पता लग सकता है।

रोगनिरूपण की स्वाभाविक रीति—कायचिकित्सा में किसी दुर्बोध रोग पर प्रकाश डालने के लिये प्राय हमे निगमन तर्कपद्धति का प्रयोग करना पडता है। परन्तु सक्रिय क्षय-रोग के अस्तित्व का पता लगाने के लिये आगमन तर्कपद्धति से काम लेना अधिक निरापद होता है। सबसे पहले व्यक्तिगत लक्षणों का पता लगाना चाहिये और यह देखना चाहिये कि

पृथक् पृथक् रूप से उनका क्या महत्व है। इसके उपरान्त सबसे बडी बात यह है कि जो बाते इसप्रकार ज्ञात हो उनपर सामूहिक दृष्टि से विचार करना चाहिये और यह देखना चाहिये कि उनसे जो तात्पर्य निकलता है वह ठीक है या नही और वह विभिन्न बातो के पारस्परिक सम्बन्ध का विरोधी तो नही है।

युक्तिपूर्वक इस विधि से काम लेने के लिये रोगी की आकृति का सावधानी से निरीक्षण करना चाहिये और उसके उन लक्षणो की भलीप्रकार पूँछताछ करनी चाहिये जिनके कारण वह इलाज के लिये आया है। इसके अतिरिक्त उन लक्षणो की भी पूँछताछ कर लेनी चाहिये, जिनकी ओर ध्यान दिलाये विना एक साधारण रोगी उनको वता नही सकता। इन बातो का ठीक ठीक पता लगाने के उपरान्त और उनका महत्व निर्धारित करने के बाद शरीर की परीक्षा द्वारा जो कुछ रोग-चिन्ह ज्ञात हों उन पर लक्षणो के साथ साथ विचार करना चाहिये।

रोगी का हाल—सबसे पूर्व रोगी से उसके रोग का हाल विस्तृत रूप से पूछना चाहिये। यदि वता सके, तो उसके माता-पिता और पितामह तथा पितामही के स्वास्थ्य की दशा और यदि उनकी मृत्यु हो चुकी हो तो मृत्यु का कारण पूछना चाहिये। इस प्रसग में पूछनेयोग्य, विशेष महत्व की बात यह होती है कि उसके शिशुकाल मे उसके पूर्वजो मे से, किसीको सक्रिय क्षय-रोग तो नही था। यदि बाल्यावस्था पार करने के बाद उसके किसी पूर्वज मे क्षय-रोग हुआ तो उसमे उन लोगो की अपेक्षा जो क्षयरहित माता-पिता या पूर्वजो की सन्तान होते हैं, अधिक क्षय-रोग होने की सम्भावना नही होती। यथार्थ मे प्रचलित धारणा के प्रतिकूल कुछ साक्षी इस बात को मिलती है कि ऐसे व्यक्तियो मे क्षय-रोग होने पर उन लोगो की अपेक्षा हल्का होता है जिनके परिवार मे क्षय-रोग का होना पाया नहीं जाता।

रोगी की आयु का अधिक विचार नही होना चाहिए। ऐसी कोई आयु नही है जिसमें क्षय-रोग नहीं होता। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक आयुकाल मे रोग का विशेष रूप होता है, शिशुकाल मे उग्र व्यापक रोग होता है, बाल्यकाल में लसिका-ग्रन्थियो, अस्थियो और सधियो का क्षय होता है, प्रौढावस्था मे फेफडो का साधारण पुरातन क्षय (राजयक्ष्मा) तथा ४० वर्ष की आयु के बाद सूत्रोत्पादक क्षय होता है और वृद्धावस्था मे

वार्द्धक्य-क्षय होता है जो बहुत पुरातन और जीर्णरूप का होता है और जिसके लक्षण और गति विशिष्ट होते हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि क्षय-रोग के विकास पर रोगी के व्यवसाय का बड़ा प्रभाव होता है। इसलिये रोग का हाल पूछने समय इसका भी ध्यान रखना चाहिये।

यह भी पूछ लेना चाहिये कि कभी रोगी के वक्षस्थल में चोट तो नहीं लगी थी और यदि लगी थी तो उसके बाद रक्तनिष्ठीवन तो नहीं हुआ था।

पूर्ववर्ती रोगों का विस्तारपूर्वक हाल पूछना चाहिये। शिशुओं और बच्चों में सक्रिय क्षय रोग संक्रामक उद्भेदक (Eruptive) रोगों के बाद अधिक होता है। प्रौढावस्था में मोतीझरा, इन्फ्लुएञ्जा, फुफ्फुस या फुफ्फुसकला का प्रदाह, मधुप्रमेह और उपदंश इत्यादि रोगों का क्षय-रोग के प्रादुर्भाव पर प्रभाव पड़ता है। बाल्यावस्था के कंठमाला रोग का प्रौढावस्था के सक्रिय राजयक्ष्मा के होने में कोई प्रभाव नहीं होता, सिवाय इसके कि राजयक्ष्मा जब कभी होता है तो प्रायः हल्का होता है। अस्थियों और सन्धियों के पूर्ववर्ती क्षय के सम्बन्ध में भी यह बात अंशतः सत्य होती है।

स्त्रियों से मासिक-धर्म का हाल पूछना चाहिये और इसके अभाव पर विशेष ध्यान देना चाहिये। यह स्मरण रखने योग्य है कि क्षय-रोग का प्रादुर्भाव प्रायः प्रसव के बाद होता है। इस विषय में यह कहना आवश्यक है कि जिन स्त्रियों में प्रसव के बाद क्षय-रोग का प्रादुर्भाव होता है उनमें से अनेक में रोग बहुधा पहले ही से मौजूद रहता है, जिसका प्रसव से केवल पुनरुद्दीपन होजाता है।

रोग निरूपण में प्रौढ़ व्यक्तियों में संक्रमण के सम्पर्क को विशेष महत्व नहीं देना चाहिये। अधिकांश लेखकों का यही मत है। यह बताया जा चुका है कि डाक्टर, परिचारक इत्यादि क्षय-रोग की संस्थाओं के कर्मचारियों में, जिनका क्षय कीटाणुओं से सबसे अधिक सम्पर्क होता है, क्षय रोग अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक नहीं होता और न क्षयी पतियों की पत्नियों में अथवा क्षयी पत्नियों के पतियों में ही अन्य लोगों की अपेक्षा क्षय रोग अधिक होता है। ऐसी दशा में यह समझना कि रोगियों के सम्पर्क से डाक्टरों की अपेक्षा और क्षयी पति या पत्नी के सम्पर्क से स्वस्थ पत्नी या पति की अपेक्षा साथ

काम करनेवाले एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अधिक रोग हो जायगा, विचारशून्यता नहीं तो और क्या है। बच्चों की, विशेषकर शिशुओं की बात दूसरी है। क्षयी माता-पिता के शिशुओं में अथवा जिनमें अन्यथा सम्पर्क हो जाता है, सक्रिय रोग हो जाने की अवश्य अधिक सम्भावना होती है। तीन वर्ष से अधिक आयुवाले बच्चों में इस बात की जाँच करनी चाहिये कि जब बच्चे की आयु सालभर से कम थी उस समय माता-पिता में से किसी को क्षय-रोग था या नहीं, क्योंकि माता-पिता के कफ में कीटाणु निकलने के समय यदि बच्चे की आयु तीन वर्ष से अधिक हो तो भारी प्राथमिक संक्रमण की संभावना कम होती है।

बच्चों में संक्रमण के उद्गम स्थान का पता लगाने में एक आश्चर्य-जनक बात प्राय देखने में आती है। पितामह या पितामही में से किसी को वार्द्धक्य क्षय होता है, जिसका उनको पता नहीं होता और जिसको वे केवल बुढापे की साधारण खाँसी समझे होते हैं और उनसे बच्चों में क्षय संक्रमण होजाता है।

वर्तमान रोग का हाल—यह जानना बड़ा महत्वपूर्ण होता है कि वर्तमान रोग का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ है और रोग के कौन-कौनसे लक्षण व्यक्त हो चुके हैं। रोगी को जुकाम या खाँसी के दौरे पहले कभी हुये थे या नहीं, इस बात की सावधानी से जाँच करनी चाहिये, क्योंकि सम्भव है कि ये दौरे निष्फल क्षय के रहे हों। दूसरी ओर यदि यह ज्ञात हो कि ये दौरे टॉन्सिल या एडीनाइड के बढ जाने से हुये हैं तो फेफड़े के सक्रिय और प्रगतिशील रोग की कम सम्भावना होती है। और यदि फेफड़े में स्पष्ट क्षयी विकार भी हो तो रोगी की भावी दशा अच्छी समझनी चाहिये। यदि यह मालूम हो कि रोगी को पहले मोतीझरा, फुप्फुस प्रदाह और विशेषकर पार्श्वकला के प्रदाह के दौरे हुये थे तो यह सम्भव है कि ये दौरे क्षय-रोग के दौरे रहे हों जो अब अच्छे हो गये हैं। रोगी के वृत्तान्त में महीनों तक उसके स्नायविक दुर्बलता, मन्दाग्नि, रक्ताभाव अथवा शीतज्वर का इलाज होता रहना पाया जाना कोई असाधारण बात नहीं होती।

इस बात की जाच करनी चाहिये कि वर्तमान रोग के प्रारम्भ में कौन-कौन-से लक्षण थे। कफ, खाँसी, आलस्य, तन्द्रा, विशेषकर मध्याह्नोपरान्त, वजन की कमी, रक्त-निष्ठीवन और पार्श्वशूल इत्यादि लक्षणों पर विशेष

ध्यान देना चाहिये। सक्रिय रोग है अथवा नही, इस बात का पता लगाने मे ज्वर और सर्दी का लगना, कमर मे पीडा, अरुचि, तीव्रगामी नाडी इत्यादि उसके सहगामी लक्षण सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। रात्रि-स्वेद के सम्बन्ध मे जॉच करनी चाहिये और यदि रात मे पसीना आता हो तो पूछना चाहिये कि पसीना सोते समय होता है या किसी भी समय होता है और उससे निद्रा भग तो नही हो जाती है। रोगी की क्षुधा के सम्बन्ध मे भी जॉच करनी चाहिये। यदि भूख की कमी हुई हो तो पूछना चाहिये कि वह अन्य लक्षणो के प्रादुर्भाव के साथ तो कम नही हुई है। यदि रोगी बता सके तो उसके गत कई वर्षो मे शरीर के वजन की कमी या बढती का हाल पूछना चाहिये। रोगी के पाखाने का हाल पूछना चाहिये और विशेपकर यह कि उसको अतिसार तो नही हुआ है।

यदि कफ आता हो तो उसमे क्षय-कीटाणुओ और स्थितिस्थापक तन्तु की जॉच अवश्य करनी चाहिये। मूत्र की परीक्षा करके यह देखना चाहिये कि उसमे एल्बुमेन, शक्कर तथा साँचे निकलते हैं या नही।

इन सब बातो की जॉच करने के बाद रोगी की शारीरिक परीक्षा करनी चाहिए। इसके अन्तर्गत केवल वक्ष-परीक्षा ही नही आती, अपितु शरीर के सब अगो की चोटी मे पैर तक की परीक्षा आती है। इसप्रकार इतने रोग-लक्षण और चिह्न मिल सकते हैं, जिससे क्षय-रोग का निश्चय किया जा सके, अथवा यह सिद्ध हो सके कि रोगी के लक्षणो का कोई और कारण तो नहीं है। क्षय-रोग के चिह्न, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा, समस्त शरीर में बिखरे होते हैं।

सबसे बडी बात जिसको कभी न भूलना चाहिये, यह है कि बिना रोग-लक्षणो के सक्रिय क्षय-रोग नही होता, और कफ मे क्षय-कीटाणु मिलने के अतिरिक्त ऐसा कोई रोग लक्षण या रोग-चिह्न नही है जो क्षय-रोग का निश्चय द्योतक हो। केवल विभिन्न लक्षणो और चिह्नो के सयोग तथा परस्पर सम्बन्ध से ही रोग की पहचान हो सकती है, विशेपकर उन दुर्ज्ञेय रोगियों में जिनके कफ मे क्षय-कीटाणु नही मिलते। इस बात से सक्रिय राजयक्ष्मा की शीघ्र पहचान मे कोई बाधा नहीं पडती और भूल जितनी सर्वेक्षण की असावधानी से होती है उतनी अन्य किसी कारण से नहीं होती।

सावधानी से पूछताछ करने पर रोगी प्राय' यह कहता है कि जैसी और सबको खाँसी आती है वैसी ही उसको भी आती है ।

जो रोगी कफ को निगल जाते हैं, वे साधारण प्रश्न करने पर यही कह देते हैं कि उनको खाँसी नहीं आती। परन्तु जब उनका ध्यान इस ओर आकर्षित करके सावधानी से प्रश्न किया जाता है तो वे मान लेते हैं कि कुछ खाँसी उनको अवश्य आती है। दूसरे प्रकार के रोगी जिनको सक्रिय रोग होते हुये भी खाँसी नहीं आती, वृद्ध होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन आगे चलकर किया जायगा। बहुत से रोगी ऐसे मिलते हैं जिनके फेफड़ों की परीक्षा करने पर दीर्घकाल तक रोग के कोई चिह्न नहीं मिलते, परन्तु उनमें खाँसी के निरन्तर होने के कारण रोग का निश्चय हो जाता है ।

क्षय-रोग में खाँसी के भेद—क्षय-रोग मे कई प्रकार की खाँसी पाई जाती है। रोग की विभिन्न अवस्थाओं मे भिन्न भिन्न प्रकार की खाँसी होती है। इन नाना प्रकार की खाँसियों की चिकित्सा मे भी कुछ अन्तर होता है। अतएव इनकी ठीक पहचान और उपचार के लिए चिकित्सक को इनके विषय मे पूरा ज्ञान होना चाहिये ।

प्रारम्भिक क्षय में खाँसी के रूप—राजयक्ष्मा के प्रारम्भ मे भी खाँसी कई प्रकार की होती है—

(१) प्रतिश्याय रूप (ज़ुकाम)—बहुत से क्षय रोगी पूछने पर बतलाते हैं कि रोग होने से कई वर्ष पहले उनको शरद या शीत ऋतु मे ज़ुकाम के बार-बार दौरे हो जाया करते थे जो साधारण इलाज से कुछ दिनों मे शान्त हो जाते थे, परन्तु पिछली बार दौरा किसी कारणवश अच्छा नहीं हुआ और खाँसी बनी रही तथा बढ गई। जिस औषधि मे पहले दौरों मे लाभ हुआ था, अब की उससे लाभ नहीं हुआ। ऐसे रोगियों में खाँसी बहुत हल्की होती है। कभी कभी सूखी खाँसी का केवल ठसका होता है । कभी कभी प्रात काल कंठ साफ करते समय कुछ खँखार निकलती है। किसी किसी रोगी के खाँसने पर स्वच्छ कफ की फुटकी-सी निकलती है। इस अवस्था मे कफ में प्राय क्षय-कीटाणु नहीं मिलते। इन हल्की खाँसी के दौरों को प्राय लोग साधारण ज़ुकाम के दौरे समझते हैं। जब परीक्षा करने पर कोई चतुर डाक्टर क्षय रोग का प्रारम्भ बतलाता है तो उसके कथन पर विश्वास नहीं किया जाता। इस

प्रकार रोगी का बडा अमूल्य समय नष्ट हो जाता है। साधारण से साधारण खाँसी को भी केवल जुकाम समझकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

परन्तु हरएक हल्की खाँसी या जुकाम को क्षय-रोग समझना भी बडी भूल है। ऐसे रोगियों मे क्षय-रोग का निर्णय करते समय कठ की सावधानी से परीक्षा कर लेनी चाहिये। नाक और कठ मे क्षय बहुत कम होता है। यदि खाँसी का उपयुक्त कारण नाक तथा कंठ मे मिल जाय और परीक्षा करने पर फेफडो मे क्षय रोग का कोई चिह्न न मिले तो क्षय रोग की बहुत कम सम्भावना समझनी चाहिये।

आजकल के फैले हुये क्षयातक के कारण लोगों को प्राय जो नकली खाँसी आने लगती है उससे प्रारम्भिक क्षय की हल्की खाँसी की पहचान करना अत्यन्त आवश्यक है। क्षय-रोगियो के घरो के अनेक लोग,—विशेष-कर जब क्षय रोगी की मृत्यु होजाती है,—यह विश्वास करने लगते हैं कि उनको क्षय-रोग होगया है और उनको खाँसी आने लगती है। इसकी सर्वोत्तम पहचान यह है कि इसप्रकार की नकली खाँसी रात मे जब मनुष्य सोता है, अथवा दिन मे जब वह अपने काम में लगा रहता है, नहीं आती। ऐसे बहुत-से रोगी देखने मे आते हैं जो निरन्तर खाँसते रहते हैं, परन्तु जैसे ही वे बातचीत मे लग जाते हैं या किसी काम मे उनका ध्यान बँट जाता है उनकी खाँसी बन्द होजाती है। प्रारम्भिक क्षय की खाँसी अनेक रोगियों में सोते समय बहुत आती है। नींद के पथम कुछ घटों मे नही आती, परन्तु प्रात काल फिर उठती है जिसमे रोगी की आँख खुल जाती है और जागने के बाद जब तक वक्ष साफ नहीं होजाता, बहुत आती रहती है। दिन में बिलकुल नही या बहुत कम उठती है। केवल चित्तोद्वेग, अति परिश्रम, सर्दी लगने अथवा वायुमडल मे धूल या धुएँ से उठती है।

(२) दौरेदार खाँसी (Paroxysmal Cough)—अनेक क्षय रोगियों मे रोग के प्रारम्भ मे अथवा बाद को खाँसी बडे वेग से उठती है और उसके दौरे होते हैं। जब सूखी होती है तब यह बडी कष्टदायक और असह्य होती है, क्योंकि यह प्राय सायकाल अधिक तीव्र होती है और उसमे रोगी सो नहीं सकता। इससे छाती मे पीडा, निद्रानाश और बडी थकावट होजाती है। अन्य रोगियों मे खाँसी काफी देर तक बनी

रहती है और कुछ समय के बाद जब कफ निकल जाता है तो शान्त हो जाती है। रोगी सबसे पहले कफ को ढीला करनेवाली औपधि चाहते हैं। दौरो मे कभी कभी वमन होजाता है और इनके कारण कुछ मनुष्यों मे आँत उतरने लगती है।

दौरेदार खाँसी का कारण टेटुआ के श्वासप्रणालियो मे विभाग-स्थान पर व्रण कहा जाता है। परन्तु इसप्रकार की खाँसी उन रोगियो मे भी पाई जाती है जिनमे टेटुआ और श्वासप्रणाली से सम्बन्ध रखने वाली लसिका-ग्रंथिया बढ जाती हैं तथा जिनमे पार्श्वकला मे पुरातन प्रदाह से बधन बन जाते हैं अथवा पार्श्वकला के परत एक दूसरे से चिपक जाते है। सूत्रोल्वण क्षय मे अथवा जब वायुध्मात फेफडो मे क्षय होता है तो कभी कभी खाँसी के दौरे होते है। दौरे मे ऐसे रोगियो के होठ और नख नीले पड जाते हैं, ग्रीवा की शिरायें फूल जाती हैं और रोगी को बडा कष्ट होता है। जितना कफ निकलता है उसकी अपेक्षा खाँसी का वेग कही अधिक होता है। स्वच्छ कफ की फुटकी निकलने पर खाँसी शान्त हो जाती है, पर रोगी थक जाता है। कुछ देर बाद फिर खाँसी उठती है। रात मे भी दौरे होते हैं।

वेगवान फुफ्फुस क्षय के अनेक रोगियो मे जिनमे रोग स्थानाङ्कित नही किया जा सकता, और बजरीले क्षय मे, जिसमे यक्ष्म फेफडो भर मे बिखरे हुये होते हैं और शारीरिक परीक्षा से वायुध्मान के चिह्न मिलते है, कभी कभी तीव्र खाँसी के दौरे देखने मे आते हैं। कुछ लेखको का विश्वास है कि खाँसी के वेग से स्थानान्तरित होकर क्षय-रोग फैल जाता है। परन्तु अनेक रोगियो मे यह देखा गया है कि अन्त मे रोग स्थानाबद्ध होकर उसकी गति साधारण पुरातन राजयक्ष्मा की-सी होजाती है और खाँसी के दौरे बन्द होकर साधारण क्षय रोगी की-सी सामान्य खाँसी रह जाती है।

(३) वमनकारक खाँसी (Emetic cough)—क्षय-रोग की प्रारम्भिक अवस्था मे अनेक रोगियों मे ऐसी खाँसी होती है कि खाँसते-खाँसते उलटी होजाती है। इसप्रकार की खाँसी को वमनकारक खाँसी कहते हैं। कुछ फ्रासीसी लेखकों का कहना है कि राजयक्ष्मा के ५०—६० प्रतिशत रोगियो को ऐसी खाँसी आती है। परन्तु अन्य लेखकों का अनुभव ऐसा नहीं है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि किसी न किसी अवस्था मे आधे से भी अधिक क्षय रोगियों में वमन होजाता है। परन्तु सब प्रकार के वमन को

वमनकारी खाँसी नहीं कहा जा सकता, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा।

यह बताया जा चुका है कि प्रारम्भिक क्षय मे प्राय खाँसी से कफ नहीं निकलता, बल्कि वमन होजाता है। कुछ रोगियो मे भोजन करते ही तुरन्त खाँसी आने लगती है, कुछ मे भोजन करने के कारण ही खाँसी आती है और अन्य रोगियो मे भोजन के बाद खाँसी उठती है और उससे वमन होजाता है।

यह वमनकारी खाँसी इतनी विशिष्ट होती है कि यदि पुराने मदिरा-पान करने वालों म मिलने वाली खाँसी, कुकरखाँसी और नासिका के प्रदाह को निकाल दिया जाय तो सादिग्ध रोगियों में क्षय-रोग का निश्चय करने म यह एक विश्वस्त लक्षण होती है। क्षय-रोग का निर्णय करने मे इसमे बडी सहायता मिलती है। परन्तु इसके रोग-निरूपकमूल्य को ठीक ठीक समझने के लिए यह आवश्यक है कि क्षय-रोग मे अन्य कारणों से जो वमन होता है उससे इसकी ठीक ठीक पहचान कर ली जाय। वमनकारक खाँसी साधारणत इसप्रकार होती है।

रोगी दोपहर को या शाम को जब भोजन करता है तो उससे उसको कोई कष्ट नही होता। परन्तु कुछ देर (५ मिनट से १ घटा और बहुधा १५ या २० मिनट) के बाद उसके गले में सुरसुराहट होकर अथवा एकाएक खाँसी का दौरा उठता है जिससे उसका दम घुटने लगता है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसके गले मे कफ चिपका हुआ है जो निकालने मे नहीं आता। अन्त मे उसको कै हो जाती है और उसमे खाया पिया सबका सब अथवा कुछ भाग निकल जाता है। दौरे से पहले मतली नहा होती, बल्कि खाँसने में एकाएक वमन हो जाता है। इस बात से अन्य प्रकार के वमनों से इसकी पहचान की जा सकती है। जब यह पहली बार होती है तो रोगी घबडा जाता है या इसका कारण कुपथ्य समझने लगता है, परन्तु जब यह बारबार होने लगती है तब अन्य कारण ढूँढने के लिये उसको विवश होना पडता है। वमन के बन्द होते ही रोगी को बडा चैन मिलता है और पेट का तनाव तथा श्वास कष्ट दूर हो जाता है। कभी कभी उसको भोजन की फिर इच्छा होती है और वह जान जाता है कि भर पेट खाने से उसको खाँसी आकर वमन हो सकता है।

राजयक्ष्मा काल मे अन्य कारणों मे भी वमन होता है। परन्तु उसको वमनकारक खाँसी नही कहा जा सकता। जिन रोगियो मे आमाशय

का पुरातन प्रदाह होता है या जिनका आमाशय फूला होता है अथवा जिनको पुरातन मद्यपान रोग होता है, उनमे प्राय. वमन होजाता है और कभी कभी वह खाँसी से प्रकुप होजाता है। क्षय-रोग की सम्वृद्ध अवस्था में भी वमन हो सकता है और कभी कभी वह इतना प्रमुख होता है कि रोगी के लिये कुछ भी खाना कठिन होजाता है। परन्तु इसप्रकार के वमनो को वमनकारी खाँसी नही कहते। इन रोगियो मे साधारणत. मतली, मैली जीभ, श्वास मे दुर्गंध, कब्ज, अतिसार, शिर मे पीडा, इत्यादि मन्दाग्नि के लक्षण होते हैं और परीक्षा करने पर फूला हुआ आमाशय, यकृति का वसात्मक अपकर्ष, अथवा अन्य उदर विकार मिलते हैं। ऐसे रोगियो मे खाँसी के बाद वमन हो सकता है, परन्तु वमन से पूर्व सदैव खाँसी का दौरा नहीं होता, न वमन का कोई नियम होता है, न यह भोजन के बाद सदा होता है और न इसके बाद सदा रोगी को तुरन्त चैन मिलता है। शराबियो में वमन प्रात काल अधिक होता है। कठ के पुरातन प्रदाह मे भी ऐसा ही होता है। इन दोनो दशाओं में उबकाई और मतली आती है जो वमनकारक खाँसी मे नही आती। वमनकारक खाँसी क्षय-रोग के प्रारम्भ में बहुधा ऐसे रोगियों म आती है, जिनकी पाचकशक्ति अच्छी होती है। वमन के पूर्व सदैव खाँसी का दौरा होता है। भोजन के उपरान्त यह दौरा सदा निश्चित समय पर होता है और पहले या बाद को किसी प्रकार की मतली, चक्कर, उबकाई या मूर्च्छा नहीं आती। विपरीत क्रम अर्थात् पहले वमन और फिर खासी कभी नहा होती।

इसप्रकार की वमनकारक खाँसी क्षय-रोग के अतिरिक्त केवल कुकर खाँसी और मद्यपायियो में कठ के पुरातन प्रदाह रोग मे पाई जाती है। इसलिए यदि किसी रोगी को वमनकारक खाँसी हो और उसमे कुकर खाँसी या पुरातन कठ प्रदाह के कोई चिह्न न मिले तो तुरन्त क्षय-रोग का सदेह करना चाहिये और यदि यह कुछ दिनो तक लगातार जारी रहे तो निश्चयात्मक चिह्न न मिलने पर भी क्षय-रोग का होना समझना चाहिये।

क्षय-रोग की सम्वृद्धावस्था मे खाँसी—जैसे-जैसे रोग बढता जाता है खाँसी उत्तरोत्तर बढती और ढीली होती जाती है और कफ के निकलने में कष्ट कम होता जाता है। फेफडे में रध्र बन जाने पर साधारणत खाँसी में कमी होजाती है। परन्तु रात में निद्रा भग नहीं होती, क्योंकि कफ रध्र मे जमा होता रहता है। परन्तु प्रात काल कफ से भरे हुए रध्र को

खाली करने के लिये खाँसी उठती है जो कुछ मिनट तक रहती है और उसके बाद रोगी को चैन आ जाता है।

जब रन्ध्र भर जाते हैं तो उनको खाली करने के लिये रोगियो को समय समय पर खाँसी आती है। करवट बदलने का भी प्रभाव पडता है। करवट बदलने से रन्ध्रों मे भरा हुआ कफ बहकर श्वासप्रणालियो मे आ जाता है। इसलिए उसको निकालने के लिये खाँसी आने लगती है और जब सब कफ निकल जाता है तो शान्त होजाती है। जब तक रन्ध्र फिर न भर जाय, चैन रहता है। रोगियो को साधारणत अनुभव से ज्ञात होजाता है कि किस करवट लेटने से उनको आराम मिलता है और किस करवट मे उनको खाँसी आने लगती है। किस करवट से आराम मिलत है, यह बात रन्ध्र से सम्बन्ध रखनेवाली नली की दिशा पर निर्भर होती है। स्वस्थ पार्श्व की ओर लेटने से सदैव आराम नहीं मिलता। पार्श्वकला मे बन्धन बन जानेवाले रोगियो मे भी करवट बदलने से खाँसी आती है। परन्तु उनमें खाँसी साधारणत सूखी होती है और उससे कफ नहीं निकलता। रोगियो को बैठने की अपेक्षा लेटने पर अधिक खाँसी आती है, परन्तु कुछ रोगियों मे खडे होने से खाँसी आने लगती है।

इस अवस्था मे कुछ रोगियो को बडी कष्टदायक तीव्र खाँसी निरन्तर आती रहती है जिससे उनको बडी बेचैनी होती है और दिनरात मे तनिक भी शान्ति नही मिलती। यह ध्यान देने योग्य है कि खाँसी की तीव्रता न फेफडे के विकार के विस्तार पर और न रन्ध्रों की सख्या और परिमाण पर पूर्णतया आश्रित होती है। कुछ रोगियो को रोग के अधिक विस्तृत होने पर भी खाँसी कम आती है और अन्य रोगियो को रोग परिमित होने पर भी खाँसी अधिक आती है।

क्षय रोगियों की खाँसी पर अनेक बातों का प्रभाव पडता है। इनमे रोगी की आयु और चित्तवृत्ति सबसे अधिक प्रधान होती हैं। वृद्ध रोगियों की अपेक्षा तरुण रोगियो को खाँसी साधारणत अधिक आती है। वस्तुत अधिकाश वृद्ध क्षय रोगियों को खाँसी मुश्किल से आती है। उनमे बिना चेष्टा के ही बहुत सा कफ निकल जाता है। जिन रोगियो के सम्बन्ध मे कुछ लेखक वर्णन करते हैं कि उनको वर्षा तक क्षय-रोग होने पर भी खाँसी नहीं आती, वे बहुधा वृद्ध रोगी होते हैं। रोगी की मानसिक अवस्था का भी ब[illegible]

प्रभाव पडता है। चिडचिडे और तेज स्वभाववाले रोगियों को शान्त स्वभाव वालों की अपेक्षा अधिक खाँसी आती है।

रोगनिरूपण और साध्यासाध्य विचार में खाँसी का महत्व— खाँसी से कम से कम इतना लाभ अवश्य होता है कि अनेक रोगियों का ध्यान फेफडो की ओर शीघ्र आकर्षित होजाता है। जिस व्यक्ति को पहले कभी खाँसी न हुई हो, यदि उसको तरुणावस्था या उसके पार करने के बाद प्रथम बार जुकाम हो और फलस्वरूप एक महीने से अधिक खाँसी आती रहे तो उसके फेफडा में रोग के निश्चित चिह्न न मिलने पर भी क्षय रोग का बहुत बडा सन्देह करना चाहिये। यदि रोग के प्रथम दिनो मे नाक और कठ मे जुकाम के लक्षण न हुए हो तो सन्देह को और भी दृढ समझना चाहिए क्योंकि साधारण जुकाम और खाँसी मे नाक और कठ मे स्रावक प्रदाह अवश्य होता है।

साध्यासाध्य विचार—रोग के साध्यासाध्य विचार की दृष्टि से भी खाँसी एक महत्वपूर्ण लक्षण होती है। अनेक रोगी ऐसे देखने में आते है जिनके फेफडो मे विकार बहुत कम होता है और ज्वर, अरुचि निर्बलता, इत्यादि लक्षण भी कम होते हैं परन्तु खाँसी वश में नहीं आती। अन्यथा इन रोगियों की दशा बडी अच्छी होती है। खाँसी के तीव्र होने और दौरे के देर तक ठहरने से रोग के फैलने की सम्भावना रहती है और रोगी निर्बल होजाता है तथा उसकी भावी दशा बिगडने लगती है। ऐसी खाँसी से कठ, टेटुआ, श्वासनल और फुप्फुस तन्तु प्रकुप्त हो जाते हैं और उनमें क्षय फैलने की अधिक सम्भावना रहती है। जिन रोगियो के फेफडे मे रोग पृष्ठस्थ होता है उसमे खाँसी के वेग से वायुवक्ष (Pneumothorax) होने का डर रहता है। कुथी और बुलफीनर का कहना है कि सबसे अधिक असाध्य रोगी वे होते हैं जिनको दिनरात खाँसी आती है। उनसे कम असाध्य वे होते हैं जिनको केवल दिन मे खाँसी आती है और सबसे अधिक साध्य वे होते हैं जिनको केवल प्रातःकाल खाँसी आती है।

खाँसी से कुछ अंश तक साध्यासाध्य विचार सम्बन्धी अन्य सूचनाएँ भी मिलती हैं। जब रोगी की व्यापक अथवा स्थानिक दशा में उन्नति होती है तो खाँसी कम हो जाती है या मिट जाती है और खाँसी का फिर से बढना फेफडे में क्षयी प्रक्रिया का फैलना अथवा श्वासनल, कठ, नासिका इत्यादि मे किसी उपद्रव का होना सूचित करता है।

कभी कभी खाँसी का यकायक बन्द होजाना राजयक्ष्मा के किसी भारी उपद्रव विशेषकर मस्तिष्कावरण या उदरकला के प्रदाह का सूचक होता है। स्वरयत्र में भारी व्रण होने से भी कभी-कभी ऐसा हो जाता है। इस दशा मे खाँसी तो कम हो जाती है, परन्तु फेफडे मे विकार बना रहता है और भोजन के अभाव से शक्ति-नाश होकर रोगी का अन्त निकट होने लगता है।

स्वर-भग—क्षय-रोग मे किसी न किसी अवस्था मे अधिकाश रोगियों का गला बैठ जाता है और कॉसे के फूटे हुए वर्तन का-सा स्वर होजाता है। इस दशा को स्वर-भेद या स्वर-भग कहते हैं।

कुछ रोगियो मे फेफडो की भॉति स्वरयन्त्र में भी क्षय-रोग होजाता है। स्वरयन्त्र का क्षय राजयक्ष्मा का एक प्रधान उपद्रव होता है और बहुधा रोग की सम्वृद्धावस्था मे होता है। स्वरयत्र के क्षय के अतिरिक्त अन्य अनेक कारण भी होते हैं जिनसे क्षय रोगी की आवाज बैठ जाती है।

फेफडों से जो कफ स्वरयन्त्र मे होकर बाहर निकलता है उसकी उत्तेजना से स्वरयन्त्र की झिल्ली का प्रकोप होकर स्वर-भंग होजाता है स्वरयन्त्र की प्रत्यावर्तक वात नाडी (Recurrent laryngeal nerve) पर क्षय से बढी हुई लसिका-ग्रन्थियो का दबाव पडने से स्वर-भग होजाता है। इसके अतिरिक्त तीव्र आवेशो के कारण स्वरयन्त्र मे रक्तावष्टम्भ (Congestion) होने से, ऋतु के परिवर्तन मे और अधिक बोलने मे क्षय रोगी का स्वर-भग होजाता है।

स्वररज्जुओं पर गाढा कफ चिपक जाने से भी अल्पकालिक स्वर-भग होजाता है। खाँसने से जब यह कफ स्वररज्जुओं पर से हट जाता है तो स्वरपुन ठीक होजाता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि क्षय रोगी में स्वर भग का कारण केवल स्वर-भग का क्षय ही नहा होता, अपितु अन्य अनेक कारण भी होते हैं।

कफ—कफ क्षय-रोग का एक प्रमुख लक्षण होता है। परन्तु प्रत्येक क्षय रोगी के सदा कफ नही निकलता। प्राय यह देखा गया है कि अधिकाश क्षय रोगियो को प्रारम्भिक अवस्था मे केवल सूखी खाँसी आती है। कई सप्ताह या मास के बाद कफ निकलना आरम्भ होता हे। बच्चों के भी कफ नही निकलता, क्योंकि वे प्राय कफ को निगल जाते हैं। कितनी ही स्त्रियाँ और कुछ पुरुष भी ऐसा ही करते हैं। रोग की सम्वृद्ध अवस्था मे भी जब रोगी अत्यन्त जीर्ण होने के कारण थूकने मे असमर्थ होता है, कफ

अधिक होते हुए भी बाहर नही निकलता। अतएव यह स्पष्ट है कि कफ के अभाव से क्षय का अभाव नहीं समझा जा सकता। रोग के बढने पर कफ अधिक आने लगता है, परन्तु ऐसे रोगी भी देखने मे आते है जिनमे रोग व्यापक होने पर भी कफ बहुत कम निकलता है। यह इस बात का द्योतक है कि फेफडे मे यक्ष्म बन गये हैं, परन्तु अभी तक पककर श्वासनलो मे फूटे नही है।

कफ का स्थूलरूप—प्रारम्भिक क्षय के कफ के रूप मे कोई विशिष्टता नही होती। प्रारम्भ मे प्राय कफ बहुत कम निकलता है। कभी कभी बिलकुल नहीं निकलता। डाक्टर कुथी का कहना है कि उनको क्षय-रोग की प्रथमावस्था मे ४९ प्रतिशत, द्वितीय अवस्था मे १५.४ प्रतिशत और तृतीय अवस्था मे १० प्रतिशत रोगियो मे कफ का अभाव मिला था।

प्रारम्भिक क्षय मे साधारणत जो कफ निकलता है वह स्वच्छ श्लेष्म प्राय झागयुक्त और इतना हल्का होता है कि पानी मे डालने से तैरने लगता है। इस कफ मे और साधारण जुकाम और खाँसी के कफ मे कोई अन्तर नहीं होता।

जैसे जैसे रोग बढता जाता है, कफ गाढा होता जाता है। कुछ दिनो तक तो कफ स्वच्छ रहता है, परन्तु उसके बाद पीला होने लगता है जिससे विदित होता है कि यह पीवरूप होने लगा। पीलापन क्रमश बढता जाता है। अन्त मे कफ पीव के सदृश बिलकुल पीला होजाता है, जिससे पता चलता है कि फेफडे मे गलाव आरम्भ होगया है और फुफ्फुस तन्तु गलगलकर निकल रहा है। कफ का पीवरूप होना उसके पीला या पीलापन लिये हुये हरा होने से सूचित होता है। रोग की अत्यन्त सम्वृद्धावस्था मे कफ मलिन या मलिन-हरा होजाता है और उसकी गोलियाँ-सी निकलती हैं जो तरल श्लेष्म या थूक मे अलग-अलग तैरती रहती हैं। परन्तु जब कफ भारी होता है तो थूकदान के तले मे बैठ जाता है और उसके मुद्राकार पिंड बन जाते हैं जो एक दूसरे से अलग रहते हैं। प्राचीनकाल के वैद्यों ने इसप्रकार के कफ को मुद्राकार कफ का नाम दिया था और इसको वे रध्रनिर्माण का निश्चयात्मक चिह्न मानते थे। कभी कभी कफ मे सफेद किलाटीय पदार्थ आता है जो टूटे हुये यक्ष्मो का अश होता है और कफ मे बिखरा हुआ होता है।

क्षय रोग में कफ साधारणतः गंधरहित होता है। परन्तु कभी कभी उसमें गंध आने लगती है, विशेषकर उस समय जब कि मादक औषधियों के प्रयोग से अथवा रोगी के निर्बल होने के कारण कफ वक्ष के अन्दर बहुत देर तक रुका रहता है। अति दुर्गन्धवाला कफ क्षय-रोग में बहुत विरल होता है। जब क्षय रोगी के कफ में बहुत दुर्गन्धि आने लगे तो फेफड़े में उपद्रव रूप, गलाव, विद्रधि इत्यादि विकार की तलाश करनी चाहिये। प्रारम्भ में क्षय रोगी का कफ कुछ नमकीन होता है, परन्तु बाद को उसमें कुछ जी बिगाड़नेवाला मिठास होजाता है

फेफड़ों के क्षयी रंध्रों से निकला हुआ कफ यदि किसी पात्र में कुछ देर तक रख दिया जाय तो उसके तीन स्तर बन जाते हैं। सबसे ऊपर का स्तर फैनिल होता है, दूसरे अर्थात् मध्य स्तर में श्लेष्म तरल और सबसे नीचे के स्तर में गाढ़ा कफ बैठ जाता है। क्षय-रोग के अतिरिक्त श्वासनलों के अन्य पुरातन रोगों में भी इसप्रकार का कफ मिलता है।

कुछ सम्वृद्ध पुरातन क्षय रोगियों में भी कफ बहुत कम या बिलकुल नहीं निकलता। ऐसा सूत्रोल्वण या वायुध्मानयुक्त क्षय में विशेषत होता है, यद्यपि इनमें भी समय समय पर अधिक कफ निकलता है।

जब क्षयी व्रण पुरने लगते हैं और रंध्र शुष्क होने लगते हैं, तो कफ कम आने लगता है। यदि ज्वर और खाँसी कम हो कफ की कमी एक शुभ लक्षण समझा जाता है। दूसरी ओर कफ की अधिकता स्वयं सदा बुरा लक्षण नहीं होती। इससे केवल फेफड़ों में रंध्र और उपद्रवरूपी कास रोग अथवा श्वासनलों का फूलना सूचित होता है। कुछ दिनों के बाद कफ वक्ष में जमा होने लगता है और समय समय पर अधिक परिमाण में बिना प्रयास निकलने लगता है। इस दशा में करवट बदलने का इस पर प्रभाव पड़ने लगता है। रक्त-निष्ठीवन के समय रक्त-स्राव के अनुसार कफ रक्तवर्ण का होजाता है। रक्त-स्राव के बन्द होने के बाद कुछ दिनों तक रक्त के छिछड़े कफ में निकला करते हैं, क्योंकि कुछ रक्त रंध्रों और श्वासप्रणालियों में जम जाता है और वह धीरे धीरे निकला करता है। कभी कफ केवल कुछ ललाई लिये होता है। अन्तिम अवस्था में प्रायः कफ पानी-सा पतला और मटमैले रंग का होजाता है, जिसमें वायु के अनेक बुलबुले होते हैं। यह आलूबुखारा के रस के सदृश कफ फुफ्फुस-शोथ का द्योतक होता है।

चावल दाने (Rice bodies)—कभी कभी थूकदान के तले मे छोटे छोटे ज्वार या चावल के सदृश सफेद दाने पाये जाते हैं। इनको चावल दाने कहते हैं। ये दाने फेफडो से गलगलकर निकले हुए किलाटीय पदार्थ के अश होते है। इन दानो मे असख्य क्षय-कीटाणु होते हैं और वे सक्रिय नाशकारक प्रक्रिया के द्योतक होते हैं।

ककड़ी—कभी कभी कफ मे रेत या छोटी छोटी ककडी निकलती है। कभी रेत की मात्रा बहुत होती है और थूकदान के तले मे भूरे रग के बालुका-कण बैठ जाते हैं। कभी कभी रोगी स्वय यह बतलाते हैं कि उनको मुँह मे करकराहट प्रतीत होती है। कोई कोई ककडी बहुत बडी होती है और उसके निकालने मे बडी कठिनाई होती है। श्वासनल और टेटुआ उसकी रगड से छिल भी जाते हैं और तब कफ मे कुछ रक्त भी आने लगता है। रोग की साध्यासाध्यता के विचार मे उनका कोई विशेष महत्व नहीं होता।

कफ की परीक्षा

कफ जमा करने की विधि—जिन रोगियो मे क्षय-रोग का सदेह होता है, उनमे जितनी सूचना अन्य सब परीक्षा-विधियो से मिलती है, उससे कहीं अधिक मूल्यवान् सूचना अकेले कफ की परीक्षा से मिलती है। यह बात कफ की अणुवीक्षण परीक्षा के सम्बन्ध मे विशेषत सत्य होती है।

परीक्षा के लिये कफ का यथोचित रीति से सग्रह करना बडा महत्वपूर्ण होता है, विशेषकर उन रोगियो मे जिनमे कफ कम निकलता है। रोगी को यह जता देना चाहिये कि परीक्षा के लिये नाक या कठ की खँखार या थूक की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि कठ से नीचे के कफ की आवश्यकता होती है। कफ को जमा करने के लिये चौडे मुँह की स्वच्छ शीशी सर्वोत्कृष्ट होती है। उसकी डाट कडी और ठीक लगनी चाहिये। जिन रोगियों मे कफ कम निकलता है, उनमे २४ घटे का कफ जमा करना अच्छा होता है। परन्तु जिनमे कफ अधिक निकलता है उनमे केवल प्रात काल का कफ पर्याप्त होता है। ताजा कफ परीक्षा के लिये सबसे अच्छा होता है, परन्तु रखने रहने मे भी क्षय कीटाणुओं के मिलने मे कोई बाधा नहीं पडती।

इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि जिन रोगियों को यथार्थ में क्षय-रोग होता है उनमें कफ की कई बार परीक्षा करने पर भी क्षय-कीटाणुओं का न मिलना बहुत विरल होता है। कई बार जाँच करने से सक्रिय क्षय के अधिकांश रोगियों के कफ में क्षय-कीटाणु मिल जाते हैं। कफ की दो चार बार ही परीक्षा करना पर्याप्त नहीं होता। किसी किसी रोगी में कफ की बीस बीस बार परीक्षा करने पर क्षय-कीटाणु मिलते हैं। यदि बारबार जाँच करने पर भी कफ में क्षय-कीटाणु न मिले तो इस बात में संदेह है कि रोगी को यथार्थ में क्षय-रोग है और उसको किसी इलाज की आवश्यकता है। स्वास्थ्यशालाओं में बहुत से रोगी ऐसे होते हैं जिनके कफ में क्षय-कीटाणु नहीं होते। उनमें से अनेक को यथार्थ में क्षय-रोग नहीं होता।

दूसरी ओर जिन क्षय-रोगियों के कफ में क्षय-कीटाणु न मिले उनको संक्रामक न समझना भी, अर्थात् यह समझ लेना कि उनसे दूसरों को रोग नहीं लग सकता, भूल है। हाल में लोग इस बात को भी मानने लगे हैं कि क्षय-कीटाणु रोगी से नीरोग मनुष्य तक अकेले कफ के द्वारा ही नहीं पहुँचते, बल्कि अन्य मार्गों से भी पहुँचते हैं। इस बात की विस्तृत आलोचना इस पुस्तक में अन्यत्र की गई है।

कफ की अणुवीक्षण-परीक्षा—सक्रिय क्षय-रोग के प्रारम्भ में प्रायः कफ में क्षय-कीटाणु नहीं होते। जब यक्ष्म पककर श्वासनलिकाओं में फूट जाते हैं, केवल तभी कफ में क्षय-कीटाणु मिल सकते हैं। सामान्यरूप से यह कहा जा सकता है कि तीव्र रोग में कफ में क्षय-कीटाणु अधिक मिलते हैं परन्तु इसमें अनेक अपवाद होते हैं। वस्तुतः उग्र फुफ्फुस प्रदाहरूपी क्षय-रोग में साधारणतः कफ में क्षय-कीटाणु नहीं मिलते। कफ में क्षय-कीटाणु के न मिलने से यह नहीं कहा जा सकता कि रोगी को क्षय-रोग नहीं है। क्योंकि ऐसे अनेक रोगी देखने में आते हैं जिनको निस्सन्देह सक्रिय प्रगतिशील क्षय-रोग होता है और यह उनकी मृत्यु के बाद शवच्छेद परीक्षा से सिद्ध होजाता है, परन्तु जीवनभर उनके कफ में क्षय-कीटाणु नहीं मिलते। जब हम यह देखते हैं कि कफ में कीटाणु होते हैं, फिर भी बड़ी कठिनाई से मिलते हैं तो इसका कारण स्पष्ट समझ में आ जाता है। जब कफ में क्षय-कीटाणुओं की संख्या बहुत कम होती है तो वे नहीं मिलते। कोपर का अनुमान है कि कफ में क्षय-कीटाणु तभी मिलते हैं जब वे एक घन शतांश मीटर कफ में कम से कम एक लाख होते हैं।

क्षय-रोग के प्रारम्भ मे जब परीक्षा के लिये पर्याप्त कफ न मिल सके तो कफ बढाने के लिये पोटाशियम आयोडाइड दी जा सकती है। ५ ग्रेन की मात्रा मे दिन मे तीन बार दो या तीन दिन तक देना चाहिये और तब कफ जमा करना चाहिये।

परीक्षा-विधियाँ—कफ की परीक्षा की उत्तम और साधारण विधि जील नील्सन की है जिसका वर्णन दूसरे परिच्छेद मे किया जा चुका है।

इस विधि से अधिकाश रोगियो के कफ मे क्षय-कीटाणुओ का पता लग जाता है। परन्तु कभी कभी जब परीक्षा के लिये उपलब्ध कफ की मात्रा कम होती है या उसमे क्षय-कीटाणुओ की सख्या कम होती है अथवा परीक्षा के लिये कफ का जो अश लिया जाता है उसमे क्षय-कीटाणु नही होते तो इस विधि से उनका पता नही लगता। इन कमियों को पूरा करने के लिये कुछ नई परीक्षा-विधियाँ निकाली गई है जिनसे कफ पतला होजाता है और क्षय-कीटाणुओ के अतिरिक्त कफ के अन्य सब पदार्थ गल जाते हैं। जब तरल कफ को एक यत्र मे डालकर उसको घुमाते है तो क्षय-कीटाणु तले मे बैठ जाते हैं। फिर तलछट को लेकर उसकी अणुवीक्षण यत्र से या कृत्रिम माध्यमो मे उगाकर अथवा पशुओ मे पिचकारी लगाकर परीक्षा की जाती है। इस काम के लिये एन्टीफार्मिन विधि सबसे अधिक सरल और सर्वोत्तम है।

एन्टीफार्मिन विधि—इस विधि मे कफ मे एन्टीफार्मिन नाम का एक रासायनिक खारा पदार्थ मिलाया जाता है। कफ मे इसको मिलाने पर वाष्प निकलने लगता है और बाल, वसा, मोम, काष्ठोज और क्षय-कीटाणुओ को छोडकर कफ के अन्य सब ऐन्द्रिक पदार्थ और कीटाणु गलकर नष्ट होजाते हैं। इनके गलने पर एक सम भाव का पीला-सा तरल बन जाता है और उसके तले मे छिछडेदार तलछट बैठ जाती है। इस मौलिक विधि के अनेक सशोधनो मे से बोर्डमैन का सशोधन सबसे अच्छा है। यह परीक्षा इसप्रकार की जाती है—

(१) २४ घटे के एकत्रित सब कफ को और यदि कफ बहुत हो तो केवल १५ या २० घनशताश मीटर लेकर एक शकाकार काँच के पात्र में रखना चाहिये।

(२) यदि कफ गाढा हो तो उसमे उतना ही शुद्ध स्रावित जल मिला देना चाहिये। कम गाढ़े कफ मे कम पानी मिलाने की आवश्यकता होती है।

(३) पानी मिले हुए कफ में उसका चौथाई भाग एन्टीफार्मिन मिलाना चाहिये।

(४) फिर उसको शीशे की छडी से खूब चलाना चाहिये ताकि श्लेष्म की फुटके टूटकर शीघ्र हल हो जायँ।

(५) जब तक सब घोल समभाव न हो जाय तब तक रुकना चाहिये। घोल पानी के सदृश पतला और रग मे पीला होना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो अधिक पानी या अधिक एन्टीफार्मिन मिलाकर कुछ देर तक और ठहरना चाहिये। कफ के भली प्रकार घुलने मे आध घटा से एक घटा तक लगता है, परन्तु अधिक देर तक ठहरने से क्षय-कीटाणुओ को कोई हानि नही पहुँचती।

(६) अब उस घोल मे उसी के बराबर ९५% मद्यसार मिलाना चाहिये। इससे घोल का गुरुत्व कम होजाता है और तलछट अच्छी और शीघ्र बैठती है।

(७) दोनो को हिलाकर मिला देना चाहिये। जब मिल जायँ तो तरल को ठहर जाने के लिये अलग रख देना चाहिये ताकि तलछट नीचे बैठ जाय। इसमें ३ या ४ घटे लगते हैं, परन्तु १२ से २४ घटे तक ठहरना अच्छा होता है।

(८) ऊपर के स्वच्छ तरल को धीरे से उतराकर फेक देना चाहिये।

(९) तलछट को लेकर और उसको एक काँच की पट्टी (स्लाइड) पर मलकर जाला सा बनाकर साधारण विधि से रँगना चाहिये।

इस विधि के ऐसे भी अनेक सशोधन होगये हैं जिनमे इतना समय नही लगता।

साध्यासाध्य विचार मे कफ की अणुवीक्षण-परीक्षा से ज्ञात बातो का मूल्य—अनेक रोगियों और चिकित्सको मे कफ मे क्षय-कीटाणुओं की सख्या का पता लगाने का बडा चाव होता है, क्योंकि वे समझते हैं कि इससे रोग की साध्यासाध्यता का पता लगता है। परन्तु

यह उनकी भूल है। अनेक रोगी ऐसे होते हैं, जिनके कफ मे बहुत कम क्षय-कीटाणु होते हैं, फिर भी रोग बड़ा उग्र और प्रगतिशील होता है। दूसरी ओर ऐसे रोगी भी होते हैं जिनके कफ मे क्षय-कीटाणु बहुत होते हैं, परन्तु रोग पुरातन और उसकी गति मंद होती है और अन्त मे वे अच्छे होजाते हैं। यह बात विशेष करके वृद्धों के क्षय-रोग मे पाई जाती है। उनके कफ में असंख्य क्षय-कीटाणु निकला करते हैं, फिर भी वे वर्षों तक अपेक्षाकृत आराम से जीवित रहते हैं। सभवत ऐसे रोगियों के फेफड़े मे व्रणयुक्त छोटा रध्र होता है जिसमे कीटाणुओं की वृद्धि होती रहती है, परन्तु उसके चारोंओर सौत्रिक-कोप बन जाने से रोग फैल नहीं सकता।

कफ में क्षय कीटाणुओं की संख्या लगातार घटती-बढती रहती है और किसी अश तक यह बात कफ के उस भाग पर भी निर्भर होती है जो परीक्षा के लिये ले लिया जाता है। परन्तु यदि कई सप्ताह तक लगातार कफ मे क्षय-कीटाणु न मिले और साथ ही रोगी की दशा मे उन्नति देख पडे तो इसको शुभ लक्षण समझना चाहिये। परन्तु अनेक पुरातन क्षय रोगियो मे, विशेषकर सूत्रोल्वण के रोगियों मे, कफ मे क्षय-कीटाणु नही मिलते अथवा बहुत कम मिलते हैं। आधुनिक एन्टीफार्मिन परीक्षा-विधियो के प्रयोग से ऐसे रोगियो की संख्या बहुत कम हो गई है जिनमे सक्रिय रोग होता है, पर कफ में क्षय-कीटाणु नही मिलते। क्षय-कीटाणुओं के अतिरिक्त अन्य जातियो के कीटाणु भी प्राय क्षय रोगियों के कफ मे पाये जाते हैं। साधारणत रोग की गति और लक्षणों पर इनका कोई प्रभाव नही होता। परन्तु इन निष्क्रिय मिश्रित सक्रमणों के विपरीत कभी कभी सक्रिय मिश्रित सक्रमण भी पाये जाते हैं जिनमे अन्य जातियो के कीटाणु उपद्रवो के कारण होते है। इनकी आलोचना अन्यत्र की जायगी।

रोग की जॉच के लिये कफ की वेधन-परीक्षा—जिस रोगी मे यह निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक हो कि उसको सक्रिय क्षय-रोग है या नहीं और अणुवीक्षण-परीक्षा से उसके कफ में क्षय-कीटाणु न मिलें तो उसके कफ का एक अश लेकर और किसी क्षयग्रहणशील पशु में उसकी पिचकारी लगाकर इस बात का निश्चय किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रयोगशाला के विभिन्न पशुओं की रोग

ग्रहणशीलता मे बड़ा अन्तर होता है । चूहा अपेक्षाकृत अग्रहणशील हो है। खरगोश मनुष्य क्षय कीटाणुओं के प्रति अग्रहणशील होता है, पर पशु क्षय-कीटाणुओं से उसमे तुरन्त रोग होजाता है । अतएव खरगोश त्वचा मे पिचकारी लगाने मे मनुष्य क्षय और पशु क्षय-कीटाणुओं की परस्प पहचान की जा सकती है । गिनीपिग पशु पर दोनो प्रकार के कीटाणु का असर होता है, और साधारणत वेधन-परीक्षा के लिये इसी पशु प्रयोग किया जाता है ।

यदि उस पदार्थ मे जिसकी गिनीपिग पशु मे पिचकारी लगाना अन्य जातियो के कीटाणु बहुत मिले हों तो उसमे पहले एन्टीफार्मिन मिला दे अच्छा होता है । एन्टीफार्मिन के मिलाने से अन्य जातियो के कीटाणु म जाते हैं, परन्तु एन्टीफार्मिन का असर बहुत नही होना चाहिये, नहीं तो क्ष कीटाणुओं की रोगोत्पादक शक्ति मारी जाती है । कफ को शुद्ध कीटाणु (Sterlized) नमक के घोल मे मिलाकर उसकी जरा सा प्रदेश मे त्व के नीचे पिचकारी लगाई जाती है ।

५ घन शताश मीटर से कम की पिचकारी लगानी चाहिये । एक सा दो पशुओं मे पिचकारी लगाना अधिक अच्छा होता है। उदर कला मे पिचका लगाने से सूचना अधिक शीघ्र मिलती है, परन्तु क्षय-रोग के व्यक्त होने पूर्व ही अन्य जातियो के कीटाणुओं से सक्रमण होकर पशु की मृत्यु हो जा की सभावना रहती है । यदि कफ में क्षय-कीटाणु होते हैं तो ४ से ६ सप्त बाद शवच्छेद करने पर उदर कला मे और उदर कला के पृष्ठस्थ लसिक ग्रथियों, प्लीहा तथा यकृति मे क्षयी विकार मिलते हैं । त्वचा के नीचे पिचका लगाने के बाद, यदि कफ मे क्षय कीटाणु होते हैं तो पिचकारी के स्था पर किलाटीय व्रण बन जाता है । प्रादेशिक लसिका ग्रथियों, प्लीहा औ यकृति मे क्षयी विकार होजाते हैं। विकारो की स्थूल आकृति देखक ही सतोष नहीं कर लेना चाहिये, बल्कि उनके वर्क काटकर और उनक विशेष विधियो मे रँगकर अणुवीक्षण यंत्र मे देखना चाहिये कि उन क्षय-कीटाणु हैं या नहीं । क्षयी विकारो म क्षय कीटाणु पर्याप्त सख्या होते हैं । पिचकारी के १० से १४ दिन बाद फूली हुई लसिका ग्रथियों निकालकर और उनकी अणुवीक्षण यत्र मे परीक्षा करने मे [illegible] का पता लग सकता है ।

बारहवाँ परिच्छेद



ज्वर और रात्रि-स्वेद

ज्वर सक्रिय क्षय-रोग का प्रथम और प्रमुख लक्षण होता है। मलेरिया (शीत ज्वर), निमोनिया (फुफुस प्रदाह) और मोतीझरा की भाँति क्षय-रोग मे ज्वर का कोई विशिष्ट और लाक्षणिक रूप नही होता। यथार्थ मे इसकी बहुरूपता ही ध्यान देने योग्य होती है। फिर भी रोग निर्णय और साध्या-साध्य विचार मे इसका महत्व बहुत होता है। उपलब्ध साक्षी से विदित होता है कि ज्वर क्षय-कीटाणुओ मे उत्पन्न विषो के शरीर मे व्याप्त होने से उत्पन्न होता है। मानव शरीर और क्षय-कीटाणुओ के बीच जीवन सग्राम मे जो जटिल जीवो-रासायनिक (Biochemical) प्रक्रियाएँ होती है उनसे शरीर मे उष्णता उत्पन्न होती है, जो ज्वर के रूप मे प्रकट होती है। क्षय-कीटाणुओ से और नष्टभ्रष्ट तन्तुओं से जो विषैले पदार्थ उत्पन्न होते है उनके प्रतिकार के लिये शरीर की रक्षकशक्ति उत्तेजित होजाती है और फलत ताप नियन्त्रक केन्द्र उत्तेजित होजाता है। अतएव ज्वर कीटाणु और शरीर के सग्राम का सूचक होता है। क्षय-रोग म ज्वर का महत्व ठीक ठीक समझने के लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि ज्वर-रोग का कारण नहीं होता प्रत्युत उसकी सक्रियता का परिणाम होता है।

जिन रोगियों म रोग सक्रिय होता है उन सब म ज्वर होता है, आगे चलकर, विशेषकर सत्रोत्व्रण क्षय मे ज्वर प्राय थोडे थोडे समय के लिये शान्त होजाता है। परन्तु जब जब रोग का पुनरुद्दीपन होता है अथवा जब रोग मे वृद्धि होती है तो ज्वर होजाता है। रोग की प्रगति को जानने के लिये इस बात को ध्यान मे रखना आवश्यक है।

थर्मामीटर (तापमापक यन्त्र)—बहुत से क्षय रोगियो के ज्वर रहित देख पडने का कारण ज्वर नापने की विधि म त्रुटि, विशेषकर दोषयुक्त ताप मापक यत्र होता है।

उपक्रान्त क्षय मे केवल ज्वर की हरारत होती है। इसलिये ज्वर नापने मे एक डिगरी (अश) ताप की भी ऊँच नीच होने से बडा अन्तर होजाता है। इससे स्पष्ट है कि ज्वर देखने के लिये विश्वासपूर्ण और बिलकुल ठीक थर्मामिटर होना चाहिये। फिर भी सब लोगो ने देखा होगा कि एक ही रोगी का दो ऐसे थर्मामीटरो से, जिनकी सचाई के प्रमाणपत्र होते हैं, ताप देखने पर बहुधा एक या दो डिगरी तक का अन्तर मिलता है। इस सम्बन्ध मे एक प्रयोग उल्लेखनीय है। दो दर्जन थर्मामीटरो को एक साथ गरम पानी मे डाल कर उनकी परीक्षा की गई थी। जब उनका ताप देखा गया तो भिन्न भिन्न यन्त्रो मे ९८° २ फ० से लेकर १०१ ६ फ० तक का ताप मिला। बहुत से बढिया थर्मामीटर भी जिनकी सचाई के प्रमाणपत्र होते हैं, कोई ज्यादा अच्छे नही होते। डा० ब्र की रिपोर्ट है कि ८३ प्रमाणपत्र वाले थर्मामीटरो की जॉच करने पर उनको १७ में ३° से ६° तक का अन्तर मिला। आज-कल बाजार मे बहुत से सस्ते थर्मामीटर बिकते हैं जिनका कोई विश्वास नहीं होता। ऐसे थर्मामीटरो के लगाने पर ज्वर का मिलना या न मिलना थर्मामीटर के ऊपर निर्भर होता है, न कि रोगी की दशा पर। अस्तु, यह स्पष्ट है कि जब हरारत हो या हरारत की शका हो, तो निर्णय करने के लिये ठीक और विश्वासपूर्ण थर्मामीटर होना चाहिये। अन्यथा रोग की पहचान करने मे भारी भूल होने की सभावना होती है।

ज्वर देखने की विधि—अच्छा थर्मामीटर लेकर बडी सावधानी से रोगी का ज्वर देखना चाहिये। साधारणत लोग बगल में थर्मामीटर लगाकर ताप देखते हैं, परन्तु बगल का ताप विश्वासयोग्य नहीं होता, क्योंकि यह मुखताप से एक डिगरी और गुदाताप से दो या तीन डिगरी कम होता है। इसलिये जब रोगी को हरारत का सन्देह हो तो बगल के ताप पर भरोसा नही करना चाहिये।

प्राय लोग मुँह मे थर्मामीटर लगाकर ज्वर देखते हैं, परन्तु यह भी बहुत सन्तोषजनक नहीं होता, क्योंकि बाहर की वायु के ताप का उस पर प्रभाव पडता है, विशेषकर उन लोगो मे जो नाक मे रुकावट होने से मुँह से साँस लेते हैं। यन्त्र का वह भाग जो होठों से बाहर रहता है और कभी कभी भीतर का भाग भी, बाहरी हवा मे ठडा होजाता है। थर्मामीटर को कम से कम ७ मिनट तक मुँह मे रखना चाहिये। कभी कभी एक मिनट

वाले थर्मामीटरों का पारा भी कम से कम १० मिनट मे पूरा चढ पाता है। दूसरी ओर जिन लोगो मे मुखपाक (मुँहा) होता है, उनका मुखताप रक्त-ताप से अधिक हो सकता है। भोजन के बाद, गरम या ठडा पानी अथवा दूध पीने के बाद और मुँह धोने के उपरान्त, मुँह का ताप नहीं लेना चाहिये। अनेक रोगी थर्मामीटर को जीभ के नीचे ठीक नही रख सकते और न मुँह बन्द करके मुँह से साँस लेना रोक सकते हैं। ऐसे रोगियो के मुँह का ताप लेना सन्तोपजनक नहीं होता।

सबसे अधिक ठीक ताप गुदा का होता है। अब सब लोग मानने लगे कि क्षय की उपक्रान्त अवस्था मे अथवा जब क्षय का सन्देह हो तो ज्वर का निश्चय करने के लिये गुदा का ताप देखना चाहिये। गुदा का ताप मुखताप से आधी या एक डिगरी अधिक होता है। गुदा मे भी थर्मामीटर को, चाहे वह आधे मिनटवाला हो या एक मिनटवाला, कम से कम पाँच मिनट तक लगाना चाहिये। इस विधि मे यदि कोई कमी है तो यही कि बहुत से रोगी गुदा मे थर्मामीटर लगाना पसन्द नही करते। परन्तु यह उनकी भूल है। हरारत का सन्देह होने पर गुदा का ताप अवश्य देखना चाहिये।

ज्वर दिन में कितनी बार देखना चाहिये—कुछ चिकित्सकों मे यह आदत होती है कि जिस समय रोगी उनके पास आता है उसी समय उसका शारीरिक ताप देखते हैं। जो कुछ ताप उस समय उनको मिलता है उसी को वे रोगी के शरीर का ताप मान लेते है। परन्तु यह उनकी बडी भूल है। क्षय-रोग के प्रारम्भ मे अथवा जब रोग का सन्देह हो, तो दिन मे केवल तीन बार (सुबह, दोपहर और शाम) ताप देखना पर्याप्त नही है और उससे धोखा होने की सम्भावना रहती है, क्योकि रात को और मध्याह्नोपरान्त जो हरारत होजाती है और जो केवल थोडी देर रहती है, उसका पता नहीं चल सकता। इसलिये उपक्रान्त क्षय मे हर दूसरे घंटे रोगी का ताप देखना चाहिये।

समझदार रोगी स्वयम् अपना ताप परिमाण देख सकते हैं। यदि वह ठीक ठीक थर्मामीटर लगाना और देखना न जानते हो तो थोडी देर मे सीख सकते हैं। समझदार रोगियों को अपना ताप देखने मे कोई कठिनाई नहीं होती।

प्रकृतिस्थ (आरोग्य) ताप—बाल्यावस्था मे शारीरिक ताप परिमाण स्थिर नही होता। आरोग्य दशा मे भी यह इतना चचल होता कि बच्चो का कोई औसत तापमान नियत नहीं किया जा सकता स्वास्थ्य मे तनिक भी विकार होने पर बच्चों में वयस्को की अपेक्ष ताप-परिमाण कहीं अधिक बढ जाता है। बहुत-से चिकित्सक बच्चो मे १००° फ० के ताप को, यदि उनमे रोग के अन्य लक्षण विद्यमान न हों अस्वस्थ नही समझते। परन्तु जैसे जैसे आयु बढती जाती है, शारीरिक ताप भी स्थिर होता जाता है और प्रौढावस्था पहुँचने पर वह चचल नहीं रहता, केवल रोग से ही घटता-बढता है। मुँह मे ९८ ४° फ० और गुदा मे इससे आधी डिगरी अधिक ताप-परिमाण प्रकृतिस्थ ताप-परिमाण समझा जाता है। परन्तु इसमें भी स्वस्थ व्यक्तियो मे दैनिक परिवर्तन होते रहते हैं। प्रात काल चारपाई से उठने से पूर्व ताप-परिमाण लगभग आधी या एक डिगरी कम अर्थात् ९७½° या ९८° फ० होता है। परन्तु उठने के थोडी देर बाद ९८° या ९८ ५° होजाता है और फिर दिन भर यही बना रहता है।

कुछ लोगा का प्रकृतिस्थ ताप औसत आरोग्य ताप से कम होता है। इन लोगों मे औसत आरोग्य ताप को ज्वर की हरारत समझनी चाहिए। ऐसा कभी कभी उन क्षय-रोगियों मे पाया जाता है जिनका प्रकृतिस्थ ताप कम होता है। इनमे ९९° फ० का ताप होते ही ज्वर के लक्षण व्यक्त होने लगते हैं।

स्वस्थ व्यक्तियों के ताप मे परिवर्तन—परिश्रम करने से शरीर का ताप कुछ बढ जाता है। दूर तक टहलने से या अधिक परिश्रम करने से शरीर का ताप २° फ० तक बढते देखा गया है। गरम चीजों के खाने या पीने के बाद लगभग सदैव कई घटे तक शरीर का ताप बढ जाता है। ताप की वृद्धि खाने के १½ घटे बाद सबसे अधिक होती है, परन्तु १° से अधिक बढती विरल होती है। स्त्रियो मे शारीरिक ताप मासिक धर्म के समय या उससे कुछ पूर्व एक या दो डिगरी बढ जाता है। परिश्रम से शारीरिक ताप में जो वृद्धि होती है, वह स्वस्थ व्यक्तियो मे बहुत थोडी देर रहती है। आधे घटे मे एक घटे के अन्दर वह फिर कम होकर अपनी असली अवस्था को पहुँच जाती है।

मनुष्य की चित्तवृत्ति का भी शारीरिक ताप पर प्रभाव पडता है। चित्तोद्वेग से, विशेषकर स्त्रियों मे, शारीरिक ताप एक या दो डिगरी बढ जाता

है। जब क्षय रोग की आशंका होती है तो ताप-परिमाण देखते समय घबराहट से ताप कुछ बढ़ जाता है। इसलिए चचल स्वभाववाली स्त्रियो मे केवल ताप-मान से प्रारम्भिक क्षय का निश्चय करने मे बडी सावधानी की आवश्यकता होती है। हाल मे इस विषय का अनुशीलन करते समय डा० विन को पता लगा है कि स्वस्थ व्यक्तियो मे मानसिक प्रभावों से शरीर का ताप बढ जाता है। उन्होंने दो बार बहुत-से लोगो की जाँच करके देखा है कि घबराहट, सशय और चिन्ता की दशाओ मे, जैसे विद्यार्थियो मे परीक्षा के समय और सेना के लिये निर्वाचित व्यक्तियो मे उनके शरीर की परीक्षा के समय, अधिकाश लोगो के शरीर का ताप बढ जाता है। चिता और समस्या जितनी अधिक गम्भीर होती है, ताप उतना ही अधिक बढता है। पशुओं मे भी यह देखा गया है कि घबराहट से शारीरिक ताप बढ जाता है। डा० मोर ने पता लगाया है कि चीरफाड के लिये खरगोश को जब तख्ते से बाँध दिया जाता है तो घबराहट से उसके शरीर का ताप बढ जाता है।

कुछ लोगो मे, जो रात को काम करते हैं और दिन को सोते हैं, ताप का दैनिक क्रम उल्टा हो जाता है, अर्थात् उनका ताप प्रात काल अधिक और सायकाल कम हो जाता है।

जब उपक्रान्त क्षय-रोग का सन्देह हो तो निर्णय करने के लिए, चलने-फिरनेवाले या काम करनेवाले व्यक्तियो मे ९८.४° मुखताप तथा ९९° गुदाताप को आरोग्य ताप मानना निरापद होता है। प्रात काल उठने से पूर्व ताप इससे आधी या एक डिगरी कम और शाम को अथवा परिश्रम के बाद आधी डिगरी अधिक हो सकता है। परन्तु यदि इससे अधिक अन्तर मिले तो उसका कारण तलाश करना चाहिये और यदि अन्य कारण न मिले तो क्षय-रोग की सम्भावना समझनी चाहिये।

प्रारम्भिक क्षय में ज्वर— यदि उपरोक्त बातो को ध्यान मे रखकर शरीर का ताप देखा जाय तो पता लगेगा कि हरारत या ज्वर सक्रिय क्षय रोग के विकास का रोग की उपक्रान्त अवस्था में भी विशिष्ट लक्षण होता है और ज्वर का अभाव सक्रिय रोग के न होने का द्योतक होता है। जो क्षय रोगी देखने मे ज्वररहित प्रतीत होते हैं उनमें से अनेक मे ज्वर न मिलने का कारण प्राय ज्वर नापने की विधि मे त्रुटि होती है। रोगी को दोपहर के बाद घटे दो घटे के लिये किसी समय थोडी-सी हरारत हो जाती है। यदि उस समय ज्वर न देखा जाय और केवल सुबह शाम देखा जाय

जैसा कि साधारणत. किया जाता है, तो हरारत का पता नही चल सकता। क्षय रोगियो का ताप बडा चचल होता है। चित्तोद्वेग अथवा थोडे से परिश्रम से तत्काल बढ जाता है। इसी प्रकार स्वस्थ मनुष्यो का ताप भी चचल होता है परन्तु दोनो में अन्तर इतना होता है कि जिस परिश्रम से स्वस्थ मनुष्यो मे ताप बढता है, उसको छोडने के बाद आध या अधिक से अधिक एक घटे मे ताप कम होजाता है, परन्तु उतने ही परिश्रम से क्षय रोगी में जो ताप बढता है वह इतना शीघ्र कम नहीं होता।

प्रात काल स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा क्षय रोगी के ताप मे कभी कभी अधिक कमी होजाती है। जहाँ स्वस्थ मनुष्य का प्रात काल का ताप ९७° या ९७ ४° फ० होता है, वहाँ क्षय रोगी का ताप केवल ९६ ६° या ९७° फ० होता है। क्षय-रोग मे केवल ताप की अधिकता ही नहीं देखनी चाहिये, परन्तु यह भी देखना चाहिये कि दिन मे कम से कम और अधिक से अधिक ताप कितना होता है। स्वस्थ मनुष्यों मे इन दोनो तापो मे केवल एक डिगरी का अन्तर होता है, परन्तु क्षयी व्यक्तियो में दो या इससे अधिक डिगरी का अतर होता है।

ज्वर के लक्षण—अन्य प्रकार की हरारतो से क्षय रोग की हरारत की पहचान सहगामी लक्षणो से भी की जा सकती है और ये लक्षण अधिकाश प्रारम्भिक क्षय-रोगियों मे पाये जाते हैं। अन्य सब हरारतो मे नाडी की गति हरारत के अनुसार तेज होती है, परन्तु क्षय रोग की हरारत में नाडी की गति अपेक्षाकृत कहीं अधिक तेज होती है। अनेक क्षयरोगियो को हरारत आने से पूर्व कुछ ठड लगती है, उनका चेहरा पीला होजाता है और हाथ पैर कुछ ठडे होजाते हैं। ज्वर आने पर चेहरा तमक उठता है, नेत्रों मे एक विशेष चमक आ जाती है, जिसको अनुभवी चिकित्सक पहचान सकते हैं, और रोगी को गरमी प्रतीत होने लगती है। इसके अतिरिक्त हाथ-पैर और नेत्रो मे जलन और शिर मे कुछ पीडा होने लगती है। आलस्य बढ जाता है और काम करने को जी नहीं चाहता। इस सम्बन्ध मे एक बात स्मरण रखने योग्य यह है कि इन सब लक्षणो के होते हुए भी शाम को रोगी की भूख कम नहीं होती। भोजन में अरुचि प्रारम्भिक क्षय को छोडकर अन्य सब रोगों के ज्वर में पाई जाती है। ज्वर के प्रति क्षय रोगी की सहिष्णुता इस बात से प्रकट होती है कि वह स्वस्थ लोगो की भाँति दिनभर काम करता है और रात को भलीप्रकार सोता है, केवल ज्वर के समय उसको कुछ आलस्य होजाता है। कुछ रोगियो को रात में

पसीना आता है जो कभी कभी इतना अधिक होता है कि रोगी बिल्कुल तर होजाता है।

अप्रत्यक्ष ज्वर—उपरोक्त लक्षण न्यूनाधिक मात्रा में सब क्षय-रोगियों मे पाये जाते हैं। प्रारम्भिक क्षय मे भी विरले ही उनका अभाव होता है। अन्य कारणों से उत्पन्न हरारतों से क्षय-रोग की हरारत की पहचान करने मे ये लक्षण बड़े सहायक और पथ-प्रदर्शक होते हैं। वस्तुत, तीसरे पहर का आलस्य क्षय रोगियो की विष-व्याप्ति का इतना विशिष्ट लक्षण होता है कि वह प्राय. उन सम्प्राप्त रोगियो में भी मिलता है, जिनमे ज्वर नही होता। ऐसे रोगियो के ज्वर को, जिनका ताप-परिमाण नही बढता, परन्तु जिनमे हरारत के लक्षण होते हैं, अप्रत्यक्ष ज्वर कहते हैं। अप्रत्यक्ष ज्वर क्षय रोग के प्रारम्भ मे भी कुछ रोगियो मे देखने मे आता है। यही कारण है कि क्षय-रोगियो के इलाज मे अकेले थर्मामीटर पर ही अधिक भरोसा नही करना चाहिये। कभी कभी अप्रत्यक्ष ज्वर का उलटा भी देखने मे आता है, अर्थात् रोगी का ताप बढ जाता है, पर विष-व्याप्ति के अन्य लक्षण नही होते। ऐसे रोगियो का भविष्य बहुत अच्छा होता है।

प्रकुपित ज्वर—क्षय-रोग मे ताप-केन्द्र बडी आसानी से उत्तेजित होजाता है। फलत क्षय रोगी का ताप चचल और अस्थिर होता है। जिन बातो का साधारण नीरोग लोगो के ताप पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता, उनसे क्षय रोगी का ताप आसानी से बढ जाता है। भोजन, परिश्रम, चिन्ता, क्षोभ, शोक और सन्ताप से क्षय रोगियों का ज्वर दो-तीन डिगरी तक बढ जाता है। परीक्षा करते समय बहुत से क्षय रोगियो का ताप बढ जाता है। स्थान-परिवर्तन और रेल-यात्रा से भी रोगी का ताप बढ जाता है।

जिन रोगियो में क्षय-रोग के प्रारम्भ का सन्देह हो, उनमे रोग का निर्णय करने मे इस प्रकुपित ज्वर का उपयोग किया जा सकता है। जब किसी रोगी में क्षय-रोग के अनिश्चित लक्षण और चिह्न मिलें तो परिश्रम करने से पहले और बाद को उसका ताप देखना चाहिये। और यदि परिश्रम से उसका ताप एक डिगरी या अधिक बढ जाय तो उपक्रान्त क्षय की बहुत बडी सम्भावना समझनी चाहिये। साधारणत। रोगी को दो मील चलाकर

देखते हैं कि क्या प्रभाव होता है। यदि चलने के बाद रोगी का ताप एक डिगरी या इससे अधिक बढ़ जाय तो उसमें क्षय-रोग की ओर संकेत होता है। डरेगवर्ग का तो मत है कि यह परीक्षा निश्चयात्मक होती है। यदि साथ अन्य लक्षण भी हों तो यह बड़ी मूल्यवान होती है। नीरोग मनुष्यों में भी परिश्रम से शारीरिक ताप कुछ बढ जाता है, परन्तु परिश्रम छोड़ने पर आध घटे में कम होजाता है। इसके प्रतिकूल क्षय रोगी का बढा हुआ ताप दो घंटे से भी अधिक देर तक बना रहता है।

मासिक ज्वर—क्षयी स्त्रियों में ऋतुकाल में ज्वर अधिक होजाता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि कुछ क्षयरहित स्त्रियों में भी ऋतुकाल या उससे पूर्व शारीरिक ताप कुछ बढ जाता है। परन्तु क्षय रोगियों में केवल ताप ही नहीं बढता, बल्कि उसके साथ कभी कभी रोग-स्थान पर कणों (Rales) की संख्या भी बढ जाती है और रक्त निष्ठीवन तथा पार्श्व-शूल भी होने लगता है। डा० मैश का कहना है कि जिन रोगियों में साधारणत हरारत नहीं होती, उनमें ऋतुकाल में हरारत उत्पन्न होजाती है और जिनमें पहले से कुछ हरारत होती है, उनमें बढ जाती है। हरारत की यह वृद्धि प्रारम्भिक और सम्प्राप्त दोनों प्रकार के रोगियों में होती है। प्रारम्भिक रोग में रोग का निर्णय करने में यह वृद्धि बहुत महत्वपूर्ण होती है। यदि किसी स्त्री में बार-बार ऋतुकाल में हरारत होजाती हो और उसके जननेन्द्रियों में कोई रोग न मिले तो क्षय-रोग का सन्देह करना चाहिये।

अधिकांश रोगियों में रजस्राव होने पर ज्वर कम होजाता है। ऋतु-कालिक ज्वर कुछ घंटों से लेकर कई दिनों तक रहता है। सैबोरिन ने पता लगाया है कि कुछ स्त्रियों में मासिक ज्वर तीन सप्ताह तक रहता है और आगामी मासिक धर्म से केवल एक सप्ताह पहले बन्द होता है। यह ज्वर बड़ा भयंकर होता है। सैबोरिन के कथनानुसार अपने मासिक धर्मो से ही रोगी की मृत्यु होजाती है।

बहुत से विशेषज्ञों का मत है कि मासिक धर्म से पूर्व की हरारत गुप्त या सक्रिय क्षय की द्योतक होती है। इसलिये जिन स्त्रियों में क्षय-रोग का सदेह हो उनमें इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। यह हरारत मासिक धर्म के प्रारम्भ से कुछ दिन पहले से होती है और ऋतुकाल भर रहती है। इस बात पर विचार करते हुये कि क्षयी स्त्रियों में ४०-५० प्रतिशत में

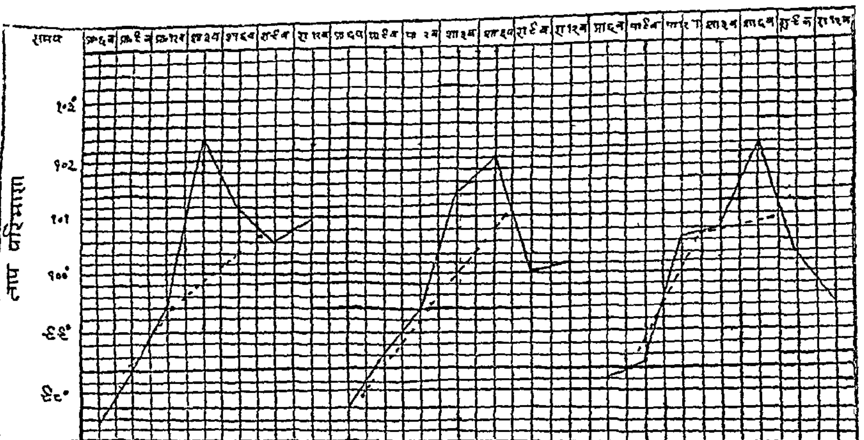
ऋतुकालिक या पूर्व-ऋतुकालिक ज्वर होता है और नीरोग स्त्रियों में बहुत कम होता है, इन लेखकों का मत है कि रोग का निर्णय करने में यह एक बड़ा महत्वपूर्ण लक्षण होता है। यदि ऋतुकालिक ज्वर न हो तो सक्रिय रोग नहीं समझना चाहिये।

मैश के मतानुसार ऋतुकालिक ज्वर का तेज होना बुरा होता है। दूसरी ओर इसका न होना या कम होना रोग की निवृत्ति या शमन का चिह्न होता है।

क्षय-रोग में ज्वर के मूल्य का निर्धारण—साधारण पुरातन क्षय-रोग की उपक्रान्त अवस्था में केवल थोड़ी सी हरारत होती है। यदि लगातार सप्ताह दो सप्ताह तक हर दो घंटे पर थर्मामीटर लगाकर न देखी जाय तो उसका पता नहीं चलता। तीसरे पहर रोगी को जो सुस्ती मालूम होती है, उसको लोग स्नायविक दुर्बलता और भोजन की अरुचि को मन्दाग्नि समझ लेते हैं। फलत रोग के वास्तविक कारण की ओर ध्यान न जाने से उसका पता नहीं लगता। चित्र न० ४९ के देखने से यह विदित होगा कि रोगी का ज्वर यदि केवल सुबह आठ बजे, दोपहर को बारह बजे, और शाम को आठ बजे देखा जाय, जैसा कि साधारणत. किया जाता है, तो तीन बजे से छ बजे तक उसको जो हरारत होती है, उसका पता नही चलेगा और फलत उसको ज्वररहित समझ लिया जायगा। कभी कभी रात को हरारत होती है, इसलिये उसका पता नही चलता। कभी कभी ज्वर का क्रम उलटा होता है, अर्थात् ज्वर शाम के बजाय सवेरे होता है। यह अच्छा लक्षण नही समझा जाता।

एक-दो दिन के लिये हरारत का होजाना सक्रिय क्षय-रोग का प्रमाण नही होता, क्योंकि अन्य कारणों से भी एक-दो दिन के लिये हरारत हो सकती है। इसके अतिरिक्त उपक्रान्त क्षय-रोग मे भी कभी कभी कई दिन तक हरारत नही रहती। इसलिये जब क्षय-रोग का सन्देह हो, तो निर्णय करने से पूर्व दो-तीन सप्ताह तक लगातार ताप देखना चाहिये और उसका एक रेखाचित्र बना लेना चाहिये। ऐसा रेखाचित्र क्षय-रोग की पहचान की एक बडी अच्छी कसौटी होता है।

तीसरे पहर की हरारत, जो प्रारम्भिक क्षय का विशिष्ट लक्षण होती है, केवल क्षय-रोग में ही नही पाई जाती, अन्य अनेक दशाओं मे भी ऐसी ही क्षय रोग की सी हरारत सप्ताहों तक रहती है। इसलिये जब तक फेफड़े के



चित्र नं० ४९—उपक्रान्त क्षय-रोग, हर तीसरे घंटे शरीर का ताप (काली रेखा) देखने से विदित होता है कि रोगी को मध्याह्नोपरान्त काल में १०२° फ० से भी अधिक ज्वर होजाता है। यदि रोगी का ताप केवल सुबह, दोपहर और शाम को ही देखा जाता तो इसका पता न लगता, जैसा कि चिरत रेखा से सूचित होता है।

विकार के अन्य लक्षण और चिह्न न मिले तब तक केवल हरारत से ही क्षय-रोग का निश्चय नहीं कर लेना चाहिये। तीसरे पहर की ऐसी हरारते, जिनका कारण क्षय-रोग नहीं होता, प्रधानत स्त्रियो मे पाई जाती हैं। रक्त की कमी, नाक की श्लेष्मकला का पुरातन प्रदाह, दाँतो की जड से पीव का निकलना, कठ के पुरातन विकार, कान का बहना, श्वास-नलो का फूलना, घृनक, स्त्रियों की जननेन्द्रियो और यकृति के विकार और उपदश इत्यादि अनेक कारणों से हरारत हो सकती है।

ज्वर की दशा मे अधिकांश रोगियो का वजन कम होने लगता है, परन्तु सदैव ऐसा नहीं होना। ऐसे अनेक रोगी देखने मे आते हैं जिनका वजन ज्वर की दशा म भी बढता है। बहुत से चिकित्सक रोगी की दशा का निर्णय करने में उनके ज्वर की अपेक्षा वजन पर अधिक ध्यान देते हैं। यह उनकी भूल है। ऐसे क्षय रोगी होते हैं—और वे विशेषकर उनमे से होते हैं जिनमे ज्वर का वेग रात मे होता है—जिनका वजन तो स्थायी या बढता रहता है, पर फेफडो मे रोग बढता रहता है। दूसरे शब्दो मे न अकेले ज्वर को और न अकेले वजन को ही रोग की साध्यासाध्यता की कसौटी माननी चाहिये, बल्कि सब रोग-लक्षणो और रोग-चिह्नो पर एक साथ विचार करके रोगी की दशा का निर्णय करना चाहिये।

दूसरी ओर ज्वर का अभाव अधिकाश रोगियो मे अच्छा लक्षण होता है, परन्तु यह सदैव रोग के हलकेपन का निश्चयात्मक प्रमाण नहीं होता, विशेषकर जब कि सक्रिय रोग के अन्य लक्षण विद्यमान हो। ऐसे अनेक रोगी देखने मे आते हैं जिनका ज्वर १०१° फ० से ऊपर कभी नहीं जाता, फिर भी अरुचि, कृशता, खाँसी, रक्त-निष्ठीवन इत्यादि लक्षणो से उनकी मृत्यु होजाती है। ऐसा विशेपकर उन रोगियो मे होता है जो कुछ वर्ष तक चलते हैं। उनमे रोग के प्रति कुछ सहिष्णुता आ जाती है।

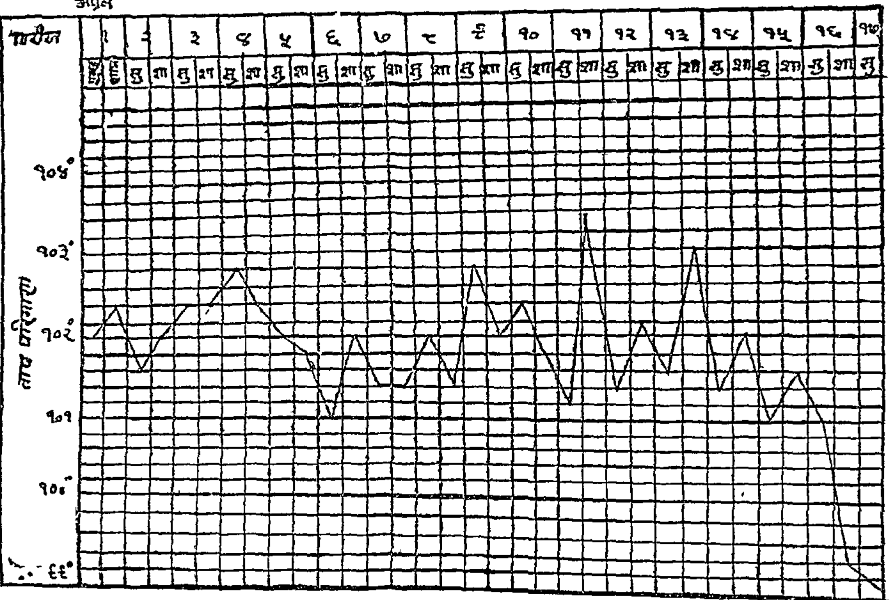
क्षय-रोग मे ज्वर के विविध रूप—प्रगतिशील और सम्वृद्ध क्षय-रोग में ज्वर का कोई विशेष क्रम, जैसा मलेरिया इत्यादि कई रोगों में होता है, नहीं होता। भिन्न भिन्न रोगियो मे और एक ही रोगी मे भिन्न भिन्न समयों पर रोग की तेजी, पूयजनक कीटाणुओं के मिश्रित सक्रमण, फुप्फुस-तन्तु के गलाव, गले हुये तन्तुओं के बाहर निकलने की सुविधा और क्षय-कीटाणुओं का रक्त में सचार इत्यादि के अनुसार विभिन्न प्रकार का ज्वर होता

है। बहुधा एक ही रोगी मे विभिन्न समयों पर ज्वर के विविध रूप देखने मे आते हैं, जो एक दूसरे मे यकायक या शनै शनै परिणत होजाते हैं। अतएव किसी भी ज्वर को क्षय का लाक्षणिक ज्वर नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी कुछ तापक्रम ऐसे मिलते हैं जो रोगी की दशा, उपद्रव और साध्यासाध्यता का पता लगाने मे पथ-प्रदर्शक का काम करते हैं।

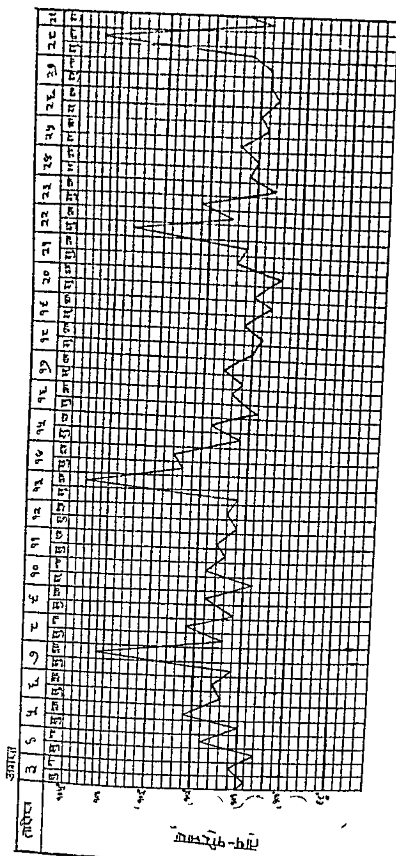
दोपहर के बाद ज्वर का आना—क्षय-रोग मे साधारणत दोपहर के बाद ज्वर होता है और इसकी न्यूनाधिकता रोग की तेजी पर निर्भर होती है। जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रारम्भिक क्षय मे केवल थोडी सी हरारत होती है, परन्तु जैसे जैसे रोग मे वृद्धि होती है, ज्वर भी अधिक होता जाता है।

अविरत ज्वर—अविरत ज्वर विशेष रूप से विस्तृत स्रावक या श्वास-नल फुफ्फुसप्रदाहरूपी रोग मे, उग्र फुफ्फुसप्रदाहरूपी क्षय रोग मे, बच्चो के श्वास-नल-फुफ्फुसप्रदाहरूपी क्षय मे और उग्र सर्वाङ्गिक बजरीले क्षय रोग मे होता है। पुरातन क्षय-रोग मे, जब रोगी की दशा सुधर रही हो, यदि रक्त-निष्ठीवन के बाद या बिना किसी ज्ञात कारण के ज्वर अविरत हो जाय, तो समझना चाहिये कि फेफडे मे रोग बढ गया है और यदि यह अविरत ज्वर तीन या चार सप्ताह से अधिक रहे, तो रोगी का भविष्य शोचनीय और उसकी मृत्यु सन्निकट समझनी चाहिये (चित्र न० ५०)। सम्भव है कि ऐसे रोगियों में से कुछ की दशा थोडी बहुत सुधर जाय, परन्तु वे अच्छे नही हो सकते। श्वास-कष्ट, श्यामता और शक्तिपात के साथ अविरत ज्वर बजरीले या उग्र प्रहाररूपी क्षय का, जो कि पुरातन क्षय की बहुधा अन्तिम घटना होती है, द्योतक होता है।

तरंगित ज्वर—पुरातन राजयक्ष्मा के अनेक रोगियो मे ज्वर तरंगित होता है। रोगी ज्वर से मुक्त तो कभी नही होता, परन्तु सप्ताह मे दो या तीन दिन ज्वर १०२.५° या १०३° फ० तक पहुँच जाता है और शेष ४ या ५ दिन १००° या १०१° फ० रहता है। इस प्रकार की ज्वर की तरंगें समय समय पर महीनो तक आती रहती हैं (चित्र न० ५१)। इसप्रकार का ज्वर उन रोगियो मे पाया जाता है जिनमे पुराने रोग-केन्द्रों में गलाव होने लगता है अथवा रोग फैलने लगता है। ज्वर का प्रत्येक चढाव नये भाग का रोगाक्रान्त होना सूचित करता है और अनेक रोगियो मे इसका पता वक्ष की परीक्षा से चल सकता है।



चित्र नं० ५०—क्षय रोग की अंतिम अवस्था में अविरत ज्वर



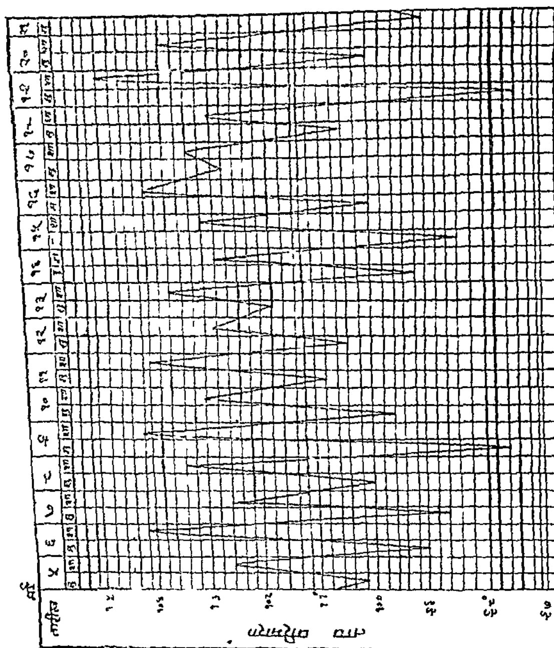
चित्र न २१—तरंगित ज्वर

विषम ताप—(Hectic fever) प्रगतिशील रोग में उपरोक्त प्रकार के ज्वरों के अन्त में विषम ताप होजाता है (चित्र न० ५२)। जिन रोगियो के फेफडो में गलाव होजाता है और गला हुआ तन्तु धीरे धीरे छँटकर रंध्र बनते जाते हैं, उनमे ताप के रेखाचित्र के देखने से इसका पता लग जाता है। प्रात काल ज्वर बहुत कम होजाता है और प्राय आरोग्यताप में भी कम होजाता है। दोपहर के बाद कुछ सर्दी लगती है या बडे जोर की जूडी आती है जिसमे दाँत कटकटाने लगते हैं। नाडो, जो ज्वर-रहित काल मे कमजोर और शीघ्रगामी होती है, और भी अधिक तेज होजाती है, शरीर का ताप बढने लगता है और १०३° या १०४° डिगरी तक पहुँच जाता है। ऐसे रोगियों मे रात्रि स्वेद बहुत होता है, जिससे रोगी शिथिल होजाता है।

इन विषम रोगियो मे ज्वर की सब से अधिक तेज़ी का समय भिन्न-भिन्न होता है। बहुधा तीसरे पहर ज्वर सब से अधिक होता है, पर कभी-कभी दोपहर को ही अधिक होता है और शाम तक उतर जाता है। ऐसे रोगियों मे ज्वर यदि केवल सवेरे और शाम को देखा जाय, तो इसका पता नही लग सकता, क्योकि दोपहर का ज्वर छूट जाता है।

इस प्रकार का विषम ज्वर कई सप्ताहो एव महीनो तक रहता है। इस काल मे ज्वर से और उसके सहगामी अरुचि और अतिसार के कारण, रोगी का शरीर क्षीण होकर केवल अस्थि-कंकाल शेष रह जाता है। गीले और मटीले चमडे से ढके हुये अस्थि पञ्जर, पैरो पर सूजन, नख और होठो पर नीलापन, बैठी हुई आँखे तथा पिचके हुये गालो से रोगी की दयनीय दशा को देखकर चिकित्सक भी निरुत्साहित होजाता है। जब ऐसे धीरे-धीरे डूबते हुये और जीवन के लिये प्रयास करते हुये रोगी सहायता के लिये आशाभरी आँखो से चिकित्सक की ओर देखते हैं तो अपनी असमर्थता के कारण उसका भी जी बैठ जाता है। परन्तु इन रोगियो मे एक बात ध्यान देने योग्य यह होती है कि शरीर इतना क्षीण होने पर भी मेधा-शक्ति ठीक बनी रहती है और रोगी निराश नही होते। खाँसी, अतिसार इत्यादि किसी सामान्य लक्षण के निवारण के लिये प्रार्थना करते हैं और कहते हैं कि यदि उनके इस लक्षण का निवारण हो जाय तो उनकी तबीयत बहुत अच्छी हो जाय।

अन्तिम अवस्था मे कभी-कभी ज्वर अनियमित रूप का होजाता



चित्र न० २२—समृद्ध क्षय रोग म विषम ताप।

है। एक दिन का ज्वर दूसरे दिन के ज्वर से भिन्न होता है। सौगमैन का कहना है कि अनियमित ज्वर यदि रोग की प्रारम्भिक अवस्था मे मिले तो यह आँतों के क्षय का अच्छा चिह्न होता है।

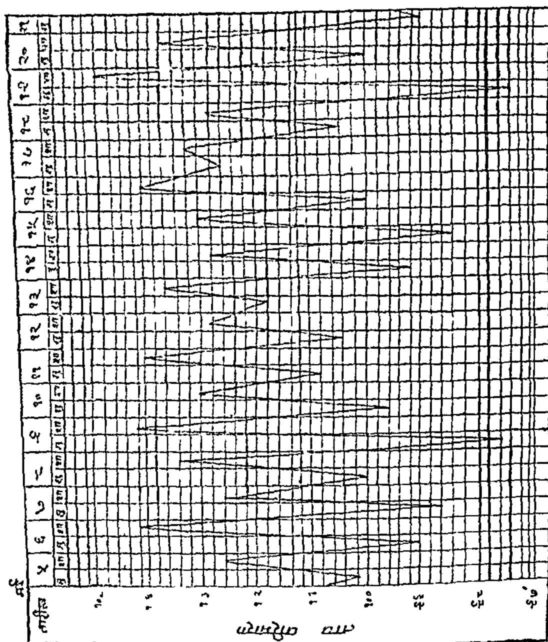
निम्नारोग्य ताप (Subnormal Temperature)—अनेक क्षय-रोगियो मे प्रात काल जो निम्नारोग्य ताप होता है, उसका वर्णन किया जा चुका है। परन्तु रोग की समृद्ध अवस्था मे भी बहुत से रोगी ऐसे मिलते हैं

विपम ताप—(Hectic fever) प्रगतिशील रोग मे उपरोक्त प्रकार के ज्वरो के अन्त मे विपम ताप होजाता है (चित्र न० ५२)। जिन रोगियो के फेफडो मे गलाव होजाता है और गला हुआ तन्तु धीरे-धीरे छँटकर रध्र बनते जाते हैं, उनमे ताप के रेखाचित्र के देखने से इसका पता लग जाता है। प्रात काल ज्वर बहुत कम होजाता है और प्राय आरोग्यताप से भी कम होजाता है। दोपहर के बाद कुछ सर्दी लगती है या बडे जोर की जूडी आती है जिसमे दॉत कटकटाने लगते हैं। नाडी, जो ज्वर-रहित काल मे कमजोर और शीघ्रगामी होती है, और भी अधिक तेज होजाती है, शरीर का ताप बढने लगता है और १०३° या १०४° डिगरी तक पहुँच जाता है। ऐसे रोगियों मे रात्रि स्वेद बहुत होता है, जिससे रोगी शिथिल होजाता है।

इन विपम रोगियों में ज्वर की सब से अधिक तेजी का समय भिन्न-भिन्न होता है। बहुधा तीसरे पहर ज्वर सब से अधिक होता है, पर कभी-कभी दोपहर को ही अधिक होता है और शाम तक उतर जाता है। ऐसे रोगियो मे ज्वर यदि केवल सबेरे और शाम को देखा जाय, तो इसका पता नहीं लग सकता, क्योकि दोपहर का ज्वर छूट जाता है।

इस प्रकार का विपम ज्वर कई सप्ताहों एव महीनो तक रहता है। इस काल मे ज्वर से और उसके सहगामी अरुचि और अतिसार के कारण, रोगी का शरीर क्षीण होकर केवल अस्थि-ककाल शेप रह जाता है। गीले और मटीले चमडे से ढके हुये अस्थि-पञ्जर, पैरों पर सूजन, नख और होंठो पर नीलापन, बैठी हुई ऑखे तथा पिचके हुये गालो से रोगी की दयनीय दशा को देखकर चिकित्सक भी निरुत्साहित होजाता है। जब ऐसे धीरे-धीरे डूबते हुये और जीवन के लिये प्रयास करते हुये रोगी सहायता के लिये आशाभरी आँखों से चिकित्सक की ओर देखते हैं तो अपनी असमर्थता के कारण उसका भी जी बैठ जाता है। परन्तु इन रोगियो मे एक बात ध्यान देने योग्य यह होती है कि शरीर इतना क्षीण होने पर भी मेधा-शक्ति ठीक बनी रहती है और रोगी निराश नहीं होते। खॉसी, अतिसार इत्यादि किसी सामान्य लक्षण के निवारण के लिये प्रार्थना करते हैं और कहते हैं कि यदि उनके इस लक्षण का निवारण हो जाय तो उनकी तबीअत बहुत अच्छी हो जाय।

अन्तिम अवस्था मे कभी-कभी ज्वर अनियमित रूप का होजाता



चित्र न० ४२—सम्वृद्धि क्षय रोग मे विषम ताप।

है। एक दिन का ज्वर दूसरे दिन के ज्वर से भिन्न होता है। सौगमैन का कहना है कि अनियमित ज्वर यदि रोग की प्रारम्भिक अवस्था में मिले तो यह आँतों के क्षय का अच्छा चिह्न होता है।

निम्नारोग्य ताप (Subnormal Temperature)—अनेक क्षय-रोगियो मे प्रात काल जो निम्नारोग्य ताप होता है, उसका वर्णन किया जा चुका है। परन्तु रोग की सम्वृद्ध अवस्था मे भी बहुत से रोगी ऐसे मिलते हैं

जिनके शरीर का ताप महीनो तक दिन रात प्रकृतिस्थ ताप से कम रहता है, ९८.५° फ० से अधिक कभी नही होता। प्रातःकाल वहुधा ९६° या ९७° होजाता है। रोग सक्रिय और प्रगतिशील होने पर भी तापमापक यन्त्र से उसको कोई सूचना नही मिलती। यह साधारणतः फेफडो मे रक्तनिर्माण का द्योतक होता है।

सक्रिय सूत्रोल्वण क्षय के अनेक रोगियों मे शरीर का ताप प्रकृतिस्थ ताप से कम रहता है। वायुध्मान के अनेक रोगियो मे भी, जब क्षय-रोग होता है तो ज्वर नही होता। ये दोनों प्रकार के क्षय पुरातन होते हैं और उनकी गति वडी मन्द होती है। रोगी वर्षों तक जीवित रहते हैं, परन्तु विलकुल अच्छे नहीं होते।

ज्वरवाले रोगी मे ज्वर का यकायक कम होजाना और उसके साथ श्वास-कष्ट और श्यामता का होना अरिष्ट का चिह्न होता है। यह स्वाभाविक वायुवक्ष (Spontaneous Pneumothorax) का होना, रोग का एकदम वहुत फैलना, अथवा उपद्रव रूप उग्र वजरीले क्षय का होना सूचित करता है। उपरोक्त तीनो वातो मे से चाहे कोई भी हो, रोगी की दशा वडी गभीर समझनी चाहिये।

अनेक दुर्वल क्षय रोगियो मे मृत्यु से कुछ दिन पूर्व शारीरिक ताप निम्नारोग्य होजाता है।

ज्वरविहीन क्षय—पुरातन क्षय के अनेक रोगियो मे महीनो तक ज्वर नहीं रहता, यद्यपि फेफडो मे क्षयी प्रक्रिया जारी रहती है। सूत्रोल्वण क्षय, वार्द्धक्य क्षय और पार्श्वकला के क्षय में ऐसा पाया जाता है। ऐसे रोगी १५ या २० वर्ष तक जीवित वने रहते हैं और थोडा वहुत काम भी कर सकते है। ये रोगी क्षय-कीटाणुओं के वितरण के वड महत्वपूर्ण साधन होते हैं। ऐसे रोगी प्रधानतः या तो अच्छी आर्थिक दशावाले होते हैं जो वेकार वैठे रह सकते हैं अथवा निर्धन होते हैं जो क्षय-रोग के अस्पतालो मे वर्षों तक पडे रहते हैं। मध्य श्रेणी मे भी इसप्रकार के रोगी मिलते हैं और वे ऐसे होते हैं जो अपनी देखभाल कर सकते हैं और नियमपूर्वक रहना जानते है। कुछ व्यवसायी होते हैं जो ऐसे व्यवसाय करते रहते हैं जिनमे वहुत परिश्रम नही करना पडता। यह वात ध्यान देने योग्य है कि उनमे से अधिकाश रोगी दुवले-पतले होते हैं, परन्तु कुछ ऐसे होते हैं जो वस्तुतः मोटे होते हैं। कुछ

को तो स्थूलकाय भी कहा जा सकता है। फेफड़े मे सूत्र-निर्माण और हृदय मे वसा-वृद्धि होने के कारण उनको साधारणत. श्वास-कष्ट होता रहता है।

भिन्न-भिन्न क्षय रोगियो की प्रतिकार शक्ति मे बड़ा अन्तर होता है। यद्यपि साधारणत ज्वर रोग की तेजी का द्योतक होता है, परन्तु कुछ रोगियो की प्रतिकार-शक्ति इतनी कम होती है कि रोग के तेज होने पर भी ज्वर बहुत कम होता है या होता ही नहीं। इससे स्पष्ट है कि ज्वर का अभाव या कमी हमेशा रोग की कमी की सूचक नही होती। इसलिये ज्वर के साथ रोग-प्रगति के अन्य लक्षणों का भी ध्यान रखना चाहिये।

कभी-कभी वृद्ध क्षय रोगियो मे ज्वर नहीं होता और चूँकि उनमे खाँसी भी बहुत कम आती है इसलिये रोग का कभी-कभी पता नही चलता।

उपद्रवों के कारण ज्वर—क्षय-रोग मे ज्वर की गति सदा एक सी नही रहती। ज्वर घटता बढ़ता रहता है। जब जब रोग मे वृद्धि होती है, ज्वर बढ़ जाता है और जैसे-जैसे रोग अच्छा होने लगता है, ज्वर भी घटने लगता है। इसके अतिरिक्त बीच बीच मे उपद्रव उत्पन्न होने से भी ज्वर बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए क्षय-रोगी को शीतज्वर होने पर ज्वर यकायक बढ़ जाता है। कब्ज या मन्दाग्नि, कंठ पाक, इन्फ्लुएञ्जा अथवा पार्श्वकला के प्रदाह से ज्वर अधिक होजाता है। सावधानी से परीक्षा करने से ज्वर के बढ़ने के कारण का पता लग जाता है।

कभी-कभी कुछ औषधियों, विशेषकर शमनकारी और निद्रा लानेवाली औषधियों के देने से भी क्षय रोगी का ज्वर अधिक होजाता है। कितने ही बार देखा गया है कि अफीम या इसका कोई योगिक देने पर अथवा कोई नींद लानेवाली औषधि देने पर दूसरे दिन ज्वर कुछ अधिक होजाता है। परन्तु ऐसा ज्वर बहुधा एक दिन रहता है। औषधियों की पिचकारी लगाने पर प्राय ज्वर कुछ बढ़ जाता है।

रोग-निर्णय और साध्यासाध्य विचार में ज्वर का मूल्य—इस प्रकरण में जिन बातों की विवेचना की गई है उसके परिणामों के सारांश के रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि किसी व्यक्ति को तीसरे पहर कई सप्ताह तक ज्वर की हरारत होता रहे और उसका कोई अन्य कारण न मिले, तो क्षय-रोग की सम्भावना समझनी चाहिए। यदि मामूली परिश्रम करने से हरारत उत्पन्न होजाय अथवा बढ़ जाय और आराम करने पर घट एक घंटे के अन्दर

शान्त न हो, तो रोगी को क्षय-रोग हुआ समझना चाहिये। यदि हरारत के साथ रात्रि-स्वेद, आलस्य, वजन का घटना, खाँसी और कृशता इत्यादि अन्य लक्षण भी हो तो क्षय-रोग का निश्चय समझना चाहिये, चाहे परीक्षा करने पर फेफडो मे क्षय-रोग का कोई चिह्न भले ही न मिले। यदि प्रात काल का ताप-औसत आरोग्यताप से कम हो तो रोग का निश्चय और भी दृढ होजाता है।

ताप और नाडी की चचलता हरएक क्षय रोगी मे पाई जाती है, परन्तु यह क्षय-रोग का लाक्षणिक चिह्न नही होती, क्योंकि परिश्रम से हर व्यक्ति मे, जिसमे कही भी और किसी भी प्रकार का सक्रमण होता है, शारीरिक ताप वढ जाता है। पिंगल नाडी-मडल और प्रणालीविहीन ग्रन्थियो मे विकार होने से भी ताप और नाडी चञ्चल होजाती है। चुल्लिका ग्रन्थि की तेजी मे ऐसा विशेष करके होता है। इस रोग मे क्षय-रोग के से तीव्रगामी नाडी, कृशता, खाँसी, स्वेद, थकावट इत्यादि लक्षण भी होते हैं। इसलिये इन दोनो रोगो की परस्पर पहचान करना कभी-कभी वडा कठिन होता है।

क्षय रोग मे दिन भर तेज ज्वर का रहना और कभी न उतरना तथा दोपहर के वाद और भी वढ जाना फेफड़े के रोग की बढती हुई तेजी का द्योतक होता है। जव प्रात काल ज्वर उतर जाय और दिन मे न आवे, केवल शाम को १००° फ० या १०१° फ० तक होजाय तो रोग की प्रगति मन्द या रुकी हुई समझनी चाहिये। तेज अविरत ज्वर १०३° फ० या इससे अधिक फेफडो मे रोग का विस्तीर्ण होना सूचित करता है। यदि इस प्रकार का ज्वर लगातार एक मास से अधिक रहे तो रोगी की दशा वडी शोचनीय समझना चाहिये। इस हालत मे रोगी की दशा यदि कुछ सुधरने भी लगे तो, भी वह अच्छा नही हो सकता। विषम ताप जो प्रात काल बिल्कुल उतर जाता है और आरोग्य ताप से भी कम हो जाता है तथा दोपहर को या दोपहर के वाद वहुत तेज अर्थात् १०३° या १०४° तक हो जाता है, बुरा लक्षण होता है। रोगी महीनो तक भले ही, जीवित रहे [illegible] अन्त मे अच्छा नही होता।

अधिकाश रोगियो मे ज्वर का अभाव रोगी सुधरना सूचित करता है। परन्तु इस बात मे साध्यासाध्य विचार मे अन्य लक्षणो का भी एक दम कम होजाना बुरा लक्षण होता है।

रात्रि-स्वेद— रात्रि-स्वेद (रात में पसीना आना) हमेशा से क्षय-रोग का एक विशिष्ट लक्षण समझा जाता है और प्रारम्भिक तथा सम्प्राप्त दोनो अवस्थाओं में पाया जाता है। रात्रि स्वेद प्राय आधीरात के बाद दो और चार बजे के बीच मे होता है। रात में बहुधा इतना पसीना आता है कि उससे भीगने के कारण रोगी की आँख खुल जाती है। जब पसीना कम आता है तो केवल मस्तक, गर्दन और सीने पर होता है और कभी कभी शरीर की एक ही ओर होता है।

हर रोगी को रात्रि-स्वेद नहीं आता। कुथी को प्रारम्भिक क्षय मे ३७ प्रतिशत और सम्प्राप्त क्षय में ६१ ५ प्रतिशत रोगियों में रात्रि स्वेद मिला था।

क्षय रोग के विकास मे ज्वर और रात्रि स्वेद साथ साथ चलते हैं। जब रोगी का ज्वर छूट जाता है तो रात में पसीना आना भी बन्द हो जाता है। ज्वर के पुन. आरम्भ होने पर रात्रि-स्वेद भी होने लगता है। रात्रि-स्वेद न या कम होना रोगी की दशा सुधरने का सर्वोत्तम चिह्न होता है। क्षय-रोगियों में पसीना साधारणत अधिक आता है और बडी आसानी से प्रकट हो जाता है। परिश्रम, शोक, चिन्ता और चित्तोद्वेग से क्षय रोगी को तत्काल पसीना आने लगता है। यह देखा गया है कि परीक्षा करते समय बहुत से रोगियो को पसीना आ जाता है।

अधिकाश विशेषज्ञो का कहना है कि क्षय रोगी के पसीने से सक्रमण नही होता, परन्तु पियरी ने अपनी खोज से यह सिद्ध किया है कि पसीने में क्षय-कीटाणु होते हैं और उनसे पशुओं मे रोग उत्पन्न किया जा सकता है। अन्य अन्वेषकों ने अभी तक इस बात का समर्थन नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पियरी ने जो पसीना जमा किया था उसमे सभवत बाद को किसी प्रकार क्षय-कीटाणु मिल गये थे।

शरीर की और ओढने-बिछाने के कपडो की सफाई से रात्रि-स्वेद की रोक हो सकती है, जैसा कि अन्यत्र बताया जायगा।

तेरहवाँ परिच्छेद

रक्त-निष्ठीवन

जनसाधारण रक्त निष्ठीवन (Haemoptysis) अर्थात् कफ के साथ रक्त गिरने को क्षय-रोग का सबसे अधिक विश्वस्त लक्षण समझते हैं। अनेक चिकित्सकों का भी यही मत है। परन्तु अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि अनेक क्षय रोगियो मे, रोग के आदि से अन्त तक—चाहे अन्त मे वे अच्छे हो जायँ अथवा उनकी मृत्यु हो जाय—रक्त निष्ठीवन नही होता। दूसरी ओर क्षय-रोग के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी रक्त-निष्ठीवन हो सकता है। रक्त-निष्ठीवन कितने प्रतिशत क्षय रोगियो मे होता है, इसके सम्बन्ध मे लोगो में कुछ मतभेद है। कुछ लोगो को केवल २५ प्रतिशत और अन्य लोगों को ८० प्रतिशत क्षय रोगियो मे रक्त-निष्ठीवन मिला है। सोकोलवस्की का कहना है कि ऐसे सम्वृद्ध क्षय रोगी बहुत कम पाये जाते हैं जिनके कफ मे कभी रक्त न आया हो। विलियम्स को ७० प्रतिशत रोगियो में सोर्गो को ३८ प्रतिशत रोगियो मे, काँडी को केवल २४ प्रतिशत मे, फ्रक को ४४ प्रतिशत मे और फिलाडेल्फिया नगर के फिप्स आरोग्यशाला मे ४४६६ रोगियो मे से ४९ ९ प्रतिशत मे रक्त-निष्ठीवन मिला था।

प्रतिशत सख्याओं के इन अन्तरों का कारण यह है कि उनके सम्पादकों ने एक से रोगियो के ऑकडों का सकलन नही किया है। किसी ने केवल मृत रोगियो के आँकडे लिए हैं तो किसी ने केवल अपने निजी रोगियों के, और किसी ने अस्पतालो के लेखों से सकलन किया है। अस्पताल के रोगी केवल थोडे समय के लिये ही निरीक्षण मे रहे होंगे इसलिये उनमे बाद को जो रक्त-निष्ठीवन हुआ होगा, वह छूट गया होगा।

ऐण्डर्स को ५३०२ रोगियों की जाँच करने पर ३६ ६ प्रतिशत मे रक्त-निष्ठीवन मिला था, परन्तु उनका कहना है कि सब रोगी रोग के अन्त

तक निरीक्षण में नहीं रहे थे। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि कम से कम आधे क्षय-रोगियों में कभी न कभी रक्त-निष्ठीवन अवश्य होता है।

रक्त-निष्ठीवन का निदान—रक्त-निष्ठीवन का रोग निर्णय और साध्यासाध्य विचार सम्बन्धी मूल्य तभी ठीक ठीक समझ में आ सकता है जब कि इस बात का ज्ञान हो कि फेफड़ों में किन किन विकारों के होजाने से रक्तस्राव होने लगता है। फुप्फुस तन्तु का उग्र प्रदाह, रक्तनाड़ी की दीवार में व्रण और रक्तनाड़ियों में रक्तकोष का बनना क्षय रोग में रक्त-निष्ठीवन के प्रधान कारण होते हैं।

रोग के प्रारम्भ में जो रक्त-निष्ठीवन होता है वह प्रायः फेफड़ों में उग्र प्रदाह होने से होता है। साधारणतः उग्र प्रदाह में फुप्फुस-तन्तु में रक्तावष्टम्भ (Congestion) होजाने से जो रक्तस्राव होता है, वह थोड़ा होता है और उसमें केवल रक्त-मिश्रित श्लेष्म निकलता है। परन्तु कभी कभी स्राव अधिक भी होता है। इसके प्रतिकूल रक्त-मिश्रित कफ आने से यह नहीं समझना चाहिये कि इसका कारण केवल रक्तावष्टम्भ है और विकार अधिक गम्भीर नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण स्रवित रक्त कफ के साथ बाहर नहीं निकलता है। इसका पर्याप्त भाग फेफड़ों और श्वास-प्रणालियों में रह जाता है और वहाँ उसका शोषण होजाता है। इसलिए रक्त-निष्ठीवन जब अधिक न हो, तो उससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि रोग हल्का या विकार अधिक विस्तीर्ण नहीं है।

जब फेफड़े का विकार पककर उसमें गलाव होने लगता है तो फुप्फुस तन्तु के साथ साथ उस स्थान की रक्तनाड़ियाँ भी रोगाक्रान्त होजाती हैं। फेफड़े की इस नाशकारक और व्रणकारक प्रक्रिया को देखकर पहले तो यह आश्चर्य होता है कि रक्तस्राव अधिक क्यों नहीं होता। परन्तु रक्तनाड़ियों में रक्त जमने की प्रबल चेष्टा को देखकर इसका कारण समझ में आ जाता है। पुरातन क्षय-रोग में साधारणतः यक्ष्मों की रचना से रक्तनाड़ी संकीर्ण होजाती है या बिल्कुल रुक जाती है, परन्तु अन्त में जब यक्ष्म पककर गलने लगते हैं तो रक्तनाड़ी की दीवार में व्रण होने से वह कट जाती है और उससे रक्तस्राव होने लगता है जो रक्त के जमने से फिर रुक जाता है। इसके अतिरिक्त रक्त-नाड़ी की दीवार भीतर के रक्त के भार से निर्बल स्थान पर फूल जाती है जिससे रक्तनाड़ी की दीवार में (Aneurysm) रक्तकोष बन जाते हैं जिनको अंग्रेजी में Aneurysm of Rasmussen कहते हैं।

इनका विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है। इन रक्त-कोषों के फटने से रक्तपात होने लगता है।

अधिकाश रोगियो मे रक्त-निष्ठीवन होकर अच्छा होजाता है। इसलिये रक्तस्राव के समय फेफडे के विकारो का केवल अनुमान ही किया जा सकता है। परन्तु जब रक्त-निष्ठीवन से मृत्यु होजाती है तो फुफ्फुस-विकारो के देखने का अवसर मिल जाता है। साधारणत यह देखने मे आता है कि चारो ओर के फुफ्फुस तन्तु के गलकर छूट जाने से जो अनाश्रित खुली हुई रक्तनाडी रह जाती है उससे रक्त निष्ठीवन होता है। चारो ओर के फुफ्फुस तन्तु का आश्रय छूटने से और दीवार मे व्रण होने से नाडी की दीवार निर्बल होकर उसमे रक्त-कोष बन जाते हैं और सचरित रक्त के भार से वह फट जाती है।

जो रोगी अच्छे होते जाते हैं उनकी दशा कभी कभी इन रक्त-कोषो के अनायास फटने से एक दम फिर गिर जाती है और सूखी नदी में बाढ के समान उनमे रक्तपात होने लगता है। यदि वह रध्र, जिसमे रक्त-कोप या क्षत रक्तनाडी फटती है, छोटा होता है तो निकले हुये रक्त से वह भर जाता है और रक्त के जमने से रक्तनाडी का छिद्र रुककर रक्तस्राव बन्द होजाता है। परन्तु जब रध्र बडा होता है या रक्त मे जमने की शक्ति कम होती है तो रक्त बहता रहता है और रक्त की कमी से रोगी की मृत्यु होजाती है। एक क्षय-रोगी की रक्तनाडी फट जाने से रात्रि में अकस्मात् उसकी मृत्यु होगई थी। जब उसके शव की परीक्षा की गई तो उसके एक फेफडे मे रक्त से भरा हुआ एक बहुत बडा रध्र मिला। रक्त साफ करने पर फटा हुआ रक्त-कोप साफ दिखाई देने लगा।

उग्र क्षय मे, जिसमे फुफ्फुस तन्तु का बडी तीव्र गति से नाश होता है, साधारणत रक्तस्राव रक्तनाडी की दीवार मे व्रण होकर फट जाने से होता है। इसका कारण यह है कि उग्र रोग मे रक्तनाडी को सकीर्ण होने के लिये पर्याप्त समय नही मिलता जिससे रक्तस्राव होने पर रक्त के जम जाने से शीघ्र उसका मुँह रुक जाय और अधिक रक्तस्राव, जैसा कि पुरातन रोग मे होता है, न हो सके।

रक्तस्राव का परिणाम—प्रयोग द्वारा यह देखा गया है कि पशु शरीर के आधे रक्त तक का नाश सह लेते हैं। इससे अधिक नाश होने पर

रक्ताभाव के कारण रक्त-भार कम होने से मृत्यु हो जाती है। जब रक्तस्राव अधिक नहीं होता, तो शरीर का रस खिंचकर रक्त-नाडियों मे पहुँचकर रक्त-भार बढा देता है। रक्तस्राव से नाडी निर्बल और शीघ्रगामी हो जाती है और अधिक स्राव से मूर्च्छा हो जाती है।

आद्य रक्त-निष्ठीवन—अनेक क्षय रोगियो मे रोग का सब मे पहला लक्षण रक्त निष्ठीवन होता है। क्षय-रोग के आद्य रक्त-निष्ठीवन सम्बन्धी विचित्र आँकडो मे बडा अन्तर मिलता है, क्योकि अनेक रोगी ऐसे होते हैं जिनमे खाँसी इत्यादि अन्य लक्षण महीनों से होते है, परन्तु उनकी ओर रोगियो का ध्यान तभी जाता है जब रक्त-निष्ठीवन से ध्यान उस ओर आकर्षित होता है। ऐसे रोगियो मे रक्त-निष्ठीवन को आद्य लक्षण समझना ठीक नहीं।

१९३२ क्षय रोगियों की जाँच करने पर रीक को ९ २ प्रतिशत क्षय रोगियो मे रक्त-निष्ठीवन आद्य लक्षण मिला था। उनका कहना है कि जिन रोगियों मे रोग का प्रारम्भ रक्त-निष्ठीवन से होता है, उनमे आगे चलकर भी रक्त-निष्ठीवन के दौरे अधिक होते हैं। सौर्गो को दस वर्ष मे ५८७२ रोगियों की जाँच करने पर १२ ९ प्रतिशत मे आद्य रक्त निष्ठीवन मिला था। कुथी को कुल ५४ ३ प्रतिशत रोगियो मे रक्त निष्ठीवन मिला था, जिनमे से २० ३ प्रतिशत में रक्त-निष्ठीवन रोग के प्रारम्भ मे था। ऐण्डर्स का अनुमान है कि लगभग १० प्रतिशत रोगियों मे क्षय रोग का आरम्भ रक्त-निष्ठीवन से होता है और लगभग ७५ प्रतिशत रोगियो मे रोग की प्रारम्भिक अवस्था मे यह लक्षण पाया जाता है।

क्षय-रोग के प्रारम्भ मे रक्त-निष्ठीवन—क्षय रोग के प्रारम्भ मे रक्त-निष्ठीवन दो प्रकार के रोगियों मे होता है। एक उन रोगियों मे, जो रक्त-निष्ठीवन के पहले बिल्कुल अच्छे प्रतीत होते हैं और जिनको किसी प्रकार की कोई शिकायत नहीं होती। सावधानी से पूछताछ करने पर भी ऐसे रोगियो में रक्त-निष्ठीवन से पहले किसी लक्षण का होना नहीं पाया जाता। काम करते करते, बातचीत करते हुए अथवा रात मे सोकर उठने पर यकायक इनके कण्ठ मे कुछ उष्णता प्रतीत होती है और खाँसी आकर मुँह से रक्त की कुल्ली हो जाती है, अथवा खाँसी का दौरा उठकर रक्त मिश्रित कफ निकलने लगता है। वक्ष स्थल की परीक्षा करने पर और एक्सरे द्वारा परीक्षा

करने पर फेफड़ों में रोग के कोई चिह्न नहीं मिलते। शरीर का ताप पहले से प्रकृतिस्थ होता है और बाद को भी वैसा ही रहता है और क्षुधा ठीक बनी रहती है। हाँ, इतना जरूर होता है कि कुछ घंटों या दिनों तक रक्त की काली काली फुटकें कफ में निकलती रहती हैं। परन्तु इनका आना बन्द हो जाने पर फिर रोगी को कोई शिकायत नहीं रहती।

ऐसे रोगियों में से अनेकों को जीवन भर कोई ऐसा कष्ट नहीं होता जिससे क्षय का सन्देह भी हो सके। इस प्रकार का रक्त-निष्ठीवन असफल क्षय में मिलता है जिसका विस्तृत विवरण आगे चलकर दिया जायगा। कुछ रोगी कई वर्ष पहले ऐसा रक्त-निष्ठीवन होने का हाल बताते हैं।

दूसरे प्रकार के रोगियों में भी रक्तस्राव के पहले रोग के कोई लक्षण नहीं मिलते, परन्तु जब रक्त निष्ठीवन होता है तो कई दिनों तक जारी रहता है और अन्त में उसके बन्द होने पर खाँसी, कफ, शीघ्रगामी नाड़ी, रात्रि-स्वेद इत्यादि क्षय-रोग के लक्षण व्यक्त हो जाते हैं। वक्षस्थल की परीक्षा करने पर एक या दोनों फेफड़ों के शिखर में क्षयी विकार के चिह्न मिलते हैं। कफ की परीक्षा करने पर कभी कभी क्षय-कीटाणु भी मिलते हैं। अधिकांश रोगियों में कुछ महीनों में सब लक्षण शान्त हो जाते हैं। परन्तु समय समय पर इसी प्रकार के अनेक दौरे होते रहते हैं और कालान्तर में पुरातन क्षय स्थापित हो जाता है। दौरों के बीच बीच में रोगी की दशा काफी अच्छी रहती है और उसको कोई विशेष कष्ट प्रतीत नहीं होता।

कुछ रोगी यह बताते हैं कि रक्त-निष्ठीवन से पूर्व वे बिल्कुल अच्छे थे, परन्तु सावधानी से पूँछताछ करने पर पता चलता है कि महीनों से उनको कुछ न कुछ खाँसी और कफ आता था, उनकी भूख कम होगई थी और शरीर दुर्बल होगया था। स्त्री-रोगियों में पता चलता है कि दो एक महीना पहले से उनमें मासिक-धर्म नहीं होता था। ऐसे रोगी इन लक्षणों को तुच्छ समझते रहते हैं और यदि इनमें से कोई चिकित्सक के पास जाता भी है तो वह उसको मामूली जुकाम बता देता है।

ऐसे लोगों में रक्तस्राव साधारणतः अधिक होता है और कई दिन तक रहता है, क्योंकि यद्यपि क्षयी विकारों का धीरे-धीरे अज्ञात रूप से प्रादुर्भाव होता है फिर भी जब पता चलता है उस समय वे काफी बढ़े होते हैं। अधिकांश रोगियों के वक्षस्थल की परीक्षा करने पर काफी विस्तृत क्षयी-

विकार मिलते हैं, परन्तु कभी कभी निश्चित रोग-चिह्न नहीं मिलते। फिर भी खाँसी, कफ, ज्वर इत्यादि लक्षणों से रोग का निश्चय हो जाता है। असफल क्षय के रक्त-निष्ठीवन के दौरों से यह रक्त-निष्ठीवन इस बात में भिन्न होता है कि इसके बाद रोगी बहुत दिनों में अच्छा होता है।

सम्वृद्ध अवस्था में रक्त-निष्ठीवन—क्षय-रोग में रक्त-निष्ठीवन किसी भी समय हो सकता है किन्तु उपक्रान्त और सम्वृद्ध अवस्था में अधिक होता है। रक्त की मात्रा में बहुत न्यूनाधिकता होती है। कभी केवल रक्त वर्ण का कफ, कभी शुद्ध रक्त की कुल्ली, कभी सेर आध सेर और कभी कभी दो दो सेर तक रक्त निकलता है।

रक्त लाल वर्ण का झाग-युक्त और साधारणतः श्लेष्म मिश्रित होता है। जब स्राव अधिक होता है तो कभी-कभी रक्त का रंग शिरारक्त के समान काला होता है। अधिकांश रोगियों में यह रक्त शीघ्र नहीं जमता, उसमें कुछ फुटकियाँ भी होती हैं, परन्तु अधिकतर वह द्रव रूप होता है। रक्त को जमानेवाले स्फटिक, रक्तरस इत्यादि पदार्थ मिलाने पर भी रक्त शीघ्र नहीं जमता। रक्त के देर में जमने का कारण अभी तक ठीक ठीक ज्ञात नहीं हुआ है।

कुछ लोगों को रक्त निष्ठीवन होने से पूर्व उसका ज्ञान हो जाता है और वे बता सकते हैं कि उनको रक्त निष्ठीवन होनेवाला है। परन्तु अधिकांश रोगियों में रक्त निष्ठीवन का दौरा यकायक बिना किसी पूर्वाभास के होता है। रोगी को वक्ष में पहले जकड़न या गड़गड़ाहट प्रतीत होती है और उसके बाद खाँसी उठती है जिसमें झागयुक्त रक्त वर्ण नमकीन रुधिर निकलता है। जब रक्तपात अधिक होता है तो मुँह से रक्त की धारा बहने लगती है।

रोगी एकदम घबड़ा उठता है और भयभीत हो जाता है। उसके चेहरे से भय, चिन्ता और घबराहट टपकती है, चेहरा पीला हो जाता है और हाथ पैर ठंडे तथा स्वेद युक्त हो जाते हैं। शरीर का ताप, जो रक्तस्राव से, पहले बढ़ा हुआ होता है, रक्तस्राव के बाद एकदम घटकर प्रकृतिस्थ ताप से भी कम हो जाता है। नाड़ी निर्बल और शीघ्रगामी हो जाती है।

शक्तिपात के इन लक्षणों का केवल रक्तस्राव ही कारण नहीं होता, उनमें भय और घबराहट का भी भाग होता है। यह इस बात से स्पष्ट

विदित होता है कि रोगी के अतिरिक्त उसके परिवार के अन्य लोगों की भी घबराहट से वैसी ही दशा हो जाती है।

चिकित्सक के प्रोत्साहित करने और आश्वासन दिलाने पर रोगी में कुछ प्रतिक्रिया व्यक्त होने लगती है, नाडी सुधरने लगती है, चेहरा प्रदीप्त होने लगता है और शरीर का ताप बढकर रक्तपात से पहले का सा हो जाता है। अनेक रोगियो मे फिर दौरा हो जाता है और कुछ घटो मे या दूसरे दिन रक्तस्राव फिर होने लगता है। इस प्रकार अनियमित रूप से स्राव कई दिन तक जारी रहता है। अन्त मे जब रक्तपात बन्द हो जाता है तो उसके बाद भी रोगी के वक्ष में काले काले रक्त के छिछडे कुछ दिनो तक निकलते रहते है। कुछ रोगियो मे रक्तपात बहुत दिनो तक जारी रहता है और अन्त मे रक्त की कमी से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

उन रोगियो मे, जिनके फेफडों मे बडे बडे रन्ध्र होते हैं, कभी कभी रक्तपात अधिक होता है। सब का सब स्रवित रक्त बाहर नही निकलता। रक्त का एक बडा भाग निगल लिया जाता है और कुछ भाग रध्र और श्वास प्रणालियो मे रह जाता है जिसका शोषण हो जाता है। रक्तपात का अन्तिम परिणाम फटी हुई रक्तनाडी के आकार और रक्त के जमने की शक्ति पर निर्भर होता है। कभी कभी रोगी निर्बल और क्षीण होने के कारण रक्तपात की विपुलता से दबजाता है और रक्त को बाहर निकालने की शक्ति न होने से अपने ही रक्त मे कुछ मिनटों मे ही डूब मरता है। कुछ रोगी कुछ घटों या दिनो तक जीने का निष्फल प्रयास करते हैं और अन्त मे रक्त की कमी से उनके प्राण छूट जाते हैं। फेफडो मे रध्रवाले रोगियों के लिये साधारणत रक्तपात से निवृत्त होने की काफी सम्भावना होती है। रक्तपात से तत्काल मृत्यु बहुत कम होती है। रक्तपातवाले रोगियों में से २ प्रतिशत से भी कम की मृत्यु सीधी रक्तपात से होती है। अधिकतर रोगी रक्तपात को सह लेते है और यदि उनकी मृत्यु होती है तो अन्य लक्षणों या उपद्रवो के कारण होती है।

दूसरी ओर ऐसे क्षय रोगी देखने मे आते हैं जो धीरे धीरे अच्छे होते जाते हैं, परन्तु सहसा उनको विपुल रक्तपात हो जाता है जिससे उनकी शीघ्र मृत्यु हो जाती है। ऐसे रक्तपात सौभाग्य से बहुत कम देखने मे आते हैं और साधारणत किसी रध्र में रक्तकोष के फट जाने से होते हैं। इनका न पहले से पता लग सकता है और न इनकी रोक हो सकती है।

सूत्रोल्वण क्षय में रक्तपात—इस प्रकार के क्षय में रक्त-निष्ठीवन बहुत होता है, परन्तु अधिकाश रोगियो मे रक्त की मात्रा बहुत कम होती है, केवल लाली लिए कफ निकलता है। साधारणत रोगियों को श्वास और खासी के अतिरिक्त और कोई कष्ट प्रतीत नही होता। श्वास और खाँसी के प्रति भी कुछ सहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है, परन्तु जब कफ में रक्त आने लगता है तो रोगी घबरा जाते हैं। कुछ रोगी इसके भी आदी हो जाते हैं और वे इसकी परवाह नहीं करते क्योंकि वे अनुभव से जान जाते हैं कि यह कोई भयङ्कर बात नही है। सूत्रोल्वण-क्षय मे भी कभी कभी विपुल रक्तपात होजाता है।

रक्तस्रावक क्षय-रोग—राजयक्ष्मा के उस रूप भेद मे, जिसको रक्तस्रावक क्षय कहते हैं, रक्तस्राव का बार बार होना विशिष्ट लक्षण होता है। वर्षो तक अनियमित रूप से समय समय पर रक्त-निष्ठीवन होता रहता है, परन्तु उसमे रोगी को कोई विशेष हानि नही पहुँचती। इन रोगियों मे वक्ष-स्थल की परीक्षा करने पर साधारणत न कोई रोग-चिह्न मिलता है, न इनको ज्वर होता है और न इनका वजन घटता है, केवल थोडी सी खाँसी होती है। केवल रक्त-निष्ठीवन से और कभी कभी कफ मे क्षय कीटाणुओं के मिलने से इनकी दशा का पता चलता है। फिशवर्ग ने एक स्त्री का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे तथा अन्य कई और चिकित्सक उसके वक्षस्थल की परीक्षा करके आसानी से क्षय-रोग का निश्चय नहीं कर सके। बहुत काल तक वे यह समझते रहे कि रोगी बहाना करता है। रक्तपात के दौरों मे, जो अनियमित समय पर बार बार हुआ करते थे, वक्षस्थल की परीक्षा करने पर कोई निश्चयात्मक रोग चिह्न नहीं मिलते थे। इसी प्रकार के एक और रोगी को पिछले १५ वर्ष से प्रति वर्ष दो बार रक्त-निष्ठीवन हो जाता था परन्तु वह देखने मे स्वस्थ प्रतीत होता था। एड्रूल एक रोगी के सम्बन्ध मे लिखते हैं कि उसको ६० वर्ष की आयु तक समय समय पर रक्तस्राव होता रहा और अन्त को ८० वर्ष की अवस्था मे उसका देहान्त हुआ। ऐसे रोगी असाधारण होते हैं और कभी कभी देखने में आते हैं।

रक्त-निष्ठीवन के उभाड़नेवाले कारण—यह बताया जा चुका है कि रक्त-निष्ठीवन क्षय-रोगियों मे सामान्य लक्षण होता है। फिर भी अनेक रोगी ऐसे होते हैं जिनमे आदि से अन्त तक रक्त-निष्ठीवन नही होता। कुछ

साक्षी इस बात की मिलती है कि ठिगने मनुष्यों की अपेक्षा लम्बे मनुष्यों मे यह लक्षण अधिक पाया जाता है। वुल्फ का कहना है कि यही कारण है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों मे रक्त-निष्ठीवन कम होता है। वैसे तो रक्त-निष्ठीवन हर आयुकाल मे होता है, परन्तु अधिकतर १५ से ५० वर्ष तक की आयु मे होता है, क्योंकि सम्भवत इस आयुकाल मे रोग सक्रिय अवस्था मे होता है।

एडर्स के आँकडो से भी विदित होता है कि स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे रक्त-निष्ठीवन अधिक होता है। तीस वर्ष की आयु के बाद पुरुषों मे कही अधिक होता है। स्त्रियों मे विपुल और घातक रक्तपात कम होता है। फिशबर्ग का अनुभव है कि तत्काल प्राणघातक, रक्त निष्ठीवन स्त्रियों में बहुत विरल होता है, आद्य रक्त निष्ठीवन भी पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो म कम होता है। रीक के आँकडों से विदित होता है कि पुरुषो मे ११ प्रतिशत में और स्त्रियो मे ५५ प्रतिशत मे आद्य रक्त-निष्ठीवन होता है।

अधीर और तामसी स्वभाववाले रोगियों में शान्त और सतोगुणी रोगियों की अपेक्षा रक्त-निष्ठीवन अधिक होता है। उत्तेजक वादविवाद, अति परिश्रम, गाने, दौडने, पहाड पर चढने, पाखाना जाते समय जोर करने तथा चोट लग जाने से रक्तस्राव हो जाता है। परन्तु रक्त-निष्ठीवन के उद्दीपन मे अति परिश्रम का महत्व अधिक नही समझना चाहिए। अधिक परिश्रम या चित्तोद्वेग से कफ में लाली आ सकती है अथवा हल्का रक्तस्राव हो सकता हैं, परन्तु अधिक रक्तस्राव तो तभी हो सकता है जब रक्त नाडी की दीवार कट जाती है या रक्त कोष फट जाता है। अधिक परिश्रम रक्त-निष्ठीवन का प्रधान कारण नही होता है, यह इस बात से भी विदित होता है कि अधिकांश विपुल और घातक रक्तपात रात मे होते हैं। अभी तक इस बात पर प्रकाश नही पडा है कि ऐसे रक्त निष्ठीवन रात मे क्यो अधिक होते हैं। जो रोगी अधिक भोजन से मोटे हो जाते हैं उनमे रक्त-निष्ठीवन अधिक होता है। ऋतु परिवर्तन से भी रक्त-निष्ठीवन का उद्दीपन होजाता है। स्त्री-प्रसग से रक्त-निष्ठीवन होकर तुरन्त मृत्यु होते देखी गई हैं।

सखिया, क्रियोजोट, और उसके भाईबन्द, आयोडाईड, एस्परीन इत्यादि, कुछ औषधियों मे, जिनका क्षयोपचार मे विस्तृत प्रयोग होता है, प्राय रक्त-निष्ठीवन होजाता है। यह कहा जाता है कि पहाडो पर रहना रक्त-निष्ठीवन के अनुकूल होता है, परन्तु अभी तक यह बात प्रमाणित नही हुई

है। इतना अवश्य है कि रक्त-निष्ठीवन का परिणाम समुद्रतट की अपेक्षा उन्नताश प्रदेशों मे अधिक बुरा होता है।

कुछ लोगों ने पता लगाया है कि रक्त निष्ठीवन पर ऋतु का भी प्रभाव होता है। उनका कहना है कि वसन्त और ग्रीष्म ऋतु में रक्त-निष्ठीवन सबसे अधिक मिलता है, परन्तु एण्डर्स की जाँच से यह विदित होता है कि सब से अधिक रक्त निष्ठीवन दिसम्बर, जनवरी और फरवरी मे होता है और उसके बाद दूसरा नम्बर क्रमश अगस्त, सितम्बर, मई और मार्च का आता है। अन्य लोगों का भी ऐसा ही अनुभव है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस लक्षण के आविर्भाव पर वास्तव मे ऋतु का प्रभाव बहुत कम होता है। अन्य ऋतुओं की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु मे रक्त निष्ठीवन अधिक होता है।

उपरोक्त बातों मे से कोई भी रक्त निष्ठीवन का प्रकट कारण हो सकती है, परन्तु अधिकाश रोगियों मे कोई भी प्रकट कारण नहीं मिलता। अनेक रोगियो मे रक्तपात उस समय होता है जब कि उसके होने की आशङ्का बहुत कम होती है। लगभग सभी स्वास्थ्य शालाओं का यह अनुभव है कि उन रोगियो में भी रक्त-निष्ठीवन हो जाता है जो पूर्ण आरोग्यता की ओर अग्रसर होते रहते हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि आधे से अधिक रोगियों मे रक्तपात रात मे रोगी के सोने की दशा मे होता है। रोगी सहसा मुँह मे रक्त भर जाने से जाग पडता है। जिन रोगियों मे रक्त नाडी या रक्त-कोष के फट जाने से रक्तपात होता है उनमे बहुधा रक्तपात का कोई कारण नहीं पाया जाता और न किसी ज्ञात उपाय से वह रुक सकता है।

रोग-निरूपण में रक्त-निष्ठीवन का महत्व—यह बार बार कहा जाता है कि रक्त निष्ठीवन वाले सब रोगियों को क्षय-रोगी समझना चाहिये और जब तक रक्तपात का अन्य कोई कारण ज्ञात न हो, क्षय-रोग का ही इलाज करना चाहिये। इस धारणा से कि लगभग सब रक्त-निष्ठीवन वाले क्षय-रोगी होते हैं, उन रोगियों के पहचानने मे कभी कभी बडी भूल हो जाती है जिनमे रक्त निष्ठीवन अन्य कारणों से होता है। प्रत्येक रक्त-निष्ठीवन वाले रोगी को क्षयी मानने के उसूल पर चलने मे भूल होने की बडी आशङ्का रहती है। कनेट को ३४४४ रक्त निष्ठीवन वाले रोगियों मे केवल ५० प्रतिशत मे, जैम्स ब्लेक को ९०९ रोगियो में से ५४ ६ प्रतिशत मे और स्ट्राइकर को ९०० में से ७७ ६ प्रतिशत में रक्त-निष्ठीवन का कारण क्षय रोग मिला था।

सब से अधिक विस्मय में डालनेवाले रोगी वे होते हैं जो चिकित्सक के पास जाकर यह कहते हैं कि कुछ दिन पहले उनके कफ मे रक्त गिरा था। ऐसे रोगियों मे से अनेक मे रक्त नाक, कठ या मसूडों से आता है। परन्तु जिस समय वे चिकित्सक के पास पहुँचते हैं उस समय परीक्षा करने पर उनके उपरोक्त स्थानों में कोई विकार नही मिलता और वक्षस्थल की परीक्षा करने पर किसी एक फुप्फुस-शिखर पर कुछ अनिश्चित चिह्न, जो क्षय-रोग के अतिरिक्त अन्य रोग के भी हो सकते हैं, मिलते हैं अथवा निवृत्त क्षय के द्योतक चिह्न मिलते हैं। इसलिये इनको भूल से क्षय रोगी समझ लिया जाता है। ऐसी भूल विशेपकर उन रोगियों मे होती है जिनमे नाक से रक्त निकलकर कठ मे पहुँच जाता है और उससे खाँसी पैदा होकर रक्त-रञ्जित कफ निकलना है। कुछ रोगियो को रात मे नाक से रक्तस्राव होता है जिससे वे जाग जाते हैं। जागने पर जब खाँसी आती है तो रक्त-मिश्रित थूक निकलता है। दूसरे ही दिन वे चिकित्सक के पास दौडते हैं, परन्तु उस समय परीक्षा द्वारा रक्त के उद्‌गम स्थान का कोई पता नही चलता। कफ मे केवल रक्त की डोरियाँ आने का हाल सुनकर क्षय-रोग का निर्णय करने मे वडी सावधानी से काम लेना चाहिये। यह ठीक है कि कफ मे रक्त की डोरियाँ कभी-कभी फेफडों से आती हैं और वे होनेवाले विपुल रक्तस्राव की अगुआ होती हैं, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि कफ मे रक्त की डोरियाँ फेफडो से वहुत कम आती हैं। अधिकाश रोगियो मे वे नाक, कठ और विशेपकर श्वास-प्रणालियों से आती हैं। वेस्ट का कथन है कि धारीदार रक्त-निष्ठीवन क्षय-रोग की अपेक्षा कास रोग मे अधिक होता है। जब कभी क्षय-रोग मे भी ऐसा रक्त-निष्ठीवन होता है, तो वह श्वास-प्रणालियों से ही होता है। जोर से खाँसने में श्वास-प्रणालियों की फूली हुई रक्त केशिकाये फट जाती हैं। कभी कभी श्वास प्रणालियो मे क्षयी-व्रण हो जाते हैं जिनसे थोडा रक्त निकलने लगता है। कठ के पुरातन प्रदाह मे भी कफ मे रक्त की डोरियाँ आती हैं। ऐसा प्राय प्रात काल होता है। जब कठ को साफ करते समय कुछ कफ निकलता है तो उसमें रक्त की डोरियाँ निकलती हैं जिनको देखकर रोगी भयभीत हो जाता है। पूरा निश्चय करने के लिये वह और भी जोर से खाँसता है और इससे जो श्लेष्म निकलता है उसमें भी रक्त की धारियाँ दिखाई देती हैं। चिपके हुये कफ को निकालने के लिये गले मे जो

जोर दिया जाता है उससे भी कफ मे रक्त की लाली आ जाती है, इसलिये कठ की परीक्षा करने पर रक्तस्राव का कोई विशेष कारण नही मिलता।

अनेक रोगियो मे जिनके कफ मे रक्त की लाली आती है, रोग का निश्चय केवल रोगी को कई सप्ताह तक लगातार निरीक्षण में रखकर और उसके लक्षणों का सावधानी से अध्ययन करने और वक्ष की परीक्षा करने से ही हो सकता है। टेंटुआ मे शिराओं के फूल जाने से रक्त आने लगता है। अन्न-प्रणाली की शिराओ के फूलने से भी रक्तस्राव हो सकता है। अन्न-प्रणाली के इन अर्शो (फूली हुई शिराये) से कभी कभी काफी रक्तस्राव होता है। कुछ लोगो ने लिखा है कि जीभ के मूल की फूली हुई शिराओ से भी रक्तस्राव होता है।

इस प्रकार के नकली रक्त निष्ठीवनो का अनेक चिकित्सको ने उल्लेख किया है।

श्वास-मार्ग के उग्र रोगो मे रक्त-निष्ठीवन—ऊपर यह बताया जा चुका है कि नाक, कठ और टौन्सिल के उग्र प्रदाह मे कफ मे रक्त आ सकता है। वस्तुत जब किसी रोगी के कफ मे रक्त निकले और श्वास-मार्ग के ऊपरी भाग मे उग्र प्रदाह क लक्षण और चिह्न मिले तो फेफडो की अपेक्षा नाक या कठ से रक्त के निकलने की अधिक सम्भावना समझनी चाहिये। एक बात यह और भी है कि क्षय-रोग कभी उग्र प्रतिश्याय, कठ प्रदाह और टौंसिल प्रदाह के रूप मे आरम्भ नही होता।

उग्र फुप्फुस प्रदाह में कुछ लाली लिये हुये कफ विशिष्ट लक्षण होता है, परन्तु कभी कभी शुद्ध रक्त भी देखा जाता है। श्वासनल-फुप्फुसप्रदाह (Broncho Pneumonia) में रक्त-निष्ठीवन और भी अधिकता से मिलता है। इनफ्लुएञ्जा की विगत महामारी मे जिन लोगों मे उपद्रव रूप फुप्फुस प्रदाह हुआ था उनमें रक्त-निष्ठीवन बहुत हुआ था। इसकी पहचान रोगी के हाल, रोग का महामारी रूप, तथा इनफ्लुएञ्जा के अन्य लक्षणो और रोग चिह्नो से होजाती है।

पार्श्वकला के प्रदाह में रक्त-निष्ठीवन—पार्श्वकला के आरम्भक प्रदाह के अनेक रोगियो मे प्रारम्भ में रक्त-निष्ठीवन होता है। अनेक रोगी ऐसे देखने मे आते हैं जिनमे रक्त-निष्ठीवन बन्द होने के बाद वक्ष की परीक्षा करने पर पार्श्वकला में स्वान मिलता है। कुछ रोगियो में बाद को राजयक्ष्मा

हो जाता है और अन्यान्य रोगी स्राव के शोषण के बाद अनिश्चित काल तक अच्छे बने रहते हैं। रक्त-स्राव अंतर्खण्डीय पार्श्वकला प्रदाह में अधिक होता है। अंतर्खण्डीय स्राव के शोषण के बाद भी समय समय पर रक्त-निष्ठीवन हुआ करता है।

हृदय-रोग में रक्त-निष्ठीवन—हृदय के रोगों में भी रक्त निष्ठीवन होता है। चूँकि अनेक हृदय-रोगी क्षीणकाय होते हैं और उनको खाँसी तथा कभी कभी हरारत भी होती है, इसलिये भूल से इनको क्षय रोगी समझ लिया जाता है। हृदय-रोग के रक्त-निष्ठीवन का कारण क्षय-रोग समझ लेने का बड़ा भयकर परिणाम प्राय देखने में आता है।

प्राइस के मतानुसार क्षय-रोग के बाद रक्त-निष्ठीवन का दूसरा सबसे बड़ा कारण हृदय के बाये कोष्ठों के बीच के द्वार की सकीर्णता (Mitral stenosis) होती है और यही बहुधा भूल का कारण होती है। कबेट के रक्त-निष्ठीवन वाले ३४४४ रोगियों में से ३४ प्रतिशत में रक्त-स्राव का कारण हृदय का उपरोक्त रोग मिला था। सब रोगियों के हृदय की परीक्षा नहीं की जाती और कभी कभी परीक्षा करने पर भी विशिष्ट 'मर्मर' शब्द का न मिलना कोई असाधारण बात नहीं होती। इसके अतिरिक्त हृदय रोग में भी प्राय फुप्फुस-शिखर में कुछ विकार मिलते हैं, जिनसे क्षय-रोग का भ्रम हो जाता है।

महाधमनी के रक्त-कोष (Aneurysm of aorta) में प्राय कोष के फटने से घातक रक्तपात होकर मृत्यु होजाती है। किन्तु अनेक रोगियों में घातक रक्तपात से पूर्व कई सप्ताह या मास तक रक्तमिश्रित कफ निकलता रहता है। कुछ रोगियों में रक्तकोष का फेफड़े पर या श्वास-प्रणाली पर दबाव पड़ने से फुप्फुस-शिखर पर ऐसे रोग-चिह्न उत्पन्न हो जाते हैं जो क्षय-रोग के चिह्नों से बहुत कुछ मिलते जुलते होते हैं।

फेफड़ों के कैन्सर, उपदंश और श्वास-नलोत्फुलन रोग में रक्त-निष्ठीवन—श्वास-नलोत्फुलन (Bronchiectasis) रोग में रक्त-निष्ठीवन कोई असाधारण बात नहीं होती। रक्त या तो श्लेष्म-कला की फूली हुई रक्त-नाड़ियों से या श्लेष्म कला के प्रदाह में अथवा श्वासनलों के फूलने से उत्पन्न रन्ध्रों (Bronchiectatic cavities) की दीवार में रक्त-कोषों के फटने से आता है। साधारणत यह रोग वृद्धावस्था या उसके समीप की आयु

मे होता है। फेफडो के उपदंश रोग मे रक्त-निष्ठीवन विभिन्न मात्राओं मे पाया जाता है।

फेफडे के दुष्ट व्रण (Cancer) रोग मे भी प्राय रक्त-निष्ठीवन होता है जिससे कभी कभी रोग-निरूपण मे भ्रम हो जाता है। इस रोग की प्रारम्भिक अवस्था के लक्षण क्षय-रोग के लक्षणों मे बहुत कुछ मिलते जुलते होते हैं। जब कभी रक्तस्राव होता है तो बडा दुस्साध्य होता है और बहुत दिनो तक कफ मे रक्त की काली काली फुटके निकला करती हैं। लाल वर्ण का शुद्ध रक्त बहुत कम मिलता है।

अन्न-प्रणाली से रक्तस्राव—अन्न-प्रणालियो की फूली हुई रक्त-शिराओ मे जो रक्तस्राव होता है, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अन्न-प्रणाली मे फूली हुई शिराये प्राय जलोदर रोग मे पाई जाती हैं। अन्न-प्रणाली मे कोई बतौडी (Tumour) बन जाने मे भी रक्तपात होता है।

मासिक रक्तस्राव—क्षयी स्त्रियो मे जो रक्तपात होता है वह मासिक धर्म के समय अधिक होता है। यह देखा गया है कि ऋतुकाल मे रक्तभार बढ जाता है और कंठ की श्लेष्म-कला मे रक्तावष्टम्भ होता है। कुछ लोगो का कहना है कि इस समय फेफडों मे भी रक्त की अधिकता होती है जो फेफडे से रक्तस्राव के होने मे सहायक होती है। मैश के मतानुसार ऋतुकालिक रक्तपात कम भी हो सकता है और अधिक भी हो सकता है और रोगी की दशा सुधरने तथा रोग के शान्त होने पर भी जारी रह सकता है। ऋतुकाल मे क्षय रोगियों मे रक्तपात फेफडो के अतिरिक्त अन्य स्थानों मे भी हो सकता है। विल्सन और यूमैन ने टेटुँआ और ऊर्द्ध्व श्वासमार्ग से ऐसे रक्तपात के होने का उल्लेख किया है। मैश ने एक स्त्री के सम्बन्ध मे, जिसकी आँतो मे व्रण हो गये थे, लिखा है कि ऋतुकाल मे उसकी आँतों से नियमित रूप मे रक्तस्राव होता था।

प्रतिनिधिरूप रक्तस्राव—(Vicarious menstruation) प्रतिनिधिरूप रक्तस्राव उसे कहते हैं जिसमें ऋतुकाल मे रक्तस्राव गर्भाशय के बजाय फुफ्फुस इत्यादि अन्य इन्द्रियो से होता है। इस प्रकार का ऋतुस्राव बहुत विरल होता है और अधिकतर क्षय रोग के कारण होता है। प्रतिनिधिरूप रक्तस्राव का मूल्य निर्धारित करते समय यह स्मरण रखना चाहिये कि क्षय-रोग में मासिक-धर्म प्राय बन्द हो जाता है और इस रोग मे रक्त-निष्ठीवन

बहुधा होता है। इसलिये कोई आश्चर्य की बात नही कि जब मासिक-धर्म रुका हुआ हो तो कभी कभी रक्त निष्ठीवन होजाय।

गर्भवती क्षयी स्त्रियों मे, जब मासिक धर्म बन्द होजाता है तो कभी कभी रक्त निष्ठीवन इतना होने लगता है कि लोग उसको प्रतिनिधिरूप रक्त-स्राव समझने लगते हैं। कुछ लोग स्तन्यपान-काल में स्त्रियों में रक्त निष्ठीवन होने का उल्लेख करते हैं। बच्चों का दूध छुडाने के बाद रक्त-निष्ठीवन बन्द होजाता है। ऐसे रक्त निष्ठीवनो के कारण का अभी तक पता नहीं चला है।

स्नायु-विकारों से उत्पन्न रक्त-निष्ठीवन—हिस्टीरिया के रोगियों मे, विशेषकर औरतो मे कभी कभी उपक्रान्त क्षय-रोग के लक्षण मिलते हैं, जिनमे रक्त निष्ठीवन भी एक है, परन्तु वक्षस्थल की बार बार परीक्षा करने पर भी कोई विकार नहीं मिलता। प्राचीन चिकित्सकों ने इसको हिस्टीरिया-रक्त निष्ठीवन कहा है। ऐसे अधिकाश रोगियो मे खाँसी के तीव्र वेग के कारण मसूड़ों या कठ से रक्त आता है। जब रक्त-निष्ठीवन के साथ खाँसी, श्वास फूलना, वक्षस्थल मे पीडा और हरारत इत्यादि लक्षण भी होते हैं, तो रोग का निश्चय करना बहुत कठिन होजाता है, परन्तु ऐसे रोगियो मे फेफडो के किसो विकार के अभाव के साथ साथ हिस्टीरिया रोग के अन्य लक्षण भी होते हैं। दूसरी ओर यह भी नही भूलना चाहिये कि क्षय-रोग हिस्टीरिया के रोगियो मे भी हो सकता है और क्षय रोगियो मे भी हिस्टीरिया के लक्षण हो सकते हैं। वास्तव मे कुछ रोगी, जिनको रक्त-निष्ठीवन के दो-एक दौरे होजाते हैं, इतने डर जाते हैं, कि अपने को अभागा समझकर वहमी होजाते हैं। ये लोग अपने कफ को बराबर देखा करते हैं, कही उसमे रक्त तो नही आया है। ऐसे रोगियो का सुधार बडा कठिन होता है।

वातसस्थान के कुछ रोगियो में भी रक्त-निष्ठीवन होता है।

अज्ञात रक्त-निष्ठीवन—रक्त-निष्ठीवन के कुछ ऐसे रोगी देखने मे आते हैं जिनमे रोग के कोई लक्षण या चिह्न नही मिलते जिससे रक्तस्राव के कारण का पता चल सके। [illegible] रोगी [illegible] बडी सावधानी से परीक्षा करने पर [illegible] तक [illegible] रखने पर भी रक्त निष्ठीवन के कारण का [illegible] भी ठीक बना रहता है।

लिनमैन और आस्टिनबर्ग का कथन है कि कुछ रक्त निष्ठीवन पैतृक होते हैं। उन्होंने एक ऐसा रोगी देखा था जिसकी चार पीढियों में समय समय पर रक्त-निष्ठीवन होता रहा और किसी को भी क्षय-रोग नहीं हुआ।

सम्भव है कि ऐसे अज्ञात रक्त निष्ठीवनों में से कुछ निष्फल क्षय के कारण होते हों।

रक्तस्राव के उद्गमस्थान का पता लगाना—अभी तक रक्तस्राव के स्थान का ठीक ठीक पता लगाने का कोई विशेष महत्व नहीं समझा जाता था, क्योंकि इस ज्ञान का, कि रक्तस्राव किस फेफडे से हुआ है, इलाज पर कोई प्रभाव नहीं पडता था। परन्तु कुछ दिनों से, जब से पता लगा है कि वक्ष मे वायु भरने से विपुल रक्तपात बन्द होजाता है जो अन्य साधनों से नहीं होता, रक्तस्राव को स्थानांकित करना बडे महत्व का प्रश्न होगया है।

उन रोगियों में जो बहुत दिनों से निरीक्षण में होते हैं, और जिनके बारे में यह ज्ञात होता है कि रोग केवल एक ही ओर है, यह प्रश्न सरल होता है, क्योंकि विपुल रक्तपात मे साधारणत फेफडों में रन्ध्र का होना विवक्षित होता है। परन्तु जब क्षय-रोग दोनों ओर होता है, तो यह बताना बडा कठिन होजाता है कि रक्त किस फेफडे से आ रहा है। रक्तस्राव के बढने के भय से वक्ष टकोरा नहीं जा सकता। श्रवण-परीक्षा से सम्भव है कि किसी स्थान पर कुछ कण (Rales) सुनाई दे जायें, परन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि रक्तस्राव के अधिक होने पर रक्त दूसरे फेफडे में चला जाता है और उसके कारण वहाँ पर कण सुनाई देने लगते हैं। इसलिये कभी कभी यह निश्चय करना असम्भव होजाता है कि रक्त किस फेफडे से आ रहा है।

स्ट्राइकर का मत है कि जब उग्र और वर्द्धमान रोग में अनायास रक्तस्राव होता है तो वह रक्तनाडी की दीवार के फटने से होता है और जब पुरातन रन्ध्रयुक्त रोग में होता है तो साधारणत रक्त कोष के फटने से होता है। ज्वर के साथ बार बार रक्तस्राव के होने से फुफ्फुस तन्तु का प्रगतिशील विनाश सूचित होता है।

रक्त-निष्ठीवन की पहचान—प्राय रक्त-निष्ठीवन के विषय में यह पता लगाना बडा आवश्यक होता है कि रक्तस्राव किसी नयी विकार से

हुआ है अथवा उसका कोई अन्य कारण है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि रक्त निष्ठीवन ऊर्द्ध और निम्न श्वास मार्गों के अनेक रोग (क्षय रोग तथा अन्य रोग) में हो सकता है। कफ और कंठ की सावधानी से परीक्षा करने पर पता चल सकता है कि यह श्वास-मार्ग के ऊपरी भाग की श्लेष्मकला में रक्तावष्टम्भ या शिराओं के फूलने से हुआ है या नहीं। यदि थूका हुआ रक्तवर्ण का द्रव पदार्थ सब का सब समान रूप से लाल और जलवत् हो तो उसके मुँह से आने की अधिक सम्भावना समझनी चाहिए। यदि परीक्षा करने पर क्षय-रोग का कोई लक्षण और चिह्न न मिले और क्षय के अतिरिक्त रक्तस्राव का अन्य कोई कारण न मिले, हृदय ठीक हो और रोगी को कोई चोट न लगी हो, तो उसको क्षयरहित मानने से पूर्व निरीक्षण में रखना चाहिए। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि कफ में रक्त की डोरियाँ क्षय रोग के अतिरिक्त अन्य अनेक कारणों से भी आ सकती हैं, इसलिए केवल उन्हीं से क्षय-रोग का होना नहीं समझना चाहिए।

जब रक्तस्राव अधिक होने के कारण रोगी के वक्षस्थल की ठीक-ठीक परीक्षा नहीं हो पाती तब यह निर्णय करना बड़ा कठिन होता है कि रक्तस्राव किसी क्षयो-विकार से हुआ है या श्वास-नल के फूलने से उत्पन्न रन्ध्र से या फेफड़े के उपदंश से। कभी कभी यह भी निश्चय करना बड़ा कठिन होता है कि रक्त कफ के साथ गिरा है या रक्तवमन (Haematemesis) हुआ है अर्थात् रक्त आमाशय से आया है। रक्तवमन रक्त-निष्ठीवन के सदृश प्रतीत हो सकता है, क्योंकि श्वास के साथ वमन किया हुआ रक्त श्वास-मार्ग में पहुँच सकता है और फिर खाँसने पर कफ के साथ निकल सकता है। दूसरी ओर रक्त-निष्ठीवन में रोगी रक्त को निगल सकता है और फिर उसका वमन हो सकता है। इस वमन में निकला हुआ रक्त बहुत कुछ आमाशय के रक्त के सदृश होजाता है। कभी कभी रक्त निष्ठीवन और रक्तवमन में पहचान करना बड़ा कठिन होता है, परन्तु दोनों रक्तपातों में साधारणतः ये भेद होते हैं। रक्त निष्ठीवन में रक्त खाँसने पर निकलता है और यह बिलकुल लाल झागयुक्त तथा कफमिश्रित होता है। यह प्रतिक्रिया में खारा होता है और शीघ्र जमता नहीं, परन्तु अनेक रोगी रक्त को निगल जाते हैं और बाद को कै कर देते हैं, तब उसकी प्रतिक्रिया अम्ल होजाती है। श्रवण करने पर वक्ष में कुछ कण सुनाई दे सकते हैं। रोगी के हाल की सावधानी

से पूछताछ करने पर ज्ञात होता है कि उसको बहुत दिनो से खाँसी और कुछ कफ आता था। इसके विपरीत रक्त वमन मे रोगी जो हाल बताता है वह आमाशय के विकार का सूचक होता है और परीक्षा करने पर उदर में रोग चिह्न भी मिल सकते हैं। रक्त निष्ठीवन में रक्तस्राव के बन्द होने के पश्चात् कुछ दिनों तक रोगी को खाँसी आती रहती है और कफ में जमा हुआ रक्त निकला करता है। रक्तवमन में ऐसा कभी नहीं होता। चाहे कहीं से हो, जब रक्तपात अधिक होता है और पहले से कोई रोग-लक्षण नहीं होते तो उपरोक्त बातो से बहुत कम सहायता मिलती है, क्योंकि रक्त बिलकुल लाल, खारा होता है और उसमें न कफ होता है और न आमाशय के रस इत्यादि पदार्थ। परन्तु ऐसे विपुल रक्तपात साधारणत सम्वृद्ध क्षय रोगियोंमे ही मिलते हैं जिनमे क्षय-रोग के चिह्न सदा मिलते हैं।

रक्त निष्ठीवन का निश्चय होने के बाद यदि पहले से रोग का निर्णय न हो चुका हो, तो यह पता लगाना कभी कभी बहुत कठिन होजाता है कि रक्त फेफडो के क्षयी-विकारो से आया है या किसी श्वासप्रणाली के फूलने से उत्पन्न रध्र (Bronchiectatic Cavity) से। इसमे रोगी के ताप और नाडी से सहायता मिलती है। जब यह दोनो प्रकृतिस्थ दशा मे होती हैं और रोगी की व्यापक दशा अच्छी होती है तो रक्त का कारण फूले श्वासनल के रध्र के होने की अधिक सम्भावना होती है, विशेषकर ४५ वर्ष से अधिक आयु वाले रोगियों मे। जब वक्षस्थल की परीक्षा से यह ज्ञात हो कि फेफडो के निम्न खंड मे रोग है और उनके शिखर विकार-शून्य हैं, तो समझना चाहिए कि क्षय के अतिरिक्त कोई अन्य रोग है। साधारणत सावधानी से पूछताछ करने पर रोगी के पहले के हाल से रोग का ठीक ठीक निर्णय हो सकता है। परन्तु जिनमे इसप्रकार निर्णय न होसके, उनके सम्बन्ध मे तब तक कोई राय नहीं देनी चाहिए जब तक रक्त-स्राव बन्द न होजाय और रोगी की ठीक ठीक परीक्षा न की जा सके।

क्षय-रोग के अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य दशाओं मे फेफडो से रक्त-स्राव हो सकता है —(१) हृदय-रोग, (२) महाधमनी के रक्त कोष, (३) रक्त में जमने की शक्ति का ह्रास (Hæmophilia), (४) श्वासनल का फूलना, (५) फेफडे मे उपदंश, विद्रधि और गलाव का होना, (६) कुछ उग्र विशिष्ट ज्वर, (७) फुफ्फुस प्रदाह, (८) इन्फ्लुएञ्जा, (९) मध्य वक्ष मे व्रण, (१०)श्वास प्रणा-

लियो में किसी बाहरी पदार्थ का अटक जाना, (११) वक्षस्थल मे चोट लगनी, (१२) कुकरखाँसी के दौरे और (१३) फेफडों मे दुष्ट व्रण का होना इत्यादि ।

साध्यासाध्य विचार में रक्त-निष्ठीवन का महत्व—लगभग सब रोगी रक्त निष्ठीवन को अत्यधिक महत्त्व देते हैं और जितना कफ मे रक्त देखकर घबराते हैं, उतना क्षय रोग के अन्य किसी लक्षण से नहीं घबराते । यही कारण है कि कुछ विशेषज्ञो ने आद्य रक्त-निष्ठीवन को शुभ लक्षण बतलाया है, क्योंकि इससे रोगी का ध्यान अपने रोग की ओर आकृष्ट होजाता है, अन्यथा सम्भवत वह उसकी उपेक्षा करता रहे । अनेक रोगी ऐसे देखने मे आते हैं जिनमे रक्त-निष्ठीवन वस्तुत जीवनदान का काम करता है । इन रोगियो मे महीनो मे कफ, खाँसी इत्यादि लक्षण होते हैं, परन्तु तुच्छ समझकर वे उनकी परवाह नही करते । अन्त में जब रक्त-निष्ठीवन का दौरा होता है तो उनकी आँखे खुलती हैं और ठीक ठीक इलाज शुरू करने से उनकी जान बच जाती है ।

रक्तपात अधिक होने से तुरन्त या कुछ दिन मे रोगी की मृत्यु हो सकती है और यदि रोगी बच जाय तो उसके रोग की गति पर प्रभाव पड सकता है ।

आद्य रक्त-निष्ठीवन की साध्यासाध्यता—यह पहले ही बताया जा चुका है कि बहुत से रोगियो मे रक्त-निष्ठीवन क्षयी-विकारो से होने पर भी बाद को क्षय-रोग के लक्षण व्यक्त नही होते । हरएक चिकित्सक ने ऐसे रोगी देखे होंगे जिनमे कई वर्ष पूर्व रक्त-निष्ठीवन हुआ था, परन्तु उसके बाद फिर कभी फेफडों का रोग नही हुआ । डा० एफ० टी० लार्ड का कथन है कि रक्त-निष्ठीवन के बाद प्रकट क्षय-रोग का होना आवश्यक नही है । सन् १७६८ ई० मे जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् गेटे को अठारह-उन्नीस वर्ष की आयु मे रक्त-निष्ठीवन का बहुत बडा दौरा हुआ था । कुछ दिनो तक उनकी दशा डामाडोल रही और महीनो तक यह वहम रहा कि उनको क्षय-रोग हो गया है, इसलिये उनकी आयु कम होगी । ८२ वर्ष की आयु तक कुछ भी न हुआ परन्तु इसके बाद फिर रक्त निष्ठीवन का दौरा होकर ८३ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हुआ । उनकी दीर्घ आयु और उद्योगी जीवन से व्याकुल और घबराये हुये रोगियो को प्रोत्साहित होना चाहिये । आद्य रक्त-निष्ठीवन बहुत कम घातक होता है ।

रक्त-निष्ठीवन से कितनी मृत्यु होती हैं—अत्यधिक रक्त-निष्ठीवन होने पर रक्त की कमी से रोगी की मृत्यु हो सकती है और श्वास-नलिकाओं मे रक्त भर जाने से रोगी का श्वासावरोध होने से भी मृत्यु हो सकती है। रक्त-निष्ठीवन से मृत्यु जरूर होती है, परन्तु बहुत विरल होती है। लुई को ३०० क्षयरोगियों मे केवल ३ मे, विलियम्स को १९८ मे से ४ में, विल्सन फोक्स को १०१ मे से ४ मे रक्त निष्ठीवन के कारण मृत्यु मिली थी। बुरफ को १२०० रोगियो मे से तीन की मृत्यु रक्त निष्ठीवन से मिली थी। क्षय रोग से जितनी मृत्यु होती हैं, उनमें लगभग सहस्र पीछे एक सीधी रक्तपात से होती है। जिन रोगियों में रक्त निष्ठीवन होता है, उनमें कठिनता से दो प्रतिशत रक्तपात से मरते होंगे।

क्षय-रोग की गति पर रक्तपात का प्रभाव—क्षय-रोग की गति पर रक्त निष्ठीवन के प्रभाव को समझने में साधारण रोगी तो गलती करते ही हे, प्राय चिकित्सक भी इसको उचित से अधिक महत्व देते हैं। यह कहा जा सकता है कि यदि रक्तपात से तुरन्त रोगी की मृत्यु न हो—और ऐसा होता भी बहुत कम है,—तो रोगी और रोग की गति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। कुछ लोगों का कथन है कि कभी कभी इसका लाभदायक प्रभाव पडता है। लिवर्ट, फ्लिंट और फोक्स तथा अन्य लोगों का कहना है कि रक्तस्राव से रोगी को आराम मिलता है और खाँसी तथा कफ, जो पहले आते थे, कम होजाते हैं। ऐसे अनेक रोगी देखने में आते हे जिनमें रक्त निष्ठीवन के बाद रोग की दशा सुधरने लगती है और खाँसी, अरुचि तथा वक्षस्थल मे शूल इत्यादि लक्षणों मे कमी हो जाती है। यह सर्वजन विदित हैकि थोडे से रक्त के निकलने से प्राय लाभ होता है, क्योंकि इससे रक्तोत्पादक इन्द्रियाँ उत्तेजित होकर अधिक रक्तकण बनाने लगती हैं।

लोगों की यह आशङ्का, कि रक्त के सब श्वास-प्रणालियों मे फैल जाने से फेफडों मे नये-नये स्थानों में रोग फैलने की सम्भावना होती है, निर्मूल है। यह निश्चय है कि श्वास-प्रणालियों मे रक्तपात के बाद रक्त भर जाता है, परन्तु यह साधारणत क्षणिक होता है, क्योंकि कुछ रक्त कफ मे बाहर निकल जाता है और कुछ का शोषण होजाता है। फेफड़ों मे विकार यदि पहले से ही प्रगतिशील न हों तो वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं, उनमे कोई वृद्धि नहीं होती। कुछ रोगियों मे रक्तस्राव के

बाद निश्चेष्ट क्षयी-विकार प्रगतिशील होजाता है। इनका कारण प्रतिरोध-शक्ति की कमी होती है। ऐसे रोगी जब तब देखने मे आते हैं, परन्तु इनकी संख्या उन रोगियों की अपेक्षा कहीं कम होती है, जिनमे रक्तस्राव के बाद ऐसा नहीं होता।

रक्त-निष्ठीवन के बाद फलस्वरूप फुप्फुस प्रदाह होने का भय भी निर्मूल होता है। ज्वररहित रोगियो मे रक्तस्राव के बाद कुछ दिनो तक ज्वर होजाता है जो आठ दस दिन मे फिर अच्छा होजाता है। ज्वरवाले रोगियों मे कभी कभी रक्तपात के बाद ज्वर छूट जाता है। दूसरी ओर अनेक ज्वरवाले रोगियों मे रक्तस्राव के बाद ज्वर जारी रहता है और अन्त मे व्यापक क्षय से उनकी मृत्यु होजाती है।

१६०० वर्ष से भी अधिक हुए जब गैलिन ने कहा था कि क्षयी रक्त-निष्ठीवन की साध्यासाध्यता ज्वर की मात्रा के ऊपर निर्भर होती है। ज्वर-रहित रोगी साध्य होते हैं और ज्वरवाले असाध्य। आजकल के अनुसंधान से भी इस प्राचीन चिकित्सक के मत का समर्थन होता है।

रक्त-निष्ठीवन में रोगी की तात्कालिक और विशेषकर अंतिम दशा रक्तस्राव की मात्रा और उसके बार बार होने पर उतनी निर्भर नहीं होती जितनी कि क्षयी-विकारों के विस्तार और विद्यमान रोग-लक्षणों पर। बाद को यह रोग का गति औरउपद्रवों के होने या न होने पर निर्भर होती है। रक्त-निष्ठीवन के समय यदि रोगी की नाडी अच्छी हो और उसकी गति प्रति मिनट एक सौ से कम हो और श्वासावरोध न हो, तो रोगी की तात्कालिक दशा अच्छी [illegible] यदि बाद को रक्तस्राव बार बार होता रहे, तो भी रोगी की [illegible] ठीक हो और ज्वर न हो, अच्छी होती है यदि केवल [illegible] तो ज्वर विशेष बुरा लक्षण [illegible] यह [illegible] मे रक्त के के कारण होता है [illegible] कई लगातार चढा रह [illegible]

यदि नाडी [illegible] तो यह समझना चाहिये [illegible] बाहर निकले, क्योंकि क्षय [illegible] मे रुका रहता है [illegible]

जिन रोगि[illegible] इत्यादि प्रबल रोग [illegible]

कोई अन्तर नही पडता। अधिक रक्तपात से शरीर का ताप साधारणत कम होजाता है, परन्तु थोडी देर मे फिर बढकर रोग की गति जारी रहती है। परन्तु यदि शारीरिक ताप प्रकृतिस्थ हो अथवा थोडा सा बढा हुआ हो, नाडी अच्छी हो और उसकी गति १०० से कम हो, रोगी की भूख ठीक हो तो तात्कालिक तथा अन्तिम परिणाम अच्छा समझना चाहिये।

अधिकाश रोगियो मे साधारण रक्त निष्ठीवन के बाद वक्ष स्थल की परीक्षा करने पर वही रोग-चिह्न मिलते हैं, जो पहले होते हैं। वक्ष स्थल का श्रवण करने पर साधारणत कुछ सिक्त कण सुनाई देते हैं, जो पहले सुनने मे नही आते। ये कण कुछ सप्ताह तक रहते हैं। कुछ रोगियों मे फेफडो के ऊर्द्ध खड मे मदता का क्षेत्र कुछ वढ जाता है। रक्त के शोषित होने पर यह मदता विलीन होजाती है।

चौदहवाँ परिच्छेद

पाचक सस्थान, त्वचा तथा सधियों सम्बन्धी लक्षण



पाचन संस्थान के लक्षण

किस सख्या में पाये जाते हैं—कुछ लेखको का कहना है कि क्षय-रोग अधिकतर उन लोगो मे होता है जो स्वभाव से अल्पभोजी होते हैं। अन्यान्य लेखको का मत है कि जिन लोगो में पाचन-विकार होते हैं उनमें क्षय-रोग अधिक होता है। ग्रोचर का कहना है कि सब क्षय रोगियो को रोग से पहले रोग होने के समय या आगे चलकर कभी न कभी मन्दाग्नि अवश्य होजाती है। प्रत्यक्ष व्यवहार मे ऐसे बहुत से रोगी देखने मे आते है, जिनके वास्तविक रोग का पता लगने से पूर्व दीर्घकाल तक मन्दाग्नि का इलाज होता रहता है। जिस रोग की उत्पत्ति, प्रगति और परिणाम पौष्टिक भोजन-पर ही अवलम्बित हो उसकी पहचान और साध्यासाध्यविचार मे मन्दाग्नि का कितना महत्व है, यह स्वय स्पष्ट है।

लगभग सौ वर्ष हुये जब डा० विल्सन फिलिप ने इस बात की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया था कि बहुत से क्षय रोगियो मे रोग होने से कुछ समय पूर्व से मन्दाग्नि होती है। अन्य लोगो का भी मत है कि क्षय रोग के व्यक्त होने से पूर्व प्राय मन्दाग्नि होती है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि विल्सन के जमाने मे आजकल की भाँति उपक्रान्त क्षय का ज्ञान नहीं था और यही कारण है कि उस समय यह विचार फैला हुआ था कि क्षय-रोग होने के पहले बहुधा मन्दाग्नि होती है।

आधुनिक खोज से इस बात का समर्थन नही होता कि पाचन-विकार स्वय क्षय-रोग के विकास मे प्रवणशील कारण होते हैं, यद्यपि

फॅन्विक का यह दृढ़ विश्वास है कि एक विशेष प्रकार की मन्दाग्नि के बाद क्षय-रोग बहुत होता है।

मन्दाग्नि क्षय-रोग का प्राय एक प्रारम्भिक लक्षण होती है। हचिंसन को अपने रोगियो मे से ९० प्रतिशत में मन्दाग्नि मिली थी, जिनमे मे ५५ प्रतिशत मे यह शुरू नही हुई थी। लेविसन को ७४ ६ प्रतिशत में और मोलर तथा फक को १००० रोगियो मे से ६४ ६ प्रतिशत मे मन्दाग्नि मिली थी। अन्य लोगो को भी लगभग इसी अनुपात मे मिली है। फॅन्विक का कथन है कि पाचन विकार लगभग ७० प्रतिशत रोगियो मे रोग के प्रारम्भ मे पाये जाते है। किसी रोगी मे मन्दाग्नि का रोग के प्रारम्भ मे होना बहुत कुछ रोगी के लिग भेद, रोग के रूप-भेद तथा पाचक इन्द्रियों की पूर्व दशा पर निर्भर होता है। मन्दाग्नि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियो मे अधिक मिलती है और साधारणत क्षय रोग के उस रूप भेद मे अधिक मिलती है, जिसका प्रारम्भ अज्ञातरूप से होता है और प्रगति बडी मन्द होती है।

आधुनिक जाँच से उपरोक्त चिकित्सको की बातों का अशत समर्थन होता है। कुछ लेखक अरुचि को ज्वर, खाँसी, रात्रि-स्वेद इत्यादि के समान प्रारम्भिक क्षय का स्थायी लक्षण मानते हैं। ३००० रोगियो की जाँच करने पर ५५ ३ प्रतिशत मे आमाशय सम्बन्धी विकार मिले थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन पाचन विकारों का कारण क्षय रोग मे आमाशय के कोई विशिष्ट विकार नहीं होते। ऐसे विकार किसी भी पुरातन क्षीणताकारक रोग में हो सकते हैं।

लक्षण—क्षय रोग की अरुचि की एक विशिष्टता यह होती है कि अन्य रोगों की भाँति यह ज्वर पर निर्भर नहीं होती। बहुत से रोगियो में, जिनमे केवल थोडी सी हरारत होती है, भोजन के प्रति लगभग पूर्ण अरुचि होती है। दूसरी ओर अन्य रोगियो मे, जिनमें ज्वर होता है, भूख बहुत अच्छी बनी रहती है। एक चिकित्सक का कथन है कि जिन रोगियो मे ज्वर होते हुए भी भूख खूब लगे और भोजन भली प्रकार पच जाय, उन सब को क्षय रोगी समझना चाहिये। उग्र फुफ्फुस प्रदाहवत् क्षय-रोग मे, जिसकी साधारण फुफ्फुस प्रदाह से पहचान करना बडा कठिन होता है, यह लक्षण बहुत विश्वस्त होता है। फुफ्फुस प्रदाह मे सदैव पूर्ण अरुचि होती है। उग्र क्षय रोग में थोडी बहुत भूख

वनी रहती है और १०३-१०४ डिगरी ज्वर रहने पर भी रोगी को भोजन की इच्छा वनी रहती है।

प्रारम्भिक क्षय-रोग मे भोजनेच्छा प्राय बहुत चपल होती है, एक दिन एक वस्तु अच्छी लगती है ता वही वस्तु दूसरे दिन बुरी लगने लगती है। कुछ रोगियो मे विशेषकर स्त्रियों मे ऊटपटॉग चीजे खाने की इच्छा का मिलना कोई असाधारण बात नही होती। बहुत-से रोगियो को कुछ भोजन अच्छे नही लगते। किसी को मास अच्छा नही लगता तो किसी को दूध अच्छा नही लगता और किसी को कुछ भी अच्छा नही लगता। ऐसा प्रतीत होता है कि दूध और अंडो के प्रति घृणा रोग के कारण नहीं, बल्कि जैसा कि साधारणत होता है, इन वस्तुओ को भरमार करने से होती है। दूध और अडो के अत्यधिक सेवन करने की सलाह से और उनकी अति करने से भूख बिलकुल मारी जाती है। प्रति दिन दो या ढाई सेर दूध पीने से और आधे या एक दर्जन अडे खाने से, जैसा कि क्षय-रोगी बहुधा करते हैं, इन वस्तुओं के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है।

चिकनी चीजों के प्रति अरुचि—क्षय रोगियों में चिकनी (वसामय) वस्तुओ क खाने की अरुचि बहुधा देखी जाती है। इस विषय मे पता लगाने पर डा० हचिंसन को अपने क्षय रोगियो मे से ७१ प्रतिशत मे वसामय पदार्थो के प्रति अरुचि मिली थी। २३ प्रतिशत रोगी थोडी मात्रा मे इन चीजो को खा सकते थे और केवल ५ प्रतिशत रोगी ऐसे थे जिनको वसामय पदार्थ पसन्द थे। डा० फैनविक को ६४ प्रतिशत रोगियो में वसामय पदार्थों के प्रति अरुचि मिली थी, जिनमे बहुत-से रोगियो मे क्षय-रोग आरम्भ होने से महीनो पहले से इसप्रकार की अरुचि प्रगट होगई थी। उनको पता लगा कि जिन परिवारों मे क्षय-रोग की प्रवणशीलता अधिक होती है उनमे अनेक व्यक्तियों मे वसा के प्रति अरुचि पाई जाती है और थोडा-सा वसामय पदार्थ के भोजन से भी पाचन-विकार हो जाता है। कुछ रोगी ऐसे भी देखने मे आते हैं जिनको कर्बोज (Carbohydrates) विशेषकर मीठे पदार्थ अच्छे नहीं लगते। मिठाई के खाने से उनमे कुपच हो जाता है।

बहुत से रोगियो में फेफडे की दशा सुधरने पर भूख बढने लगती है, परन्तु कुछ ऐसे भी देखने मे आते हैं जिनमें रोग के धीरे-धीरे बढने पर भी

भूख बढ़ने लगती है जिससे यह प्रतीत होता है कि शरीर में क्षयी विषो के प्रति सहिष्णुता उत्पन्न होजाती है।

क्षय-रोग की प्रारम्भिक अवस्था में अधिकाश रोगियों की पाचनशक्ति अच्छी होती है। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि क्षय रोग में पाचन शक्ति फेफड़ों में रोग होने से पूर्व की पाचन-सस्थान की दशा पर साधारणत निर्भर होती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, दूध और अडो के अत्यधिक सेवन से अनेक रोगियो मे कुपच के लक्षण उत्पन्न होजाते हैं। इस विचार की इस बात से भी पुष्टि होती है कि भोजन मे यथोचित सशोधन करने से ये लक्षण मिट जाते हैं। सम्वृद्ध रोगियो और शराबियो को छोडकर अन्य रोगियों मे, यदि इस अवस्था मे वमन होता है, तो वह खाँसी के कारण होता है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अनेक रोगियों मे हृदय मे जलन, भोजन के पश्चात् पेट में पीडा, उबकाई, डकार, मुँह मे पानी भर आना, इत्यादि लक्षण होते हैं, फिर भी आमाशय की जाँच करने पर उसमें कोई विकार नही मिलते।

अरुचि के कारण—ऐसा प्रतीत होता है कि क्षय रोग मे अरुचि विष व्यापन से उत्पन्न होती है। क्षय रोग के प्रारम्भ मे जाँच करने से आमाशय की रचना तथा कार्य मे कोई स्थिर परिवर्तन नहीं मिलते है। कुछ रोगियो मे उदजहरिक (Acid hydrochloric) कम और कुछ मे अधिक मिलती है और बहुतसों मे ठीक मात्रा में मिलती है।

कुछ लोगो का मत है कि प्रारम्भिक क्षय मे पाचनसम्बन्धी जो विकार मिलते हैं, उनका कारण व्यापक रक्ताभाव होता है। रक्त की कमी से पाचक रस कम बनता है, अनैच्छिक मासपेशियाँ दुर्बल होजाती हैं और आमाशय की वात-नाडी के सिरे कुपित होजाते हैं।

सम्वृद्ध क्षय में पाचनसम्बन्धी लक्षण—क्षय-रोग के प्रारम्भ के अरुचि इत्यादि पाचन-विकार रोगी की दशा सुधरने और रोग के घटने पर शान्त होजाते हैं और रोगी अच्छा होजाता है, परन्तु उन रोगियों में, जिनमे रोग प्रगतिशील होता है और विशेषकर उनमे, जिनके फेफडो मे रध्र बन जाते हैं, मन्दाग्नि के लक्षण बने रहते हैं। जाँच करने पर ज्ञात हुआ है कि लगभग दो तिहाई रोगियों मे आमाशय के फूल जाने के चिह्न मिलते हैं। आमाशय के फूलने की मात्रा का फेफड़े के विकार के विस्तार और पुरातनता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रतीत होता है। यह ठीक है कि आमाशय का फूलना

क्षय-रोग से पहले का भी हो सकता है और यह पहले बताया भी जा चुका है कि निर्बल शरीर-रचनावाले व्यक्तियों मे अन्य लोगों की अपेक्षा क्षय-रोग अधिक होता है। परन्तु क्षयी विषों के व्याप्त होने से भी पेट फूल सकता है, क्योंकि इन विषों से मांसपेशियाँ निर्बल होजाती हैं।

आमाशय का पुरातन प्रदाह प्राय मिलता है, परन्तु उसमे क्षयी व्रण बहुत कम पाये जाते हैं। सम्भवत इसका कारण यह है कि आमाशय मे लसिका-तन्तु बहुत कम होता है और उसके पाचकरस क्षय-कीटाणुओं की वृद्धि के लिए अहितकर होते हैं। ब्रोम्पटन अस्पताल के २००६ रोगियों के मृत-शरीरो की परीक्षा करने पर केवल दो मे क्षयी-व्रण मिले थे।

अधिकाश सम्वृद्ध क्षय रोगियो मे भूख कम होजाती है और जो रोगी कुछ खाने की चेष्टा करते हैं, उनको कुछ चीजे अच्छी लगती हैं और कुछ बुरी। क्षय रोगियो को खिलाने मे कठिनाई का यह भी एक कारण है। कुछ रोगी ऐसे भी देखने मे आते है जिनको भूख अन्त तक बहुत अच्छी बनी रहती है। भोजन के बाद उदर मे पीडा, उबकाई, डकार इत्यादि कष्ट होते हैं और कभी कभी वमन भी होजाता है। सम्वृद्ध रोगियो मे कभी कभी वमनकारक खाँसी मिलती है, परन्तु साधारणत इस अवस्था में वमन खाँसी के कारण नहीं होता, आमाशय मे विकार होने से होता है। इसप्रकार के वमन से पूर्व साधारणत उबकाई आती है और खाँसी नहीं होती, जैसा कि वमनकारक खाँसी मे होता है। वमन के बाद उबकाई घटो तक जारी रहती है। कुछ रोगियो में वमन के कारण भोजन रुकता ही नही। ऐसे रोगियो का भविष्य बडा बुरा होता है।

विषम तापवाले रोगियो मे आमाशय का प्रदाह प्राय बहुत कष्टप्रद होता है और रात्रि-स्वेद, खाँसी, अतिसार इत्यादि के साथ वमन क्षय-रोग का एक अन्तिम लक्षण होता है। अनेक रोगियो मे फेफडे सम्बन्धी लक्षण इतने प्रधान होते हैं कि उनसे पाचक लक्षण भी छिप जाते हैं, परन्तु प्राय पाचक लक्षण भी इतने प्रमुख होते हैं कि उनकी देखभाल करना और उन पर ध्यान देना आवश्यक होता है। यकृति के स्निग्धात्मक अपकर्ष के कारण पाचन-विकार और भी बढ जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्वृद्ध क्षय-रोग मे साधारणत बदहजमी का सम्बन्ध रक्तनिर्माण से होता है और उसका मुख्य कारण शरीर में विषों का फैलना होता है। कफ के निगलने से भी आमाशय

मे विकार होजाता है। कफ से केवल अन्न-प्रणाली की श्लेष्मकला ही प्रकुपित नही होती, बल्कि कफ के शोषण से विष-व्यापन भी होता है।

अँतड़ियों के लक्षण—क्षय-रोग की प्रारम्भिक अवस्था मे अधिकाश रोगियो में अँतडियो मे कोई विकार नही होता। कुछ रोगियो में कब्ज होता है, परन्तु इसमे सन्देह है कि वह जितना आधुनिक जीवन और भोजन के कारण अन्य लोगों मे पाया जाता है, उससे अधिक क्षय रोगियो में पाया जाता है। कुछ रोगियो मे खाँसी के लिये जो शमनकारी औषधियाँ दी जाती हैं, उनसे भी कब्ज होजाता है।

कभी कभी क्षय-रोग के आरम्भ मे अतिसार भी होता है। यह प्रधानत जीवन की दोनो सीमाओं पर, दस वर्ष से कम आयुवाले बालकों मे और वृद्धो मे पाया जाता है। बालको मे कभी कभी क्षय-रोग का केवल यही एक लक्षण होता है। उनके वक्षस्थल की परीक्षा करने पर कोई निश्चयात्मक चिह्न नहीं मिलते, न श्वास प्रणालियों की ग्रन्थिवृद्धि के ही चिह्न मिलते हैं। वृद्ध रोगियो मे लगातार पुरातन अतिसार मिलने पर वक्षस्थल की सावधानी से परीक्षा करनी चाहिये। जाँच करने पर फेफडो मे पुराने क्षयी विकार मिल जाते हैं और कफ की जाँच करने पर उसमे क्षय-कीटाणु भी मिल सकते हैं।

कुछ रोगियो मे रोग की अवधिभर आँतो की क्रिया ठीक ठीक बनी रहती है परन्तु ऐसा कम होता है। अधिकाश रोगियो मे रोग के बढने पर अतिसार होजाता है। अनेक रोगियो मे इसका कारण अँतडियो मे क्षयी व्रण होते हैं। परन्तु अन्यान्य रोगियो मे इसका कारण कुपथ्य से उत्पन्न अँतडियो का प्रदाह होता है। अनेक रोगियो मे दूध, अडा तथा वसामय पदार्थो के अत्यधिक सेवन से अतिसार होजाता है जो इन पदार्थो के कम कर देने से अच्छा होजाता है। जिन क्षय रोगियो मे अँतडियो का विकार पहले से होता है, उनमे अतिसार अधिक होता है। रोग की साध्यासाध्यता अतिसार के कारण पर निर्भर होती है। जब आँतो मे सिस्थात्मक अपकर्ष या क्षयी व्रण होने के कारण अतिसार होता है तो वह बडा भयकर होता है।

कृशता—काय क्षीणता क्षय-रोग का एक प्रधान लक्षण होती है। क्षय-रोग मे सब धातु क्षीण होजाती हैं इसीलिये इसका नाम क्षय रोग पडा

है। क्षयी विषो के व्याप्त होने से शरीर का क्षीण होना इस बात से सिद्ध होता है कि पशुओं मे भी प्रयोगोत्पन्न रोग मे शरीर कृश होजाता है।

उग्र धावमान तथा उग्र व्यापक क्षय-रोग मे काय-क्षीणता क्रमश बढती जाती है और इतनी अधिक होजाती है जितनी फुप्फुस-प्रदाह, मोतीझरा इत्यादि अन्य किसी रोग मे नही होती। इन रोगों से उग्र क्षय की पहचान करने मे यह एक महत्त्वपूर्ण बात होती है। बच्चो मे यदि खसरा या कुकरखाँसी के बाद शरीर क्षीण होता जाय और उसके साथ श्वास-कष्ट, शीघ्रगामी नाडी इत्यादि लक्षण व्यक्त हो, तो उग्र क्षय का सन्देह करना चाहिये।

क्षय-रोग मे लगभग सब अवस्थाओ मे कुछ न कुछ पाचन-विकार होते हैं। इन विकारो से शरीर की क्षीणता उत्पन्न होती है और बढ जाती है। परन्तु जिन लोगों मे पाचन-शक्ति ठीक बनी रहती है, उनमे भी काय-क्षीणता होती है।

कायक्षीणता की मात्रा—केवल त्वचा के नीचे का वसामय तन्तु ही क्षीण नही होता, बल्कि मासपेशियाँ भी बडी शीघ्रता से क्षीण होजाती हैं। यह बात ध्यान देने योग्य हे कि सबसे पहले उरच्छदा, असच्छदा अन्तर्पार्श्विक इत्यादि वक्ष.स्थल की मासपेशियाँ क्षीण होती हैं। अनेक रोगियों मे वक्ष की क्षीण मासपेशियों और हाथ पैरो की सुदृढ मासपेशियों का अन्तर स्पष्टरूप से दिखाई पडता है। वक्ष की रोग की ओर की मास-पेशियाँ तथा वसामय तन्तु दूसरी ओर की अपेक्षा शीघ्र और अधिक क्षीण होजाती हैं। इसका परिणाम यह होता हे कि अक्षकास्थि और असप्राचीरक के ऊपर के गड्ढे रोग की ओर अधिक गहरे होजाते हैं। रोग की पहचान में मासपेशियों की क्षीणता की इस विशिष्टता की उपयोगिता हाल मे ही ज्ञात हुई है। रोग के प्रारम्भ में कुछ रोगियो मे चेहरा भरा बना रहता है, जिससे धड बहुत कुछ क्षीण होने पर भी रोगी की शारीरिक दशा के सम्बन्ध मे भ्रम होजाता है।

काय-क्षीणता का परिणाम—रोग के प्रारम्भ मे रोगी मे निर्बलता, थकावट, शक्ति का ह्रास इत्यादि जो लक्षण होते हैं, उनका कारण मासपेशियो की क्षीणता होती है। रोगी की दशा सुधरने का सर्वोत्कृष्ट चिह्न मासपेशियो की शक्ति का लौटना होता है। काय-क्षीणता और रोग की गति मे प्रत्यक्ष

सम्बन्ध होता है। फेफड़े में रोग की प्रत्येक वृद्धि और प्रत्येक रक्त-स्राव के साथ रोगी का वजन कम होजाता है, रोगी की दशा सुधरने पर वजन बढ़ने लगता है और शान्त रोग में वजन स्थिर रहता है। यह कहा जा सकता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर, जिनका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा, रोगी के वजन का लेखा क्षय रोग के विकास का अच्छा द्योतक होता है और यदि शारीरिक ताप के साथ साथ उस पर विचार किया जाय तो रोगी की दशा का साध्यासाध्यता की दृष्टि से भली प्रकार पता लगाया जा सकता है।

परन्तु इसमें कुछ अपवाद होते हैं। जिन रोगियों में रोग की प्रगति रुक जाती है अर्थात् जिनमें रोग शान्त होकर सुलगता रहता है, उनका अनिश्चित काल तक वजन कम रहता है। वे अच्छे बने रहते हैं और काम-काज करने के योग्य बने रहते हैं।

जब रोगियों का वजन लगातार कम होता जाय तो उनको बतलाना उचित नहीं होता, क्योंकि इससे निरुत्साहित होकर उनकी दशा और भी बिगड़ने लगती है। इसके विपरीत यह प्राय देखा जाता है कि चिकित्सक या स्वास्थ्यशाला के परिवर्तन से रोगी का वजन बढ़ने लगता है और उनको यह झूठी धारणा होजाती है कि हम अच्छे हो रहे हैं। परन्तु नये वातावरण की नवीनता का प्रभाव दूर होते ही लाभ होना रुक जाता है और कभी कभी वजन फिर घटने लगता है, यहाँ तक कि अन्त में भर्ती होने के समय की तोल से भी कम होजाता है। वजन की वृद्धि शुभ चिह्न तभी समझी जा सकती है जब वह लगातार कई महीनों तक होती रहे।

कुछ क्षय रोगियों में काय-क्षीणता शीघ्र और अत्यधिक होती है। कुछ महीनों में रोगी का शरीर केवल अस्थिपञ्जर शेष रह जाता है। इन रोगियों में रोग उग्र और वर्द्धमान होता है। कभी कभी कुछ रोगी ऐसे देखने में आते हैं जिनमें रोग पुरातन होता है और वर्षों तक रहता है, फिर भी कृशता बहुत होती है। पसलियाँ चमकने लगती हैं और उरवीक्षक यन्त्र ठीक ठीक नहीं लगाया जा सकता। इसप्रकार का क्षीणताकारक रोग बहुधा वृद्धों में पाया जाता है और चूँकि इन लोगों में ज्वर और खाँसी बहुत कम होती है, इसलिए इनको कैन्सर रोगी समझ लिया जाता है।

काय-क्षीणता का साध्यासाध्य विचार में महत्त्व—स्वास्थ्य-शालाएँ साधारणत अपनी उपयोगिता का विज्ञापन प्रकाशित करती हैं और

यह दिखलाती हैं कि उनमें इतने दिनों तक रहने पर रोगियों का औसत वजन इतना पौंड बढ़ा है। रोगी भी साधारणत अपनी उन्नति का अनुमान तोल ही से करते हैं। अधिकाश रोगियों मे यह ठीक होता है। जो रोगी उन्नति करते जाते हैं, उनका वजन बढता है। वजन का लगातार घटना अरिष्ट का चिह्न होता है। परन्तु इसमे कुछ अपवाद होते हैं। किसी सस्था में रहकर या घर पर बहुत दिनों तक आराम करने से तथा पौष्टिक भोजन खाने से रोगियों का जो वजन बढता है वह अच्छा तो अवश्य होता है, परन्तु रोगी को रोग-निवृत्त समझने के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ से निकलने पर और पुन अपना व्यवसाय आरम्भ करने पर वजन की बढती स्थिर रहे। इस सम्बन्ध मे पेटर्सन की क्रमिक श्रम चिकित्सा की पद्धति सस्थाओं के अन्य इलाजो से अच्छी होती है। क्रमिक श्रम की पद्धति से जो लाभ होता है, वह अन्य सस्थाओ के, जिनमे रोगी सुस्त पड़े रहते हैं, लाभों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इसी प्रकार जो रोगी घर पर रहकर अपना इलाज करते हैं और इलाज के समय कुछ कामकाज भी करते रहते हैं, उनमे जो लाभ होता है वह उन सस्थाओ के लाभ से अधिक स्थायी होता है जिनमे रोगी चारपाई पर पडे रहते हैं।

वजन की बढती का मूल्य निर्धारित करने मे बडी सावधानी से काम लेना चाहिये। कभी कभी यह देखा जाता है कि रोग बढ रहा है परन्तु साथ ही साथ वजन भी बढ रहा है। यह देखकर बडा आश्चर्य होता है। परन्तु सावधानी से जाँच करने पर विदित होता है कि पैरो पर सूजन आ रही है जो वजन बढने का कारण है।

कभी-कभी ऐसे रोगी देखने मे आते हैं जिनमे रोग फेफडे से तो अच्छा होता रहता है और भूख भी अच्छी लगती है, फिर भी वजन घटता जाता है। साधारणत इसका कारण अंतडियो मे क्षय-रोग होता है, जिसमे विशिष्ट लक्षण अतिसार नही होता। यह एक स्मरण रखने योग्य बात है, क्योंकि प्राय यह निर्णय करना बडा कठिन होता है कि अँतडियो मे रोग हुआ है या नही। रोगी का भविष्य अँतडियो की दशा पर बहुत कुछ निर्भर होता है।

ऋतु का प्रभाव—क्षय रोगियों के वजन पर ऋतु के प्रभाव का अध्ययन स्वास्थ्यशालाओ मे सब से अच्छा होता है। इस विषय मे बडे

महत्त्वपूर्ण अन्तर मिलते हैं। अमेरिका के संयुक्तराज्य मे जॉच करने से पता लगा है कि रोगी का वजन अगस्त से दिसम्बर तक बढता है और दिसम्बर से मार्च तक लगभग स्थायी रहता है। अप्रैल और अगस्त के बीच मे फिर कम होजाता है। जुलाई मे सब से अधिक मृत्यु होती है। अमेरिका की अन्य स्वास्थ्यशालाओ मे भी जाँच करने से यही विदित होता है कि क्षय रोगियो का वजन जाडे मे बढता है और गरमियो मे कम होता है।

अन्य प्रकार के जलवायु के स्थानों के सम्बन्ध मे यह बात ठीक नही होती। डेनमार्क देश की आठ स्वास्थ्यशालाओ के क्षय रोगियो के वजन का सावधानी से अध्ययन करने पर यह पता लगा है कि दिसम्बर से मई तक रोगियों का वजन कम बढता हे। उसके बाद वजन बराबर बढने लगता है और सब से अधिक बढती सितम्बर मे होती है। अक्टूबर से वजन फिर कम होने लगता है और सब से अधिक कमी दिसम्बर मे होती है। यह दशा अमेरिका से बिलकुल विपरीत है।

भारतवर्ष मे मैदानो मे रोगियो का वजन जाडों मे अक्टूबर से बढना प्रारम्भ होता है और गरमियो मे अप्रैल से घटने लगता है। इस विषय पर ऋतु सम्बंधी परिवर्तनो का क्या असर होता है, इसकी सावधानी से जॉच करने की आवश्यकता है।

स्थूलकायों में क्षय-रोग—कुछ लोग देखने मे हृष्ट-पुष्ट प्रतीत होते हैं, परन्तु उनको खाँसी आती है, कफ निकलता है, जिसमें क्षय-कीटाणु भी होते हैं, कुछ हरारत भी होती है और कभी-कभी रात्रि-स्वेद भी होता है। जब ऐसे रोगी परीक्षा के लिए आते हैं तो वक्षस्थल में एक या दोनों फेफडों मे क्षय रोग के चिह्न मिलने पर भी उसको क्षय रोगी बतलाने मे चिकित्सक को संकोच होता है। ऐसे रोगियों मे रोग की गति धीमी होती है और वे वर्षों तक चलते हैं। कुछ रोगियो एव चिकित्सकों को केवल कफ मे क्षय कीटाणु मिलने पर ही विश्वास होता है कि क्षय रोग है।

स्त्री क्षय रोगियो मे वसावृद्धि बहुधा रजोनिवृत्ति के समय या उसके पश्चात् मिलती है। कभी कभी यह पुरुषों मे भी पाई जाती है, विशेषकर उनमे जो मदिरापान करते हे और जिनको पहले उपदंश हो चुका है। ऐसे रोगियों को बहुधा बहुत भूख लगती है और जब उनसे खूब खाने के लिए कहा जाता है तो खूब खाने लगते हे। आराम करने के साथ अधिक भोजन



मे जाग्रत रोग के होते हुए भी रोगी मोटा होजाता है। वायुध्मान रोग मे क्षय-रोग होने पर और सूत्रोल्वण क्षय मे, रोगियो का वजन प्राय औसत से अधिक होजाता है।

वसामय क्षय-रोग बच्चो मे भी मिलता है, विशेषकर क्षयी माता पिता की सन्तान मे। देखने मे वे हृष्ट-पुष्ट और मोटे प्रतीत होते हैं, परन्तु जब उनकी मासपेशियो की जॉच की जाती है, तो वे पिलपिली और मुलायम मिलती है। इन ढीले शरीरवाले मोटे बच्चो मे सक्रमण के रोकने की शक्ति नही होती। किसी भी उग्र रोग से शान्त क्षय-रोग जाग्रत होकर उनकी मृत्यु का कारण बन जाता है।

त्वचा—मासपेशियो और वसा के क्षीण होने के अतिरिक्त क्षय-रोग मे त्वचा भी शीघ्र क्षीण होने लगती है। निरीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि रोगस्थल के ऊपर की त्वचा पतली होजाती है, और अधोगत ततु क्षीण होजाते हैं। पोटेञ्जर के मतानुसार यह त्वचा की क्षीणता व्यापक क्षीणता का एक अश होता है और रोग के कुछ दिनो तक चलने के बाद होता है। यद्यपि यह क्षय-रोग मे अपेक्षाकृत जल्दी भी मिलता है तथापि इससे रोग की पुरातनता ही सूचित होती है न कि नूतनता। ऐसे रोगियो मे यह माना जा सकता है कि पुराना शान्त रोग फिर से जाग्रत होगया है।

रोगी का वर्ण साधारणत पीला होता है, यद्यपि कभी कभी ऐसे रोगी भी देखने मे आते हैं जिनमे रोग बढने पर भी चेहरे का रङ्ग अच्छा बना रहता है। कुछ रोगियो के चेहरे पर विषम प्रदीप्ति (Hectic flush) दिखाई पडती है। यह प्राय उसी समय होती है, जब ज्वर बढता है। यह प्रदीप्ति फेफडे मे रोग की दिशावाले केवल एक कपोल पर होती है। सूत्रोल्वण क्षय तथा वायुध्मानवाले रोगियो मे, जिनमे हृदय का दाहिना कोष्ठ फूल जाता है, चेहरे पर श्यामता आ जाती है। श्यामता उग्र व्यापक बजरीले क्षय का एक प्रधान लक्षण होती है। अनेक रोगियो मे जिनमे विस्तृत रध्र होते हैं, श्यामता बहुत कम होती है। जॉच करने पर अधिक से अधिक होठो पर कुछ नीलापन मिलता है। परन्तु सूत्रोल्वण क्षय मे श्यामता प्राय अधिक होती है। मेयर सोलिम कोहिन का मत है कि २५ से ३३ प्रतिशत क्षय-रोगियो मे तमक, जलन, स्वेद, पित्ती इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं।

रंगीन धब्बे—क्षय-रोग में कभी कभी चेहरे के ऊपरी भाग तथा मस्तक पर चिकने और चमकीले धब्बे दिखाई देते हैं। वे बहुधा अलग अलग होते हैं, परन्तु कभी कभी उनके मिलने से बडे बडे चकत्ते बन जाते हैं, जिनसे स्त्री रोगियों को बडी घबराहट होजाती है। ये चकत्ते बहुधा उन रोगियों में होते हैं जिनकी लसिका-ग्रन्थिया बढी हुई होती हैं और ऐसे रोगियो में रक्त निष्ठीवन बहुत कम होता है।

जिन रोगियों को पसीना अधिक आता है उनके वक्ष स्थल और उदर पर छोटे छोटे दाने निकल आते हैं।

सेहुआँ या बनरफ—त्वचा का यह रोग क्षय-रोग में बहुत मिलता है। इसके चकत्ते वक्ष स्थल पर आगे और पीछे बहुत होते हैं और त्वचा से कुछ उभरे हुए होते हैं। आकार में गोल या अंडाकार होते हैं। उनको खुरचने से बहुत छोटी छोटी पपडियाँ निकलने लगती हैं। इन चकत्तों का रंग गेहुँआ होता है। जो रोगी अपने शरीर को साफ नहीं रखते, उनमें इन दानों के मिलने से बडे बडे चकत्ते बन जाते हैं, जिनको खुजलाने पर पपड़ियाँ झडने लगती हैं।

यह चर्म-रोग उन क्षय रोगियों में अधिक मिलता है जिनको रात में पसीना अधिक आता है और जिनकी त्वचा में पपडी पडने की प्रवृत्ति होती है। जब वक्ष पर होता है तो सेहुआ क्षय-रोग का द्योतक होता है, यद्यपि यह अन्य क्षीणताकारक रोगों में भी होता है।

क्षयी विस्फोटक—क्षय-संक्रमण तथा क्षय-रोग के सम्बन्ध में जो दाने त्वचा पर निकलते हैं उनको क्षयी विस्फोटक (Tuberculides) कहते हैं। उनमें से दो प्रकार के दाने मुख्य होते हैं —

(१) मुँहासे के सदृश दाने—ये दाने तरुण रोगियों में बहुधा पाये जाते हैं और प्रधानत रोगी के चेहरे पर होते हैं। ये छोटी छोटी लाल लाल या काली फुन्सियाँ होती हैं। प्रत्येक फुन्सी लगभग एक महीने रहती है। इसके बाद यह सूख या पक जाती है। पककर फूटने पर एक छोटा सा क्षत चिह्न शेष रह जाता है। इन फुन्सियों की फसल एक के बाद दूसरी निकलती रहती है, इसलिए एक ही रोगी के चेहरे या पीठ पर अथवा पुट्ठों के बीच में बिखरी हुई फुन्सियाँ विभिन्न अवस्थाओं में मिल जाती हैं। मुहाँसों की भाँति इनमें कील और चिकनाहट नहीं होती।

(२) दूसरे प्रकार के दाने भी तरुण रोगियो मे पाये जाते है। दानो की भी एक के बाद दूसरी फसल लगातार हाथ, प्रकोष्ठ, उगली, को घुटने, पैर और कानो तथा कभी कभी चेहरे पर निकला करती है। प्र पिडिका गहरे लाल रग की होती है, जिसका शिखर एक सप्ताह मे जाता है। पके हुए दाने सूखकर उन पर पपडी पड जाती है, जो कई स तक निकला करती है। पपडियो के छूटने पर कुछ दबे हुए क्षत-चिह्न शेष जाते हैं।

इसमे कोई सन्देह नही कि इन दानो का सम्बन्ध क्षय-संक्रमण होता है, परन्तु प्रधानत ये ग्रन्थि, अस्थिकला तथा त्वचा के क्षय मे अधि पाये जाते हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि ये दाने प्रधानत उन रोगि मे होते हैं जिनमे उपरोक्त प्रकार के क्षय-रोग सुप्त या शान्त अवस्था मे ह हैं। फुफ्फुस-क्षय के जिन रोगियों मे ये विस्फोटक होते हैं, उनमे रोग बहुध निश्चेष्ट होता है। यद्यपि उनमे क्षय-कीटाणु बहुत थोडे पाये जाते हैं, फि भी साधारण मत यह है कि वे क्षय-कीटाणुओ के त्वचा मे स्थित होने उत्पन्न होते है।

इस पुस्तक मे अन्यत्र यह बतलाया गया है कि त्वचा और फेफडो क्षयी-विकारो मे परस्पर विरोध होता है। त्वचा के इन क्षयी विस्फोटकों से इस बात का समर्थन होता है। सभी लेखकों का कहना है कि इन दानों के अवधिकाल मे न ज्वर होता है, न कोई अन्य लक्षण और अधिकाश रोगियों मे या तो गुप्त क्षय के लक्षण होते हैं या उनके परिवार मे क्षय-रोग का होना पाया जाता है। इसलिये रोगी को यह आश्वासन देना चाहिये कि रूप के विचार से यह रोग अवश्य बुरा है, परन्तु इसमें फेफडो मे क्षय रोग होने का भय नहीं होता। जिन लोगो मे क्षय-रोग हो, उनमे इन दानो का निकलना शुभ का लक्षण होता है।

बाल—कुछ लोगों का कथन है कि अन्य रोगियों की अपेक्षा क्षय रोगियो मे गजापन अधिक होता है, परन्तु यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती। क्षय-रोग में बालों की चिकनाहट कम होजाती है और वे झड़ने लगते हैं।

गदाकार उँगलियाँ—गदाकार उँगलियों को लोग प्राचीन काल से क्षय-रोग का लक्षण मानते आये हैं। लगभग एक तिहाई सम्पूर्ण क्षय-

विशिष्ट लक्षण नहीं होती। क्षय रोग के अतिरिक्त अन्य कई रोगों में उँगलियाँ गदाकार होजाती हैं।

क्षय-रोग मे दोनो हाथो की उँगलियाँ साधारणत गदाकार होजाती हैं और उनके नख लम्बाई तथा चौडाई दोनों दिशाओं मे अधिक टेढे होजाते हैं। जाँच करने पर ज्ञात हुआ है कि राजयक्ष्मावाले रोगियों मे से ७५ से ९५ प्रतिशत में नखों मे परिवर्तन होजाते हैं। एक्सरे परीक्षा से यह विदित होता है कि हड्डियों तथा संधियों में कोई परिवर्तन नहीं होता और न त्वचा मे कोई विकार होता है। केवल त्वचा के नीचे के ततु अति पुष्ट होजाते हैं। निश्चेष्ट रोग की अपेक्षा जाग्रत रोग मे नखो और उँगलियों के परिवर्तन अधिक मिलते हैं।

अधिकाश रोगियो मे यह परिवर्तन अज्ञातरूप से होते हैं और रोगी को उस समय तक उनका पता नही चलता जब तक चिकित्सक उनकी ओर उसका ध्यान आकर्षित नहीं करते। परन्तु कुछ रोगियो मे ये परिवर्तन बहुत शीघ्र होजाते हैं और कुछ सप्ताहों मे ही उँगलियाँ गदाकार होजाती हैं।

गदाकार उँगलियाँ सब पुरातन क्षय-रोगियो मे नहीं मिलती। अनेक क्षय-रोगियों की उँगलियाँ ठीक बनी रहती है और कुछ की लम्बी शुडाकार होजाती हैं। सूत्रोल्वण क्षय मे तथा वायुध्मानवाले क्षय-रोगियों मे और उन रोगियों मे जिनमे पार्श्वकला मे बन्धन बन जाते हैं, गदाकार उँगलियाँ सदैव मिलती हैं।

अस्थियों और संधियों में परिवर्तन—कुछ सम्वृद्ध क्षय-रोगियो मे हाथ और पैर मोटे होजाते हैं। उँगलियाँ बडी होजाती हैं और नख तोते की चोंच की भाँति बडे और टढे होजाते हैं। अधिकाश रोगियो मे कलाई मोटी और विकृत होजाती है। कुछ रोगियो मे पृष्ठ वश टेढा होजाता है और पैरो मे कलाई और हाथों के समान परिवर्तन होजाता है।

क्षय-रोग मे अस्थियो और संधियो के इन परिवर्तनों पर अभी तक कोई प्रकाश नही पडा है। यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि हाथों और पैरों के ये परिवर्तन साधारणत अति पुरातन क्षय-रोग मे, विशेषकर सूत्रोल्वण क्षय रोग मे, पाये जाते हैं।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

रक्त तथा मूत्र संस्थान सम्बन्धी लक्षण



हृदय और नाड़ी संस्थान

हृदय की धड़कन—क्षय रोग में हृदय तथा नाडियों के विकारो मे सब से प्रधान लक्षण धड़कन, नाडी की द्रुतगति और रक्तभार मे कमी होते हैं।

क्षय-रोग के प्रारम्भ मे हृदय की धड़कन प्रधानत तरुण रोगियो में होती है, विशेषकर उन युवतियों मे, जिनमे रक्त की कमी होती है। थोड़े से परिश्रम या चित्तोद्वेग से और कभी कभी अकारण ही धड़कन होने लगती है। कभी कभी यह बड़े जोर की होती है और अकेले इसी लक्षण के लिए रोगी चिकित्सक के पास जाते हैं। कभी कभी धड़कन के साथ हृदय-प्रदेश मे शूल या कष्ट, पांडुता, चेहरे की प्रदीप्ति, स्वेद इत्यादि रक्त-नाड़ी-नियन्त्रण-सम्बन्धी अन्य लक्षण भी होते हैं।

कुछ रोगी ऐसे देखने मे आते हैं जिनमे क्षय-प्रारम्भ के लक्षणो और चिह्नो के प्रकट होने से पहले ही धड़कन होती है। इसलिये उनका हृदरोग का इलाज होने लगता है। जैसा कि आगे चलकर क्षय-रोग की पहचान सम्बन्धी परिच्छेद मे बताया जायगा, चुल्लिका-ग्रन्थि की तेज़ी (Hyperthyroidism) के लक्षणो से प्राय क्षय रोग का भ्रम होजाता है। कभी कभी इसका उल्टा भी होता है। नाडी की द्रुतगति, स्वेद की प्रवृत्ति, चेहरे की प्रदीप्ति, कृशता इत्यादि लक्षणों का कारण चुल्लिका ग्रन्थि की तेजी समझ ली जाती है और उसी का इलाज किया जाता है, परन्तु वक्ष की सावधानी से परीक्षा करने पर क्षयी-विकारों का पता लग जाता है।

कुछ क्षय रोगियों में, विशेषकर युवक या युवतियों मे और रजो-निवृत्ति-काल में, स्त्रियों मे हृदय की दुर्बलता के लक्षण पाये जाते हैं। ऐसे

रोगियो के चेहरे पर श्यामता, हाथ पैर ठडे और श्याम वर्ण, नाडी कुछ निर्बल, रक्त-नाडियो का चाप कम और उदरेन्द्रियो की शिराओं मे रक्तावष्टम्भ होता है। इस प्रकार के क्षय रोगियो का इलाज बहुधा स्नायविक दुर्बलता, चुल्लिका-ग्रन्थि की तेजी इत्यादि विकार समझकर होता रहता है। दूसरी ओर अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि जब ये लक्षण प्रबल होते हैं तो फेफडो मे रोग हलका होता है और उसकी अच्छा होने की प्रवृत्ति होती है।

इस अवस्था मे हृदय की धडकन के क्या कारण होते हैं, इसका विशद ज्ञान अभी तक नहीं हुआ है। कुछ लोगो का विचार है कि इसका कारण हृदय के दाहिने कोष्ठ का फूलना होता है, परन्तु धडकन उन लोगों मे भी पाई जाती है, जिनका हृदय ठीक होता है। अन्य लोगों का विश्वास है कि धडकन रक्त की कमी के कारण या पिङ्गल नाडी के विकारो के कारण होती है। अनेक रोगियो मे धडकन का यह पिछला कारण स्पष्टत दिखाई पडता है, क्योंकि यह बहुधा अधीर रोगियो में, युवतियो मे और रजोनिवृत्ति काल मे स्त्रियो मे मिलती है। हृदय की चालक दसवीं नाडी पर बढी हुई लसिका-ग्रन्थियो का दबाव होने से भी धडकन हो सकती है। क्षय-रोग के विषों का हृदय पर अवश्य ही बडा प्रभाव पडता है, जिसमे हृदय मे द्रुतगति और धडकन उत्पन्न होजाती है।

सम्वृद्ध परन्तु उपशान्त क्षय रोगियो में भी हृदय उत्तेजित होता है। रोगी के अच्छा होने की दशा मे भी जब ज्वर, खाँसी या कृशता, इत्यादि कोई भी लक्षण नहीं होता, थोडे से परिश्रम या चित्तोद्वेग से हृदय उत्तेजित होजाता है और रोगी को कष्ट तथा हृदयशूल तक होजाता है। इन रोगियो मे धडकन हृदय के स्थानच्युत होने से होती है और बाईं ओर के रोग मे अधिक होती है। बाएँ फेफडे मे विस्तृत रन्ध्र बन जाने से फेफडे के सिकुडने पर मध्य वक्ष बाईं ओर को और वक्ष-उदर मध्यस्थ पेशी ऊपर की ओर खिंच जाती है। इसलिये हृदय ऊपर और बाईं ओर को हट जाता है। हृदय के दाहिनी ओर हटने में इतनी अधिक धडकन नहीं होती।

सिवाय सम्वृद्ध अवस्था के, जब कि धडकन हृदय के स्थानच्युत होने से होती है, क्षय रोग की गति पर धडकन का कोई प्रभाव नहीं होता। अधीर स्वभाववाले रोगियों मे रोग की प्रारम्भिक अवस्था मे धडकन उन रोगियों मे भी मिलती है जो लगातार अच्छे होते जाते हैं, परन्तु रोगनिरूपण की दृष्टि से यह एक बडा मूल्यवान लक्षण होता है। हिर्जे का कहना है कि जब

कोई रोगी धडकन की शिकायत करे तो उसके फेफडों की परीक्षा करनी चाहिए। यद्यपि यह बात हर एक रोगी पर लागू नहीं होती तथापि यह स्मरण रखनेयोग्य है। कुछ क्षय रोगियों में रक्त निष्ठीवन के होने से एक दो दिन पूर्व से धडकन होने लगती है।

हृदय की द्रुतगति—हृदय की द्रुतगति बहुधा क्षय-रोग की सब अवस्थाओं म मिलती है। धडकन से यह इस बात म भिन्न होती है कि इसका केवल चिकित्सक को ही पता चलता है रोगी को इसका ज्ञान नहीं होता। इसके प्रतिकूल धडकन केवल एक आत्मगत लक्षण होती है। लगभग ९० प्रतिशत प्रारम्भिक क्षय मे हृदय की द्रुतगति पाई जाती है। क्षय-रोग का यह एक ऐसा लक्षण है जिसको लोग प्राय. उतना महत्त्व नही देते, जितना देना चाहिए। रोग के सन्देह के निर्णय मे इससे प्राय बडी सहायता मिलती है।

हृदय की द्रुतगति रोग के विषों से उत्पन्न हो सकती है। अन्य ज्वरों की भाँति क्षय-रोग मे भी शारीरिक ताप के बढने के साथ साथ नाडी की गति बढ जाती है, परन्तु यह प्राय उन रोगियो मे भी स्पष्टत पाई जाती है जिनमे ज्वर नही होता तथा जिनका शारीरिक ताप आरोग्य-ताप से भी कम होता है। वास्तव में क्षय रोग में ज्वर की तुलना म नाडी की गति बहुत अधिक तेज होती है। अन्य रोगो मे एक डिगरी शारीरिक ताप बढने से नाडी की गति साधारणत प्रति मिनट आठ बढती है, परन्तु क्षय-रोग मे १०० डिगरी के ताप-परिमाण पर नाडी की गति बहुधा १२० या इससे भी अधिक मिलती है। वास्तव मे अधिकाश ज्वररहित रोगियों मे नाडी की गति प्रति मिनट ९० से ऊपर होती है और प्रात काल जब शारीरिक ताप बहुत कम होजाता है, द्रुतगामी नाडी का मिलना असाधारण नही होता। अस्तु, नाडी की द्रुतगति क्षय-रोग का एक प्रारम्भिक लक्षण होती है और कुछ विशेषज्ञ इसको क्षय-रोग का एक पूर्व लक्षण मानते हैं।

हृदय की स्थायी द्रुतगति—अधिकाश क्षय रोगियों मे हृदय की द्रुतगति स्थायी होती है और उसके साथ साथ धडकन, क्लान्ति, निर्बलता, श्वास-कष्ट इत्यादि लक्षण होते हैं। अन्यान्य रोगियों मे यह केवल विषयात्मक (Objective) होती है और रोगी को इसके अस्तित्व का पता नहीं होता। ऐसे अनेक रोगी मिलते है जिनमें रोग के रुकने या निवारण होने पर भी नाडी की द्रुतगति बनी रहती है। कभी कभी रोगी की कार्य शक्ति में इससे बाधा पडती है।

क्षय रोगी की नाड़ी की दूसरी विशेषता उसकी अस्थिरता और और चचलता होती है। आराम करते समय गति ठीक रहती है, परन्तु खाँसी, चित्तोद्वेग, भरपेट भोजन, करवट बदलना इत्यादि बहुत थोडे परिश्रम से ही नाडी की गति ११० से १२० तक होजाती है। एक लेखक का कथन है कि क्षय रोग के समान अन्य किसी रोग मे नाडी इतनी चचल नहीं होती।

नाडी की द्रुतगति के दौरे—कतिपय रोगियो मे नाडी की द्रुतगति के दौरे होते हैं। रोगी अच्छा प्रतीत होता है, परन्तु अकारण अकस्मात् हृदय में धडकन होने और साँस फूलने लगती है और चेहरे तथा नखो पर कुछ श्यामता आ जाती है। नाडी की गति १५० से २०० प्रति मिनट तक होजाती है और वह निर्बल तथा प्राय अनियमित होजाती है। दौरा कभी कई घटे रहता है और कभी एक या दो दिन तक।

कई दौरों के बाद हृदय के फूलने के चिह्न मिलने लगते है। हृदय के फूलने से हाथ पैरो पर सूजन, यकृति की वृद्धि इत्यादि लक्षणो का प्रादुर्भाव होता है और अन्त मे हृदय का आकुचन रुककर रोगी की मृत्यु होजाती है। नाडी की द्रुतगति के दौरे बहुत भयानक और अशुभसूचक होते हैं और जब वे बार बार होने लगते हैं तो किसी एक दौरे मे रोगी की मृत्यु होजाती है। क्षय रोगियो मे कभी कभी जो आकस्मिक मृत्यु होजाती है, उसका यही कारण होता है।

नाडी की द्रुतगति के कारणो पर अभी तक ठीक ठीक प्रकाश नहीं पडा है। क्षय-रोग मे नाडी की स्थायी द्रुतगति से रोग अधिक असाध्य होजाता है। ऐसे रोगियो को पहाडो पर नहीं भेजना चाहिए। इसके कारण बडे जटिल और प्रत्येक रोगी मे भिन्न भिन्न होते हैं। जिन रोगियों में रोग के विषो के कारण नाडी की द्रुतगति होती है उनमे ज्वर कम होने पर नाडी की गति कम होजाती है।

नाड़ी की मन्दगति—क्षय रोग में धीमी नाडी बहुत विरल होती है। परन्तु जिनको बहुत से क्षय रोगी देखने का अवसर प्राप्त होता है, उनको कभी कभी एकाध रोगी ऐसा मिल जाता है जिसकी नाडी की गति मन्द होती है। इसका कारण हृद्रोग अथवा हृदय की चालक नाडी का प्रकोप होता है। जिन क्षय रोगियो मे नाडी की गति धीमी होती है, उनमे रोग अधिक साध्य होता है।

रोग की अन्तिम अवस्था में प्राय नाडी की गति धीमी, परन्तु निर्बल मिलती है, क्योंकि कुछ धडकने छूट जाती हैं। ऐसी नाडी हृदय की कार्यशक्ति की कमी की सूचक होती है। मस्तिष्कावरण के उपद्रवरूप प्रदाह मे नाडी की गति कम होजाती है।

रक्तचाप की कमी—अधिकाश क्षय रोगियो मे रक्तचाप कम हो जाता है। इसका कारण निस्सन्देह क्षय-कीटाणुओं के विषो का प्रभाव होता है, क्योंकि यक्ष्मिन की पिचकारी लगाने पर रक्तचाप कम होजाता है। सर डागलस पावल का कहना है कि पहले जब त्वचा तथा अन्य स्थानो के क्षय-रोग के यक्ष्मिनोपचार (Tuberculin treatment) में यक्ष्मिन का अधिक मात्रा मे प्रयोग किया जाता था उससे कभी कभी शक्तिपात होजाता था। कुछ आधुनिक लेखको को पता लगा है कि थोडी या साधारण मात्रा मे भी यक्ष्मिन देने से रक्तचाप कम होजाता है। क्षय-रोग के प्रारम्भ मे रक्त-चाप की कमी विशिष्ट स्थायी लक्षण होती है और जब यह विना किसी ज्ञात कारण के किसी प्रौढ मनुष्य में मिले तो क्षय-रोग का सन्देह करना चाहिए। जिन रोगियो मे क्षय-रोग के लक्षण और चिह्न स्पष्ट हों, यदि उनमे रक्तचाप कम मिले, तो क्षय-रोग का निश्चय समझना चाहिए। इसके विपरीत जिन रोगियो मे रक्तचाप अधिक हो, उनको क्षय-रोगी समझने में शङ्का होनी चाहिए।

रक्तचाप की यह कमी रोग के प्रारम्भ में सुस्पष्ट होती है और रोग की प्रगति की दशा मे और भी बढ जाती है। जिन क्षय रोगियो मे रक्तचाप प्रकृतिस्थ या अधिक हो उनको अधिक साध्य समझना चाहिए। जब रक्तचाप के बढानेवाले रोगों से पीडित व्यक्तियो मे क्षय रोग होता है तो वह अधिक साध्य होता है। यदि पहले रक्तचाप कम हो और वह धीरे धीरे बढने लगे तो उसको रोगी की दशा सुधरने का सर्वोत्कृष्ट चिह्न समझना चाहिए। इसके विपरीत प्रकृतिस्थ अथवा अधिक रक्तचापवाले क्षय रोगियों का रक्तचाप यदि कम होने लगे तो समझना चाहिए कि रोग बढ रहा है और रोगी की दशा बिगड रही है।

रक्त-विकार

लाल रुधिरकण—बहुत मे क्षय रोगियों में प्राय रक्त की कमी प्रतीत होती है, परन्तु इस रोग में रक्त-कणों की सख्या में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। वास्तव मे यह स्मरण रखने योग्य है कि बहुत मे क्षय

रोगियो के, जिनके चेहरे पीले होते हैं, रक्त मे कोई विकार नही मिलता। केवल रोग की सम्वृद्ध अवस्था मे रक्तराग (Hæmoglobin) कुछ कम होजाता है। कभी कभी लाल रुधिर कणो की सख्या बढ जाती है, परन्तु रक्तराग नही बढता। अधिक रक्त निष्ठीवन के बाद रक्त कम होजाता है, परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि रक्त की दशा रक्तपात बन्द होने के बाद बहुत शीघ्र ठीक होजाती है।

कभी कभी रोग के प्रारम्भ मे रक्तराग की प्रतिशत मात्रा कम होजाती है, परन्तु रोगी का ठीक ठीक इलाज होते ही और उसको यथोचित भोजन मिलने पर रक्तराग की कमी पूरी होने लगती है।

खोज से यह ज्ञात हुआ है कि रोग के बढने और फेफडो मे रन्ध्रो के बनने पर भी रक्त के रूप मे प्राय कोई परिवर्तन नही होता। रोग की इस अवस्था में रोगी के शरीर पर जो पीलापन दिखाई पडता है उसका कारण रक्त-कणो की सख्या का कोई विकार नही होता, बल्कि इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि शरीर के कुल रक्त की मात्रा कम होजाती है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि पसीने, कफ और दस्तो से शरीर से पानी अधिक निकल जाता है जिससे रक्त सघन होजाता है और उसकी मात्रा कम होजाती है।

श्वेत रक्त-कण—क्षय रोग के प्रारम्भ मे श्वेत रक्त कणों की सख्या और रूप-भेदो मे कोई परिवर्तन नही होता। उन रोगियो मे भी जबतक मिश्रित सक्रमण नही होता, श्वेत कणो की सख्या मे कोई परिवर्तन नहीं होता। कुछ विशेषज्ञो को श्वेत कणो की सख्या मे बढती मिली है, जो रोग के बढने पर और भी बढ जाती है। चूँकि यह वृद्धि थोडी होती है, इसलिए रोग की पहचान में इससे कोई सहायता नही मिलती।

बहुमत इस बात के पक्ष मे है कि स्वस्थ मनुष्यो की अपेक्षा क्षय-रोगियो मे श्वेत कणों की सख्या कुछ अधिक होती है। रोग के प्रारम्भ मे श्वेत कणो की निरपेक्ष वृद्धि मिलती है, परन्तु श्वेत कणों की सापेक्षिक वृद्धि केवल रोग की सम्प्राप्त अवस्था मे मिलती है और यह फेफडों के रोग की गभीरता के साथ साथ चलती है। अम्लरगेच्छु (Eosinophils) श्वेत कण रोग की सम्वृद्ध अवस्था मे सापेक्षिक और निरपेक्ष दोनो रूप से कम होजाते हैं, परन्तु यह बात बराबर नही मिलती। साधारणत यह कहा जा सकता है कि क्षय कीटाणु तथा उनके विषो का श्वेत रक्त-कणों पर कोई

रसायनाकर्षक (Chemotactic) प्रभाव नही होता और यह कहना क्षय-कीटाणुओं का श्वेत रक्त-कणों के दोनों प्रधान रूप-भेदों पर कोई विशे प्रभाव होता है, न्यायसगत नहीं है।

कुछ लोगों का मत है कि क्षय-रोग मे रक्त-कणिकाओं (Bloo Platelets) की सख्या बढ जाती है। उनका विश्वास है कि रक्त कणिकाओं में रक्त-कणों के जिघत्सावर्द्धक पदार्थ (Opsonins) होते हैं रक्त-कणिकाओं की संख्या ६००० फीट की ऊँचाई पर बढ जाती है और वेव के मतानुसार क्षय रोगियों पर उन्नतांश के लाभदायक प्रभाव क यह एक कारण है।

रोग के बढने पर श्वेत कणों की सख्या कभी कभी बढ जाती है यह बढती साधारणत अस्थायी और कभी कभी स्थायी होती है। यह क्षयी प्रक्रिया की क्रियाशीलता, ज्वर की तीव्रता और उपद्रवों की उपस्थिति इत्यादि अनेक बातों पर निर्भर होती है।। परन्तु इस बात मे इतने अपवाद होते हैं कि क्षय-रोग की पहचान तथा साध्यासाध्य विचार मे इसका कुछ भी मूल्य नही होता।

रक्तसंचालन में क्षय-कीटाणु—क्षय-रोग का विष रक्त मे मिलता है, इस बात का सन्देह लोगो को बहुत दिनों से था। सन् १८६६ ई० में विलेमिन ने एक क्षयी खरगोश की जघा की धमनी से रक्त निकालकर और गिनीपिग पशु मे उसकी पिचकारी लगाकर उसमें रोग उत्पन्न किया था। मार्स्टन ने सन् १८६७ ई० मे इन प्रयोगो को दोहराया था। सन् १८८४ ई० में वीशेलबाम को उग्र व्यापक बजरीले क्षय से पीडित रोगियों के रक्त मे क्षय-कीटाणु मिले थे। हाल मे कुछ लोगो को पुरातन तथा शान्त क्षय से पीडित रोगियों के रक्त मे भी क्षय-कीटाणु मिले हैं। लीबरमीस्टर को मरणासन्न रोगियों मे से ७५ प्रतिशत के और प्रारम्भिक क्षय के कुछ रोगियों के रक्त मे क्षय-कीटाणु मिले हैं।

रक्त मे क्षय-कीटाणुओं का पता लगा लेने पर एक समय लोग इसको स्पष्ट क्षय-रोग की पहचान की एक विश्वस्त विधि समझकर बहुत उत्साहित हुए थे, परन्तु अन्य अन्वेषकों की खोज से उनकी धारणा गलत सिद्ध हुई और इस समय यही कहा जा सकता है कि क्षय-रोग की पहचान और साध्यासाध्य विचार मे क्षय-कीटाणुओं के रक्त मे मिलने का अभी तक कोई मूल्य स्थापित नहीं हुआ है।

मूत्र संस्थान

वृक्क—वृक्को की रचना तथा कार्यों मे ऐसे कोई विकार नही होते जिनको क्षय-रोग की विशेषता या विशिष्ट लक्षण कहा जा सके। उग्र क्षय मे वृक्कों पर वही प्रभाव होता है जो अन्य कारणों से उत्पन्न ज्वर की अधिकता का होता है। उग्र व्यापक क्षय में प्रारम्भ मे ही वृक्क रोगाक्रान्त होजाते हैं। कुछ लोगों ने हाल में जो जॉचे की हैं, उनसे विदित होता है कि क्षय-रोग के प्रारम्भ मे वृक्कों के कार्य मे कोई विकार नही होता।

कुछ लेखकों ने विशेषकर फ्रासीसियो ने लिखा है कि प्रारम्भिक तथा गुप्त क्षय मे भी मूत्र की मात्रा बढ जाती है और उसमे फौस्फेट तथा अडे की सफेदी सी आने लगती है। वार्वियर का कहना है कि क्षय-रोग मे अन्य लक्षणों के प्रादुर्भाव के बहुत पहले से मूत्र मे अडे की सफेदी सी आने लगती है और इसको चिकित्सक बहुधा भूल से नहीं समझ पाते। रोबिन ने मूत्र की अधिकता को क्षय रोग का पूर्व लक्षण लिखा है। उनका कहना है कि क्षय रोग की प्रारम्भिक अवस्था मे मूत्र की मात्रा अधिक होती है, मध्यावस्था मे प्रकृतिस्थ होती है और सम्वृद्ध अवस्था मे कम होजाती है, परन्तु कुछ लोगों मे मूत्र की अधिकता आद्योपान्त बनी रहती है। सम्वृद्ध अवस्था मे मूत्र की कमी का ज्वर, रात्रिस्वेद तथा अन्तिम अतिसार से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। रोबिन का मत है कि प्रारम्भिक क्षय मे मूत्र की केवल अधिकता ही होती है, उसके रासायनिक सघटन मे कोई विकार नही होता।

परन्तु उपरोक्त विकार इतनी स्थिरता से नहीं मिलते कि उनको प्रारम्भिक क्षय का निश्चयात्मक या विशिष्ट लक्षण समझा जाय।

सम्वृद्ध रोगियों के मूत्र में अडे की सफेदी—(Albumin) रोग की सम्वृद्ध अवस्था मे रोगी के मूत्र में अडे की सफेदी बहुधा आने लगती है। अधिकाश रोगियो मे सफेदी की मात्रा लेश मात्र होती है और जब इसकी मात्रा अधिक होती है तो उसके साथ साथ साँचे (Casts) रक्त तथा पीव आता है। कुछ लोगो के जाँच करने पर ३० से ४० प्रतिशत रोगियो के मूत्र में सफेदी मिली है। जिन रोगियो की अतड़ियों मे व्रण होजाते हैं उनके मूत्र में अन्य लोगो की अपेक्षा सफेदी अधिक मिलती है। मोंटगोमरी अपने अध्ययन से इस आशय पर पहुँचे हैं कि क्षयरोगियों के

मूत्र में साँचों की अधिक संख्या रोग की असाध्यता की सूचक होती है और साँचों की कमी शुभलक्षण होती है।

मूत्र में एल्बुमेन निकलने के कारणों का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चला है। कुछ लोगों का विचार है कि मूत्र मे निकलने वाले क्षयी विषों से वृक्कों के तन्तु कुपित होजाते हैं। अन्य लोगो का विचार है कि इसका कारण पुरातन ज्वर अथवा वृक्कों का क्षय-रोग होता है।

यह बतला देना चाहिए कि सम्वृद्ध अवस्था मे मूत्र मे एलबुमेन आने का साधारण कारण मिश्रित संक्रमण होता है, जैसा फेफडे के रंध्रों मे होता है और जिसमे क्षय-कीटाणुओं के अतिरिक्त पूयजनक-कीटाणु भी होते हैं।

क्षय-रोग में वृक्क प्रदाह— क्षय-रोग मे वृक्कों का उग्र प्रदाह बहुत विरल होता है, परन्तु पुरातन प्रदाह कभी-कभी पाया जाता है। विभिन्न लेखकों के मतानुसार १५ से २० प्रतिशत क्षय रोगियों मे वृक्को का प्रदाह पाया जाता है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वृक्क-प्रदाह के लक्षण साधारणत प्रकट नही होते, यद्यपि मूत्र मे एल्बुमेन और साँचे आते रहते हैं। हृदय की अतिपुष्टि बहुत कम पाई जाती है।

उपरोक्त विचारो मे से अधिकाश मूत्र मे एल्बुमेन मिलने के ऊपर अवलम्बित हैं और मोंटगोमरी ने यह सिद्ध कर दिया है कि राजयक्ष्मा मे, मूत्र मे एल्बुमेन तथा साँचो का आना वृक्क-प्रदाह का सूचक नही होता। क्षय रोग में मूत्र में एल्बुमेन का आना वृक्क-प्रदाह अथवा वृक्क क्षय की एक आवश्यक अभिव्यक्ति नहा होती। परन्तु अनेक रोगियो मे इसके अन्य कारण होते हैं जो सम्वृद्ध क्षय मे बहुधा पाये जाते हैं। वस्तुत अन्य पुरातन रोगो की अपेक्षा क्षय-रोग में वृक्क-प्रदाह कम होता है।

वृक्कों का सिक्थात्मक अपकर्ष—क्षय-रोग की अति सम्वृद्ध अवस्था मे, जब फेफडो के रध्रो मे पीब पड़ जाता है, वृक्को मे बहुधा सिक्थात्मक अपकर्ष होजाता है। इसके साथ साधारणत यकृति, प्लीहा तथा अतडियों मे भी सिक्थात्मक विकार होते हैं। परन्तु यह अपकर्ष इतना नहीं होता जितना कि होना चाहिए। विभिन्न लोगो के मतानुसार ६ से ९ प्रतिशत क्षय रोगियो मे यह अपकर्ष मिलता है।

वृक्कों का सिक्थात्मक अपकर्ष कई रूपों मे पाया जाता है। अनेक रोगियों मे वृक्को मे अधिक विकार होने पर भी कोई लक्षण व्यक्त नही होते अथवा केवल मूत्र मे अंडों की सफेदी तथा साँचे मिलते हैं। इसका पता तभी लगता है जब यकृति, प्लीहा इत्यादि अन्य अवयवो मे भी इस विकार के चिह्न मिलते हैं। अन्य रोगियो में पुरातन वृक्क प्रदाह के शोथ इत्यादि लक्षण होते हैं, परन्तु रक्तचाप अधिक नहीं होता।

अन्तिम शोथ—अधिकाश सम्वृद्ध क्षयरोगियो में शोथ होता है। पैर और घुटनो पर अन्तिम अवस्था मे विशेप शोथ होता है। यह सदैव वृक्को की दशा पर अवलम्बित नहीं होता। मोंटगोमरी के शोथ का मूत्र मे एल्बुमेन या साचे आने से कोई सम्वन्ध नहीं मिला था। रोग की सम्वृद्ध अवस्था मे हृदय के कोष्ठ फूल जाते हैं और इससे भी शोथ होजाता है।

शोथ अशुभ चिह्न होता है—ऐसा कोई क्षयरोगी अवतक देखने मे नहीं आया जिनके पैर और घुटनों पर सूजन आजाने पर वह अच्छा होगया हो। कभी कभी शोथ एक ओर होता है। जिस ओर रोगी लेटता है उस पार्श्व मे शोथ होजाता है और दवाने से गड्ढा पड जाता है। कभी कभी शिराओ के दव जाने से केवल एक हाथ या टाँग में सूजन हो जाती है।

मूत्र-माद—(Urœmia) क्षय-रोग मे मूत्र विपव्याप्ति के लक्षण वहुत कम मिलते हैं, परन्तु इतने कम नही जितना कुछ लोग समझते हैं। रोग की अन्तिम अवस्था मे कभी कभी मूत्र विपव्याप्ति के निश्चयात्मक लक्षण मिलते हैं, जिनको वहुधा लोग भूल से मस्तिष्कावरण के प्रदाह के लक्षण समझ लेते हैं। ज्वर के अभाव मे यदि अकस्मात श्वास मे कष्ट होने लगे तो उन रोगियों मे मूत्र विपव्याप्ति की सम्भावना समझनी चाहिए जिनके मूत्र मे एल्वुमेन और साँचे आते हैं। अतिम अवस्था मे प्राय अतिसार और कभी कभी फुफ्फुस शोथ मूत्र विप-व्याप्ति के कारण होते हैं, परन्तु इन दशाओं का पहिचानना वडा कठिन होता है।

पिंगल नाडी का प्रकोप होता है। रोग अच्छा होने पर पुतलियों की असमानता कम या दूर हो जाती है।

शूल—बहुत से क्षय रोगियो मे आदि से अन्त तक कोई शूल नही होता, परन्तु अनेक रोगियो में विभिन्न प्रकार के न्यूनाधिक शूल होते है। शूल शरीर के किसी भाग मे हो सकते हैं, परन्तु सबसे अधिक लाक्षणिक शूल वक्ष और ऊर्ध्व शाखा के होते हैं। कुथी को ६५० रोगियो मे से ६० प्रतिशत मे वक्ष शूल मिले थे और इनमे से ८५ प्रतिशत मे शूल रोगाक्रान्त या दोनो मे से अधिकाक्रान्त पार्श्व मे थे।

अनेक रोगियो मे रोग की प्रथम सूचना अक्षकास्थि से नीचे और इससे भी अधिक अंसप्राचीरक से ऊपर दोनो असफलको के बीच मे शूल होने से मिलती है। यह शूल साधारणत मन्द होता है। इस पर गति, श्वास तथा खाँसने का कोई प्रभाव नही पडता और यह रात मे अधिक होता है। आक्रान्त भाग के ऊपर की त्वचा मे सुकुमारता बहुत कम होती है, परन्तु जोर से दबाने पर शूल बढ जाता है। इस प्रदेश में ठोकने से कभी-कभी खाँसी आ जाती है। असफलको के बीच मे रीढ मे साधारणत अति-साम्वेदनिकता होती है।

अधिक सम्वृद्ध रोग मे कभी-कभी कधे मे बडा तीव्र शूल होता है, जो रात मे अधिक तथा कठिनता से शान्त होता है और जिससे रोगी को नीद नही आती। जब प्रारम्भिक अवस्था मे शूल होता है तो इतना तीव्र नहीं होता, परन्तु यह कभी-कभी भुजा तक फैल जाता है। थोडी सी सर्दी लग जाने पर शूल होने लगता है और उसमे रोगी यह समझने लगता है कि उसको वात रोग (Rheumatism) होगया है। वस्तुत कधे के वात रोग के अनेक रोगियों में जाँच करने पर क्षय-रोग निकलता है। वक्ष-उदर-मध्यस्थ पेशी मे शूल प्राय होता है। यह शूल बर्छी भोकने के सदृश यत्रणादायक होता है और गहरी श्वास लेने, खाँसने तथा छींकने से बढ जाता है। यह पार्श्वकला के बधनो के कारण होता है।

यदि उपद्रव रूप पार्श्वकला का प्रदाह न हो, तो क्षय-रोग में त्वचा की अति-साम्वेदनिकता बहुत कम होती है। फेफडे के रोगाक्रान्त भागों के ऊपर की मास पेशियों को दबाने से साधारणत पीडा होती है। जब फुफुस-शिखर में रोग होता है तो कर्ण-मूलिकाक्षक और चतुरस्रा पेशियों मे शूल

होता है और जब रोग अधिक विस्तृत होता है तो ग्रीवा की अन्य पेशियों में, उदरच्छदा तथा अन्तर्पार्श्विक पेशियों मे दबाने से शूल होता है। पार्श्वकला के प्रदाह में, त्वचा मे अति साम्वेदनिकता और अति सुकुमारता होती है। खाँसी से ये शूल नहीं होते, क्योंकि वे केवल एक पार्श्व में होते हैं और शूल के साथ साथ प्रादेशिक मासपेशियाँ सकुचित होकर कडी होजाती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सक्रिय क्षय रोग में जो सुकुमारता मिलती है, वह मासपेशियों की अकडन का परिणाम होती है। भीतर के रुग्न भाग की रक्षा करने के लिए मासपेशियाँ कडी होजाती हैं और बाद को वे क्षीण होजाती हैं।

रोगी के अन्तिम दिनो मे सब प्रत्यावर्तक क्रियाये शिथिल होजाती हैं, फलत सब प्रकार के शूल बन्द होजाते हैं। वस्तुत शूल के अभाव से रोगी की दशा कभी कभी बहुत आशाजनक होजाती है।

मानसिक भाव—क्षय रोगियों मे जो मानसिक विकार मिलते हैं उनको प्रधानत सयोगमात्र समझना चाहिए। चूँकि क्षय-रोग लोगो में बहुत बडी सख्या मे होता है और इसके कारण मानसिक विकारो के होने मे कोई रुकावट नही होती, इसलिए कुछ क्षय रोगियों में अन्य कारणो से मानसिक विकारों का होना स्वाभाविक है। यह ठीक है कि पागलो की एक बहुत बडी सख्या की मृत्यु क्षय-रोग से होती है, परन्तु इसका कारण उनका अनियमित जीवन तथा बन्द रहना होता है। क्षय-रोग की अन्तिम अवस्था मे प्राय प्रलाप होता है जो अन्य रोगो के प्रलाप से भिन्न नही होता। परन्तु इन आकस्मिक मनोविकारो के अतिरिक्त, जिनका कुछ क्षय रोगियो में मिलना स्वाभाविक है, राजयक्ष्मा मे कुछ अन्य मानसिक विलक्षणताए देखी गई हैं। अनेक लेखकों ने क्षय रोगी को एक विशिष्ट मनोवृत्ति का उल्लेख किया है।

इसप्रकार की मनोवृत्ति शिशुओ मे भी देखी गई है। बहुत से लोग इस बात से सहमत हैं कि क्षयी-विषो का प्रभाव शिशुओं के वात-संस्थान पर वैसा ही पडता है, जैसा कि बडे बच्चों पर और उनसे शिशुओं के स्वभाव मे परिवर्तन होजाता है। शिशु प्रसन्नवदन नही रहता, न कभो हँसता है और अकारण रोने लगता है। नींद कम आने लगती है, रात में बीच बीच

मे आँख खुल जाती है, परन्तु प्रातःकाल उसको उठाना कठिन होता है। स्वभाव मे यह परिवर्तन अधिकतर उन बच्चो मे होता है, जिनमे मस्तिष्कावरण का क्षय होता है, परन्तु अन्य प्रकार के क्षय रोगो मे भी यह पाया जाता है।

बहुत से क्षय रोगियो के स्वभाव और मनोवृत्ति मे बडा परिवर्तन होजाता है और उनकी पुरानी आदतों, आचार विचार तथा भाव मे परिवर्तन होजाता है। कुछ रोगियों मे यह परिवर्तन रोग के प्रादुर्भाव से पहले ही होने लगता है और बहुतो में रोग के साथ-साथ व्यक्त होता है। रोग की दशा सुधरने पर रोगी की मानसिक दशा भी सुधर जाती है और रोग बढने पर बिगड जाती है।

रोगी के स्वभाव मे यह परिवर्तन कई प्रकार व्यक्त होता है। उदार व्यक्ति सूम तथा अनुदार और वीर भीरु होजाते हैं। एञ्जिल का कहना है कि मौलिक आन्तरिक स्वभाव पुरातन क्षय-रोग मे अधिक प्रमुख होजाता है। निराशावादी की निराशा बढ जाती है और आशावादी अत्यन्त आशापूर्ण होजाते हैं। रोगी का मानसिक सगठन बहुत कुछ उसकी शारीरिक दशा पर अवलम्बित होता है, जिसमे क्षय-रोग में बडे बडे परिवर्तन होते रहते हैं। रोगी की दशा अचानक कभी सुधर जाती है और कभी बिगड जाती है। मनोवृत्तियाँ स्वय तो नही बदलतीं, परन्तु तरुणावस्था के जो विशिष्ट मानसिक भाव होते हैं और जो आगे चलकर शिक्षा और जीवन की ऊँच नीच से दब जाते हैं, वे फिर से जाग्रत होजाते है और उन पर लोक-लज्जा का कोई प्रभाव नहीं रहता।

क्षयरोगी की एक चित्तवृत्ति जिसका अधिकांश लेखकों ने उल्लेख किया है, यह होती है कि वह स्वार्थी होजाता है। वह अपनी ही बातचीत करता है और अपना ही ध्यान रखता है। उसको केवल अपने ही हित की चिन्ता रहती है और दूसरों की, जो उस पर पहले आश्रित थे, कुछ भी परवाह नही रहती। वह स्वयं अच्छा कीमती भोजन चाहता है, चाहे उसके बच्चे भले ही भूखों मरें। मित्रों और सम्बन्धियों की सहायता पर उसकी अनुचित मागे होती हैं और उनके लिए वह कृतज्ञ नही होता। स्वास्थ्यशालाओं में यह सबसे बडी महत्वपूर्ण समस्या होती है जिसको कर्मचारियों को हल करना पडता है। क्षय रोगी की इस मनोवृत्ति को ठीक ठीक न समझ पाना अनेक अध्यक्षों की असफलता का कारण होता है।

कुछ रोगियो में यह बात इतनी सुस्पष्ट होती है कि उससे उनके चरित्र के गुप्त तत्व व्यक्त होजाते है। कुछ लोगों का कहना है कि क्षय रोगी वहमी हो जाते हैं, अपने उत्तरदायित्व का कुछ भी विचार नहीं करते, और संक्रमण के फैलाने मे प्राय उनको कोई हिचकिचाहट नही होती। बहुत से प्रौढ क्षय-रोगियों का स्वभाव बच्चे का सा स्वार्थी, चिडचिडा, शीघ्र कोपी, भोजन का लालची, और यथाइच्छा अनियतरूप से खानेवाला होता है। बच्चों की भाँति इनको दूसरों का ख्याल नही रहता और ये सदैव असन्तुष्ट तथा अकृतज्ञ होते हैं।

आशावाद—रोग के बढने से शरीर क्षीण होने पर भी रोगी बहुधा आशापूर्ण होता है। केवल अधिक रक्त निष्ठीवन या स्वाभाविक वायु-वक्ष होने से साधारण क्षय रोगी कुछ भयभीत होता है अन्यथा और सब लक्षणों को वह तुच्छ समझता है। खाँसी के बढने का कारण जुकाम और अरुचि का कारण कुपथ्य समझने लगता है।

वात-संस्थान के कुछ कार्यात्मक विकारो (Functional Neuroses) को छोडकर अन्य कोई ऐसा रोग नहीं है जिसमे सुझाने (Suggestion) का रोग को गति और लक्षणों पर इतना प्रभाव पडता हो जितना कि क्षय-रोग में पडता है। केवल पानी की पिचकारी लगाने से नींद आ जाती है, शूल, खाँसी इत्यादि कम होजाते हैं एव यक्ष्मिन प्रतिक्रिया के समान शरीर का ताप तक बढ जाता है। यूरोप की अनेक स्वास्थ्यशालाओ में परीक्षा के हेतु यक्ष्मिन का प्रयोग करने से पूर्व,यह देखने के लिए कि ज्वर पर कितना मानसिक प्रभाव होता है, पानी की पिचकारी लगाने का नियम है। यह देखा गया है कि २० प्रतिशत रोगियों मे पानी की पिचकारी लगाने से प्रतिक्रिया उत्पन्न होजाती है। कुछ चिकित्सक सफलतापूर्वक प्रतिक्रिया उत्पन्न होने के समय तक का सकेत कर देते हैं। क्षय रोगियों पर संकेत का यह प्रभाव क्षयोपचार में विशद रूप से दिखाई देता है। झूठे बनावटी डाक्टर और इश्तिहारी दवाइयाँ अन्य रोगियों की अपेक्षा क्षय-रोगियों पर अधिक फलते फूलते हैं।

अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि जब किसी विस्तृत रंध्र या तेज बुखारवाले क्षय रोगी को यह विश्वास होने लगता है कि उसकी दशा सुधर गई है और उसको न दर्द है और न खाँसी, तो यह समझना चाहिए कि

मृत्यु उस विचारे को सब कष्टों से शीघ्र ही मुक्त करनेवाली है। मरणासन्न रोगियों को प्राय अपने भविष्य के सम्बन्ध मे बडी बडी आयोजना और तदबीरें सोचते देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। बहुधा इस आशावाद से इन रोगियो के रोग निवारण के प्रयत्न में बडी सहायता मिलती है। यह सबको मालूम है कि निराशावादी क्षय रोगी को लाभ पहुँचाना बडा कठिन होता है। परन्तु दूसरी ओर इस आशावाद से कभी कभी हानि भी होती है, क्योंकि इससे रोगी को भ्रम होजाता है और वह चिकित्सक के आदेशो की उपेक्षा करने लगता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि क्षय-कीटाणुओ तथा नष्टभ्रष्ट फुप्फुस-ततुओं से उत्पन्न विषों के शोषण से क्षय रोगी की मानसिक अवस्था वैसी ही होजाती है, जैसी शराब के हलके नशे की दशा मे। क्षय रोगी की बाह्य आकृति से भी उसकी मादक अवस्था झलकती है। उसकी चौडी पुतलीवाली चमकती हुई आँखे, तमतमाए हुए गाल और तीव्र बुद्धि उस आदमी की सी होती है, जिस पर शराब या किसी मादक द्रव्य का हलका नशा होता है। जो रोग से पहले मंद बुद्धि होते हैं उनमे बुद्धि प्राय तीव्र होजाती है।

क्षय रोगियो मे विशेषकर तरुण विद्वान रोगियो मे यह देखा जाता है कि बीच बीच मे सप्ताह या मास के लिए उनमे अत्यधिक प्रतिभा का विकास होता है। यह बात विशेषकर उन लोगो मे देखने मे आती है जिनमे कला की प्रवृत्ति या ग्रन्थ लिखने की कल्पनाशक्ति होती है। उनमे निरन्तर चित्तोद्वेग रहता है, परन्तु शारीरिक कष्ट होने पर भी वे काम करते रहते हैं और सर्वोत्तम कृतियाँ रोग की दशा मे उत्पन्न करते है। क्षय-रोग का बुद्धि पर प्रभाव होता है। क्षयी-विषो की मानसिक उत्तेजना से बुद्धि तीव्र हो जाती है। उनकी स्मरणशक्ति, शीघ्र निर्णय करने की शक्ति तथा तर्क-शक्ति बहुत बढ जाती है।

बहुत से बडे बडे लेखक और कलाविदो के क्षयी होने से यह विदित होता है कि ऐसे गुणी व्यक्तियो मे भी क्षय-रोग कम नही होता और इस रोग से कम होने की अपेक्षा उनकी प्रतिभा और भी बढ जाती है।

निद्रानाश—क्षय-रोग के प्रारम्भ मे रोग की चिन्ता और बेचैनी से कभी कभी निद्रा-नाश होजाता है जो रोगी को सान्त्वना देने से बहुधा दूर

होजाता है। वास्तव मे थोड़े दिनो मे विशिष्ट आशावाद उत्पन्न होजाता है और उसके बाद फिर रोगी की नीद मे कमी नहीं होती।

अन्य रोगियों मे खाँसी या रात्रिस्वेद अधिक होने से नीद नहीं आती। कुछ रोगियो मे साधारण मात्रा मे नीद लानेवाली औपधियो के देने से कोई लाभ नहीं होता। नींद की कमी विशेपकर उन रोगियो में होती है जिनमें खाँसी के दौरे होते हैं। प्रत्येक दौरे मे रोगी की आँख खुल जाती है और वह घंटे दो घंटे तक जागता रहता है। ऐसे रोगियो को खाँसी शान्त करनेवाली औषधियों का देना आवश्यक होता है। अधिक रात्रिस्वेद का भी नीद पर प्रभाव होता है। पसीने से भीगकर जागने के बाद फिर रोगी को नीद नही आती।

रोग की सम्वृद्ध अवस्था मे बहुत से रोगियो को नीद आना कठिन होजाता है, क्योंकि फेफडे के रध्रो मे स्राव भर जाता है जो थोडी-सी नीद के बाद श्वास प्रणालियों मे बह आता है और रोगी को उठकर उसको बाहर निकालने के लिए विवश होना पडता है। जिन रोगियो मे एक ओर रोग होता है, उनको किसी एक करवट से नीद आ जाती है और उसी करवट सोने की उनको आदत पड़ जाती है, परन्तु अन्य रोगियो को, जिनके दोनों फेफडे में रध्र होते हैं, चित्त लेटने से तुरन्त खाँसी आ जाती है। कुछ रोगियों को खाँसी से बचने के लिए सिर झुकाकर और कुछ को ढलवा लेटकर सोना पडता है। कुछ रोगियो को श्वास फूलने से नींद नहीं आती। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में कभी कभी ज्वर के कारण नीद नहीं आती, परन्तु सम्वृद्ध अवस्था मे ऐसा बहुत कम होता है, क्योंकि सम्वृद्ध रोगी साधारणत ज्वर का आदी हो जाता है और फिर उसको इतना कष्ट नहीं होता।

रोग की अन्तिम अवस्था मे प्राय क्षय रोगियों मे असाधारण तंद्रा आ जाती है। कई दिनों तक रोगी तंद्रा की अवस्था मे पडा रहता है, उसको अपने शरीर की कुछ खबर नहीं रहती और केवल जब कभी कुछ खाने के लिए जाग उठता है। यदि इसका कारण कोई शमनकारी औपधि न हो तो उपद्रवरूप मस्तिष्कावरण का विकार समझना चाहिए। परन्तु कुछ ऐसे रोगी देखने मे आते हैं, जिनमे मृत्यु से पूर्व कई दिनों तक असाधारण तंद्रा रहती है, परन्तु शवच्छेद करने पर मस्तिष्कावरण का कोई विकार नहीं मिलता।

क्षय-रोग का जननेन्द्रियों पर प्रभाव—क्षय-रोग का जननेन्द्रियों और उनके कार्यों पर बड़ा प्रभाव होता है। स्त्रियों में क्षय-रोग में मासिक धर्म के विकार साधारणतः होते हैं और कभी कभी ये विकार रोग के लक्षणों के व्यक्त होने से पहले ही होने लगते हैं। नवयुवतियों में रजोदर्शन से रोग की प्रगति कुछ रुक जाती है। सम्भवतः यही कारण है कि प्राचीन चिकित्सक मासिक धर्म के अभाव को क्षय-रोग का कारण समझते थे, परन्तु अब यह ज्ञात होगया है कि यह रोग का कारण नहीं, प्रत्युत फल होता है। क्षय-रोग में मासिक धर्म बहुधा बन्द होजाता है और कई अन्य विकार भी होते हैं, परन्तु कुछ क्षयी स्त्रियाँ ऐसी देखने मे आती हैं जिनमे मासिक धर्म ठीक बना रहता है।

ऋतुकाल में और कभी कभी उससे कुछ दिन पूर्व रोग कुछ बढ जाता है। ज्वर और खाँसी बढ जाती है, कण बढ जाते हैं और जहाँ वे पहले सुनाई नहीं देते थे, वहाँ सुनाई देने लगते हैं और फुफ्फुस तनु के नए भाग रोगाक्रान्त होजाते हैं। इस काल मे रक्त-निष्ठीवन अधिक होता है और कभी कभी मासिक धर्म का स्थान ले लेता है। मासिक धर्म से पूर्व ज्वर के प्रकट होने के सम्बन्ध में पूर्व परिच्छेद मे लिखा जा चुका है।

क्षय रोग की हर अवस्था मे गर्भ रह सकता है और गर्भावस्था का काल प्राय निर्विघ्न पूरा होजाता है। जो बच्चा उत्पन्न होता है वह काफी मोटा ताज़ा होता है, परन्तु उसकी जीवनी शक्ति कम होती है। रीब मेयर का विश्वास है कि स्वस्थ स्त्रियों की अपेक्षा क्षयी स्त्रियों में सन्तानोत्पत्ति अधिक होती है। प्रकृति शक्ति की कमी को संख्या की वृद्धि से पूरा करती है।

सत्रहवाँ परिच्छेद

क्षय रोगी की परीक्षा

क्षय रोगी के शरीर की, विशेषकर उसके वक्ष की परीक्षा, उसका हाल सुनकर और लक्षणों के सम्बन्ध में पूछताछ करके बडी सावधानी से और विधिपूर्वक करनी चाहिए। केवल लक्षणों से रोग का पूरा पता नहीं लग सकता, क्योंकि लक्षण इन्द्रियों के कार्य में विकार होने से उत्पन्न होते हैं, उनसे इन्द्रियों की बनावट के विकारों का पता नहीं लगता। रोगी के शरीर में रोग से क्या क्या विकार होगये हैं, इसका पता शरीर की परीक्षा करने से ही चल सकता है। इसलिये परीक्षा का महत्व स्पष्ट है। रोग के सफल इलाज के लिए यह आवश्यक है कि जितना शीघ्र होसके रोग का पता लगा लिया जाय। रोग के प्रारम्भ में लक्षण इतने स्पष्ट नहीं होते कि केवल उन्हीं से रोग का निश्चयपूर्वक पता लगाया जासके। रोग का शीघ्रातिशीघ्र पता लगाने के लिए यह आवश्यक है कि जितने भी साधन उपलब्ध हों, उन सब का उपयोग किया जाय। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि सब क्षय रोगी इतने समझदार नहीं होते कि अपने रोग और लक्षणों का पूरा पूरा हाल बता सकें और न उनको इतनी जानकारी ही होती है कि प्रारम्भ के स्पष्ट लक्षणों की ओर उनका ध्यान आकर्षित होजाय और वे उनके महत्व को समझ सकें।

केवल रोग का पता लगाने के लिए ही नहीं, अपितु इलाज के ठीक-ठीक सचालन, रोग की प्रगति का पता लगाने और उसकी साध्यासाध्यता का निर्णय करने के लिए भी शारीरिक परीक्षा की आवश्यकता होती है।

सफल परीक्षा के लिए दो बातें आवश्यक होती हैं। एक यह कि अधिक से अधिक बातें ज्ञात हों और ठीक ठीक ज्ञात हो। दूसरी यह कि जो बातें ज्ञात हों उनसे ठीक ठीक निष्कर्ष निकाला जाय। इस सम्बध में यह बताना

आवश्यक है कि शरीर की परीक्षा से केवल इतना ही पता लगता है कि रोग से शरीर की प्राकृतिक बनावट में क्या परिवर्तन होगया है। वक्ष की परीक्षा से यह ज्ञात होता है कि फेफडे और पार्श्वकला मे क्या क्या विकार होगये हैं और वक्ष के अन्दर के अवयवो के आकार व परिमाण तथा स्थिति मे क्या अन्तर होगया है। परीक्षा से स्वत. इससे अधिक पता नहीं चलता। ये परिवर्तन क्या हैं और उनका क्या कारण है, इसका पता लक्षणो तथा परीक्षा से ज्ञात चिह्नो पर साथ साथ सापेक्षिक विचार करने से लगता है। परीक्षकों को परीक्षा की इस परिमितता को ध्यान मे रखना चाहिए।

वक्ष के विकारो का पता लगाने के लिए स्वस्थ वक्ष का ज्ञान होना अपरिहार्य है। स्वस्थ वक्ष मे परीक्षा करने पर जो चिह्न मिला करते हैं उनसे भिन्न चिह्नो को विकार कहते हैं। जब तक प्रकृतिस्थ (Normal) वक्ष के चिह्नो का परीक्षक को ज्ञान नही होगा तब तक उसके परिवर्तनो को वह कैसे पहचान सकता है। वक्ष के विकार तुलनात्मक होते हैं और उनकी तुलना स्वस्थ वक्षों से की जाती है। स्वस्थ वक्ष के चिह्नो मे जितने अधिक परिवर्तन होते हैं, विकार उतने ही अधिक बडे समझे जाते हैं। परन्तु इस सम्बध मे एक कठिनाई, जिसका ज्ञान होना परीक्षक के लिये अत्यावश्यक है, यह होती है कि स्वस्थ वक्ष कोई ऐसा निरपेक्ष, निश्चित और स्थिर मान नही होता, जिससे विकारो की तुलना की जा सके। विभिन्न स्वस्थ व्यक्तियों के वक्षो मे परस्पर कुछ न कुछ अन्तर होता है। कोई भी दो स्वस्थ वक्ष बिलकुल एक से नही होते। उनमें जो सूक्ष्म अन्तर होते हैं उनकी गणना विकारो मे नहीं की जा सकती, क्योंकि वे स्वस्थता की सीमा के अन्तर्गत होते हैं। इन स्वस्थ परिवर्तनो का परीक्षक के लिए ज्ञान होना अनिवार्य है। यदि ऐसा न होगा तो भ्रम और भूल होने की सम्भावना रहेगी। स्वस्थ दशा मे दाहिने और बाये वक्षार्द्धों मे जो चिह्न मिलते हैं, उनमे भी परस्पर कुछ अन्तर होता है। परीक्षक को इनका भी ज्ञान होना चाहिए। यह ज्ञान केवल अनुभव और अभ्यास से ही प्राप्त हो सकता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि लगभग सब रोग-चिह्न वक्ष के शब्दोत्पादक या शब्द वाहक गुण पर आश्रित होते हैं, परन्तु यह वक्ष-रूपी वाद्य-यंत्र बडा अपूर्ण होता है और सब वक्ष किसी एक विशेष नमूने के बने नहीं होते। अतएव स्वस्थ अवस्था में भी इसमे जो शब्द निकलते हैं वे कृत्रिम

यन्त्रों की भाँति सब वक्षों मे एक से नहीं होते, प्रत्युत उन सब मे कुछ न कुछ अन्तर होते हैं। स्वस्थ वक्ष के इन परिवर्तनो का ज्ञान केवल अनुभव से ही प्राप्त होता है और यह अनुभव स्वस्थ मनुष्यो के वक्षो की परीक्षा करने मे प्राप्त होता है। जिस परीक्षक को जितना अधिक अनुभव होगा उसको उतना ही अधिक ज्ञान होगा और भ्रम होने की उतनी ही कम सम्भावना होगी।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि परीक्षा से जो रोग चिह्न मिलते हैं, उन पर व्यापक दृष्टि से तुलनात्मक विचार करने की आवश्यकता होती है, क्योंकि जिन परिवर्तनों पर हम अवलम्बन करते है वे केवल सापेक्षिक होते हैं। सफल परीक्षा के मार्ग के उपरोक्त गड्ढों से बचने के लिए परीक्षा बडी सावधानी से और विधिपूर्वक करनी चाहिए और परीक्षाद्वारा प्राप्त रोग-चिह्नो से किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचने मे बुद्धिमत्ता से काम लेना चाहिए।

क्षय-रोग वस्तुत एक ऐसा रोग है जिसकी गति विरत होती है। इसके प्रारम्भ का साधारणत पता नही चलता। प्रारम्भिक दौरो को लोग प्राय जुकाम या साधारण हरारत समझते हैं और इसलिए जब कुछ दिनों में दौरे शान्त होजाते हैं तो क्षय-रोग का सन्देह तक नहीं होता। इसका फल यह होता है कि जिस समय रोगी चिकित्सक के पास आता है, उस समय रोग इतना बढा हुआ होता है कि उसके पता लगने मे कठिनाई नही होती। यह बात उन रोगियो के सम्बन्ध मे भी ठीक होती है जिनके रोग का प्रारम्भ रक्त-निष्ठीवन से होता है। इनमे भी निपुणता के साथ परीक्षा करने पर रोग-सूचक चिह्न मिल जाते हैं, जिनसे इस बात का पता लग जाता है कि रोग का वास्तविक प्रारम्भ तथाकथित प्रथम रक्तपात से पहले हो चुका था। चिकित्सकों और जन-साधारण के लिए यह अच्छी तरह समझ लेना अत्यावश्यक और महत्वपूर्ण है कि इस अवस्था मे भी रोग का पता लग सकता है, परन्तु इसके लिए आवश्यक निपुणता चाहिए। अब प्रश्न यह है कि यह निपुणता कैसे प्राप्त हो सकती है ?

यह निपुणता प्रधानत दो बातो पर निर्भर होती है, एक ईश्वरीय देन, और दूसरा अभ्यास। कुछ लोगो मे हस्तकौशल और बुद्धि स्वभावत अधिक होते हैं और कुछ मे कम। इसके अतिरिक्त परीक्षा सम्बन्धी कुशलता

और उसमे ठीक ठीक निष्कर्ष निकालने की शक्ति अभ्यास और अनुभव से भी प्राप्त होती और बढती है। केवल वक्ष का ठोकना और उस पर उरवीक्षक यत्र का लगाना ही काफी नहीं है। परीक्षाओ की विधियो को ठीक ठीक सीखने की और उनके सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता होती है। इनके सीखने मे जो चिकित्सक जितना अधिक समय लगाता है उतना ही उसका ज्ञान बढता है। प्रतिवर्ष परीक्षा विधियो के ज्ञान का भडार बढता जाता है, परन्तु खेद है कि चिकित्सक उनके सीखने मे इतना समय नहीं देते कि उनके समकक्ष बने रह सके। फलत. प्रयोगशाला की जॉच और विशिष्ट परीक्षाएँ लोकप्रिय होती जा रही है, क्योंकि इसप्रकार की परीक्षाओ मे साधारण चिकित्सक का समय बहुत कम लगता है और उनमे विज्ञान और नवीनता की चमकदमक होती है। इस प्रवृत्ति मे रोग-परीक्षा की कला बजाय उन्नत होने के अवनति की ओर जा रही है और पुरानी विधियो की उपेक्षा होने लगी है। साथ ही इससे नवीन विधियो का, जो विज्ञान और आधुनिकता के वायुमण्डल के कारण इतनी आकर्षक होती है, दुरुपयोग होने लगा है।

कुछ लोगो के भ्रमात्मक उत्साह के कारण कितने ही चिकित्सको को इन परीक्षाओ के वास्तविक मूल्य तथा रोग-निरूपण मे उनका क्या स्थान होना चाहिए, इस बात का ज्ञान नही होता। इसमें सन्देह नहीं कि इन परीक्षाओ का रोग का पता लगाने मे बडा मूल्य होता है, परन्तु उनके कारण पुरानी परीक्षा-विधियो का किसी प्रकार भी त्याग नहीं किया जा सकता। शारीरिक परीक्षा की बारीकियो मे दक्षता प्राप्त करने की आवश्यकता पर पहले की अपेक्षा आजकल अधिक जोर देना चाहिये। परन्तु केवल परीक्षा विधियों के सीखने मे ही काम नही चल सकता, परीक्षाद्वारा ज्ञात बातो की ठीक ठीक व्याख्या करने की योग्यता और बुद्धि की भी आवश्यकता होती है।

परीक्षको को नई विधियो के प्रयोग और परीक्षात्मक मूल्य का भी ज्ञान होना चाहिए, ताकि वे उनसे भी लाभ उठा सके। एक्सरे और यक्ष्मिन परीक्षाओ के सम्बन्ध मे यह बात विशेषरूप से लागू होती है। उचित समय पर उनका उचित प्रयोग करने से बडा लाभ होता है।

परीक्षा का कमरा—परीक्षा के फलप्रद होने के लिए उसे उचित रीति से करने की आवश्यकता होती है। परीक्षा के कमरे मे यथेष्ट प्रकाश

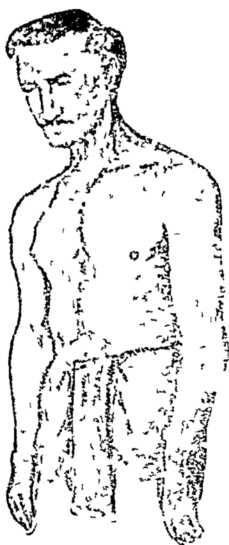
होना चाहिए और बहुत ही उत्तम हो यदि शीत ऋतु मे उसे गरम किया जा सके। रोगी का चेहरा खिडकी की ओर होना चाहिए, जिससे दोनो पार्श्वों की आकृति और गति मे थोडा-सा भी अन्तर भली प्रकार दिखाई दे सके।

रोगी की स्थिति—परीक्षा करते समय रोगी की क्या स्थिति होनी चाहिए, यह एक महत्व की बात होती है। इसलिए इस सम्बन्ध मे यहाँ पर कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है।

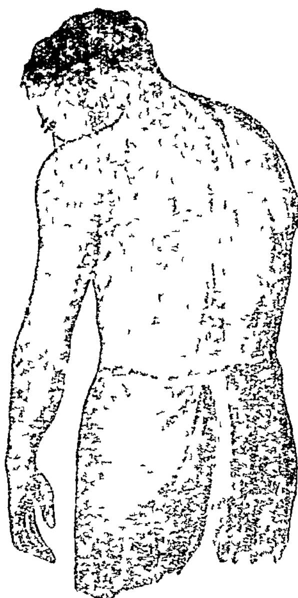
सबसे पहली बात तो यह है कि चारपाई पर रोगी के लेटे रहने पर उसके वक्ष की ठीक ठीक परीक्षा नहीं की जा सकती, और न दोनो पार्श्वों की परस्पर तुलना हो सकती है, जिसका होना प्रारम्भिक क्षय के पहचानने मे बडा आवश्यक होता है। इसलिए रोगी को या तो खडा होना चाहिए या किसी ऊँची तिपाई पर बैठना चाहिए ताकि परीक्षक सुगमता से उसके आगे-पीछे जा सके। रोगी के कमर से ऊपर के सब कपडे उतरवा देने चाहिए। उसके कधे सामने को खूब झुके हुए और ठोड़ी नीचे को गिरी हुई होनी चाहिए। उसकी निगाह परीक्षक की वास्कट के किसी बटन पर होनी चाहिए। यह बडा आवश्यक है कि वह स्वाभाविक स्थिति मे आराम से बैठे ताकि उसकी बैठक मे किसी प्रकार की अकडन न हो। पीठ की परीक्षा के लिए रोगी का शिर, कधे और भुजा सामने और नीचे को, जहाँ तक हो सके, झुके होने चाहिए। इससे लाभ यह होता है कि सब कशेरूकटक ऊपर उठ आते हैं, और असफलक बाहर को हट जाते हैं, जिससे पीठ का अधिक से अधिक भाग परीक्षा के लिए उपलब्ध होजाता है। रोगी की ठीक स्थिति का ज्ञान चित्र न० ५३ और ५४ के देखने से हो सकता है।

परीक्षा विधियाँ—आजकल क्षय-रोगी की परीक्षा के लिए निम्नलिखित विधियों से काम लिया जाता है—

(१) निरीक्षण (Inspection)
(२) स्पर्शन (Palpation)
(३) विघातन (टकोरना) (Percussion)
(४) श्रवण (Auscultation)
(५) एक्सरे अर्थात् रोञ्जनकिरण परीक्षा (Xray Examination)
(६) थूक की परीक्षा (Sputum Examination)



चित्र नं० ४३—परीक्षा के समय रोगी की ठीक स्थिति (सामने)



चित्र नं० ४४—परीक्षा के समय रोगी की ठीक स्थिति (पीछे)

(७) यक्ष्मिन इत्यादि अन्य परीक्षायें (Tuberculin and other tests)

थूक की परीक्षा की आलोचना कफ और खाँसी शीर्षक परिच्छेद में की जा चुकी है। यक्ष्मिन इत्यादि अन्य परीक्षाओं की आलोचना आगे चलकर प्रारम्भिक क्षय की पहचान सम्बन्धी परिच्छेद मे की जायगी।

अठारहवाँ परिच्छेद



निरीक्षण

निरीक्षण का महत्व—साधारणत यह देखा जाता है कि चिकित्सक लोग प्राय अपना वक्षपरीक्षक यत्र (Stethoscope) निकालकर तुरन्त रोगी के वक्षस्थल की परीक्षा करने लगते हैं, मानो परीक्षा करने का केवल यही एक साधन है। वक्षस्थल की परीक्षा मे एकदम यन्त्रो से काम लेना बडी भूल है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालान्तर में इनके प्रयोग से बडा लाभ होता है, परन्तु परीक्षा के प्रारम्भ मे इनका प्रयोग करने से भूल और भ्रम होने की सम्भावना रहती है। इस सम्बन्ध मे ७० वर्ष से भी अधिक पूर्व काटन ने जो बात कही थी, वह स्मरण रखने योग्य है। "काफी बढा हुआ होने पर भी केवल यत्रो द्वारा वक्षस्थल की परीक्षा करने से क्षय-रोग का कभी कभी पता नही चलता"। आधुनिक यात्रिक विधियो की अपेक्षा अनुभवी नेत्र और अभ्यस्त करस्पर्श से रोग का अधिक पता लग सकता है, परन्तु इस यान्त्रिक युग में हम अपनी ज्ञानेन्द्रियो के उपयोग की उपेक्षा करने लगे हैं। कोरीगन कहा करते थे कि अधिकाश परीक्षकों में दोष यह नहीं होता कि वे कम जानते हैं, परन्तु यह होता है कि वे देखते कम हैं। निरीक्षण से अन्य परीक्षा-विधियो की अपेक्षा हर समय अधिक सूचना मिलती है। राजयक्ष्मा की पहचान मे निरीक्षण का मूल्य इस बात से सिद्ध होता है कि किसी स्वास्थ्यशाला मे घूम फिरकर केवल देखने से रोगी के सम्बन्ध में निम्नलिखित पाँच बाते बताई जा सकती हैं —

(१) रोगी को फेफडे का क्षय-रोग है अथवा नहीं।

(२) यदि है, तो उग्र है या हलका, नया है या पुराना।

(३) रोग किस फेफडे मे कितना बढ चुका है।

(४) रोगी की कार्यशक्ति कितनी कम होगई है।

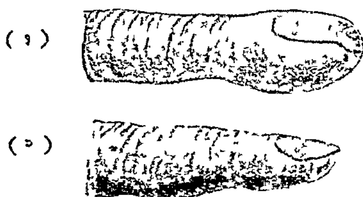
(५) रोग साध्य है या असाध्य।

यह सच है कि केवल निरीक्षण से जो बाते ज्ञात होती हैं वे सदा

ठीक नही होता। आगे चलकर जब अन्य परीक्षा-विधियो से अधिक प्रकाश पडता है तब उससे कभी कभी राय में परिवर्तन करना पडता है, परन्तु अधिकांश रोगियो में निरीक्षण से जो राय बनती है, वह ठीक निकलती है।

निरीक्षण का क्रम—इस बात को स्मरण रखते हुये कि क्षय एक सार्वाङ्गिक रोग होता है और यद्यपि यह फेफडो मे सीमाबद्ध रहता है, पर इसका प्रभाव सब शरीर पर पडता है, निरीक्षण मे रोगी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को देखना चाहिये और प्रकृतिस्थ से भिन्न प्रत्येक बात पर विचार करना चाहिये और उसका कारण ढूँढना चाहिये। सुगमता के विचार मे साधारणत रोगी के केवल कमर से ऊपर के कपडे उतरवाये जाते हैं। इससे कम से काम नही चलता। यदि आवश्यक हो तो शरीर के निम्न भाग का बाद को निरीक्षण करना चाहिये। सामान्य नियम यह होना चाहिये कि वक्ष की परीक्षा से पूर्व अन्य सब शरीर की परीक्षा कर लेनी चाहिये। हाथ, भुजा, कन्धे, शिर तथा ग्रीवा की उत्तरोत्तर क्रमानुसार परीक्षा करनी चाहिये।

हाथों का निरीक्षण—सब से पहले रोगी के हाथों को देखना चाहिये और उसकी उँगलियों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। क्षय रोगियो मे दो प्रकार की उँगलियाँ प्राय पाई जाती हैं, (१) अनेक रोगियो की उँगलियो के सिरे मोटे हो जाते हैं और उँगलियाँ गदाकार (Clubbed) होजाती हैं। (२) कुछ रोगियो की उँगलियाँ लम्बी, पतली और शुडाकार (Tapering) अर्थात ऊपर से नीचे को पतली होजाती हैं (चित्र न० ५५)। नखों की वक्रता लम्बाई और चौडाई दोनो दिशाओं में बढ



चित्र नं० ५५—क्षय रोग में उंगलियाँ
(१) गदाकार उंगली
(२) शुडाकार उंगली

जाती है और नख लम्बे होकर उँगलियों के सिरो पर झुक जाते
उँगलियों की आकृति मे परिवर्तन और नखों मे टेढ़ापन राजयक्ष्मा मे
साथ होते हैं। गदाकार उँगलियाँ क्षय-रोग के अतिरिक्त फेफड़ो के वायुध
रोग, हृदय रोग और अन्याय उन सब रोगो मे भी पाई जाती हैं जि
फेफड़ों के रक्त-परिभ्रमण मे रुकावट होती है।

नखों का रङ्ग भी ध्यान देने योग्य होता है। जो रोगी रोग का भ
प्रकार प्रतिरोध करते होते हैं, उनकी उँगलियो के रङ्ग मे कोई विशेष परिव
नही होता। विपाक्त रोगियों के नख रक्त (Flushed) होते हैं। जब फेफ
के रक्त-सचालन मे रुकावट होती है तो नखो पर श्यामता आ जा
है। क्षय रोगी के हाथ स्पर्श करने पर साधारणत शीतल और सा
(Cold and clammy) प्रतीत होते हैं। हाथों की यह दशा रोग
साध्यासाध्यता का सूचक भी होती है। शीतल और सान्द्र स्पर्श से य
सूचित होता है कि शरीर के तन्तु रोग के विषो से परिपूर्ण होगये हैं।

क्षय-रोगियों की भुजा—हाथों के बाद रोगी की भुजा देखन
चाहिये। उन पर हाथ फेरकर देखना और अच्छा होता है। क्षय-रोगी
त्वचा बहुधा शुष्क और रूक्ष होती है, जिससे उपचर्म के पोषण की कम
सूचित होती है। कभी कभी स्वेद की अधिकता के कारण त्वचा स्पर्श
मखमल सी प्रतीत होती है। वसा के क्षीण होने से त्वचा प्राय ढीली होक
लटकने लगती है। इसलिये इसको चुटकी से पकडकर अधोस्थित तन्तुओं
से सुगमता से अलग किया जा सकता है। भुजा की सब मासपेशियाँ क्षीर
होजाती हैं, इसलिये भुजा पतली पड जाती हैं।

कक्ष-स्वेद—भुजा-निरीक्षण के बाद रोगी की काँख की परीक्ष
करनी चाहिये। यहाँ टटोलने पर कभी कभी बढी हुई गिल्टियाँ मिलती हैं
इसका कोई विशेष महत्त्व नही होता। फेफडे के रोग से उनका सम्बन्ध नहीं
होता। सम्भव है कि उनके फूलने का कारण क्षय रोग हो अथवा अन्य कोई
कारण, जैसा कि प्राय होता है। क्षय-रोग में रोगी की काँख मे पसीना बहुत
आता है। थोडे से परिश्रम या चित्तोद्वेग से पसीना आने लगता है। परीक्षा
करते समय रोगी की काख मे प्राय पसीना टपकने लगता है। यह अच्छा
लक्षण नही होता। साधारणत यह विषव्याप्ति का सूचक होता है।

क्षय-रोग मे शिर—काँख के बाद रोगी के शिर को देखना

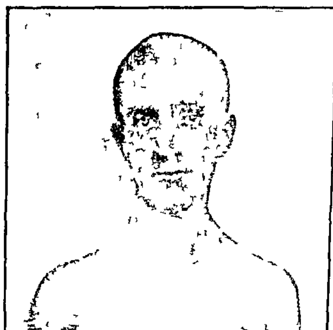
चाहिये। फेफडे के क्षय-रोग मे रोगी का शिर प्राय. उस ओर को झुका होता है, जिस ओर के फेफडे में रोग होता है, यद्यपि रोगी को इसका पता नहीं होता। जिस ओर रोग होता है उस ओर की गर्दन की मासपेशियों के अकड जाने से ऐसा होजाता है। क्षय-रोग का त्वचा के अन्य तन्तुओं की भाँति बालों पर भी प्रभाव होता है। बालों की चमक जाती रहती है, वे रूखे होजाते हैं और झडने लगते हैं। क्षय रोगियों को प्राय. यह शिकायत होती है कि उनके बालो की माँग ठीक नही कढती और उनको अधिक तेल लगाने की आवश्यकता होती है। जैसे जैसे रोगी की दशा सुधरती जाती है, वैसे वैसे बालों पर चमक आती जाती है और वे पुष्ट होने लगते हैं।

क्षय रोगी की आकृति—क्षय रोगी की आकृति मे एक विशिष्टता होती है जिससे उसको न केवल अनुभवी वैद्य ही, किन्तु साधारण मनुष्य भी पहचान सकते हैं। कायक्षीणता और चेहरे का पीलापन इत्यादि लक्षण तो अन्य क्षीणताकारक रोगो में भी होते हैं, परन्तु क्षय रोगी की आकृति मे इनके अतिरिक्त एक और विशेषता होती है, जो अन्य रोगों मे नही पायी जाती।

क्षय रोगी के चेहरे की मासपेशियाँ क्षीण, गाल पिचके, गालो की हड्डी उठी हुई और होंठ पीले या श्याम होते हैं। कायक्षीणता क्षय-रोग का सदैव विशिष्ट लक्षण नही होती। स्वास्थ्यशाला मे क्षय रोगियों के साधारणत लाल और भरे हुये चेहरे बडे चित्ताकर्षक होते हैं।

कपोलों का रङ्ग ध्यान देने योग्य होता है। कुछ रोगी बहुत पीले होते हैं। पीलेपन के साथ यदि कायक्षीणता भी हो तो बुरा लक्षण समझा जाता है। क्षय रोगी का चेहरा बहुत शीघ्र दृप्त होजाता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि यह तमक उस ओर के कपोल पर अधिक होती है जिस ओर के फेफडे मे रोग अधिक तीव्र होता है। क्षय रोगी के चेहरे पर इसके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार की दृप्ति और होती है जिसको विषम दृप्ति (Hectic Flush) कहते हैं। यह दृप्ति इस बात की द्योतक होती है कि अब रोग ने अपना भीषण रूप धारण कर लिया है। इस दृप्ति मे कपोल की हड्डियों के ऊपर अरुणता होती है और शेष सब चेहरा पीला होता है। यह साधारणत. मध्यान्होपरान्त काल के ज्वर के साथ प्रकट होती है।

क्षय-रोग में कान और नेत्र— राजयक्ष्मा मे कान बडे चित्ताकर्षक और शिक्षाप्रद होते हैं। जब रोग बढकर दोनों फेफडो मे फैल जाता है तब



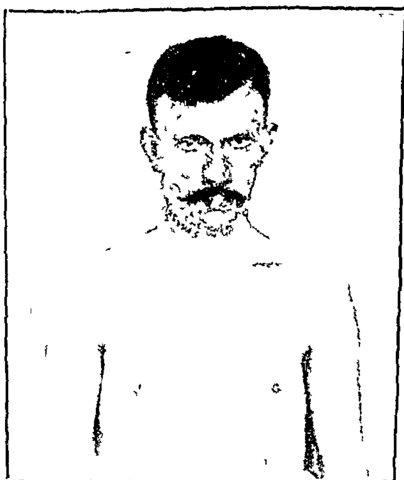
चित्र न० ५६—सम्वृद्ध क्षय रोग

पूरा बायाँ और ऊपर का आधा दाहिना फेफड़ा रोगाक्रान्त है। दाहिनी ओर रोग अधिक सक्रिय है। ध्यान देने योग्य बातें —(१) बाल पतले, सूखे और शीघ्र झड़नेवाले, (२) कानों की प्रमुखता, (३) सघन भौंहें, (४) बड़े चमकीले प्रमुख नेत्र, (५) ग्रीवा में लम्बापन और कोणता, (६) बाईं ओर उरकर्णमूलिका पेशी में अकड़न, (७) बाईं ओर अक्षकास्थि से नीचे के गड्ढे में गहरापन।

(पृष्ठ २६७)

(From Crocket's Physical and Radiological examination of lungs, by permission)

The Hindi Mandir Press Allahabad

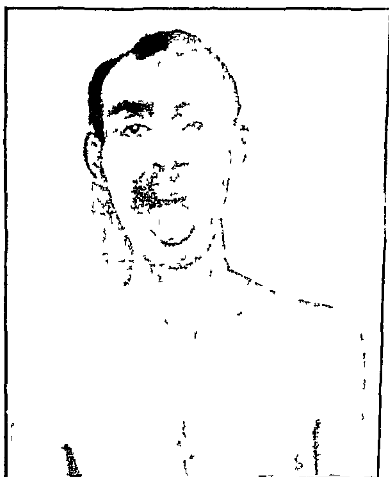


चित्र नं० ४७—दोनो फेफड़ो में रोग,
रोग पूरे बायें और दाहिने फेफडे के शिखर में है। ध्यान देने योग्य बातें —(१) बालो का रूप, (२) कानो की प्रमुखता, (३) बाईं ओर चेहरे का चपटापन, (४) बाईं ओर ग्रीवा की कोणता, (५) बाईं ओर अक्षकास्थि से नीचे के प्रदेश मे गड्ढा।

(पृष्ठ २६७)

(From Crocket's Physical and Radiological examination of lungs, by permission)

The Hindi Mandir Press, Allahabad



चित्र नं० ५८—पुरातन क्षय रोग,
रोग दोनों फेफड़ों में है, परन्तु दाहिने फेफड़े में अधिक सक्रिय है। ध्यान देने योग्य बातें —(१) बाल पतले और सूखे, (२) कान प्रमुख, विशेष कर बायाँ, (३) सघन भौंहें, (४) पुतलियों के आकार में अन्तर, (५) जीभ किस दिशा को झुकी हुई है, (६) ग्रीवा में कोणता, (७) उरकर्णमूलिका पेशियों में अकड़न, विशेषकर दाहिनी में, (८) अक्षकास्थि के नीचे के गड्ढों का गहरापन, (९) कंधा का चपटापन।

(पृष्ठ २९७)

(From Crocket's Physical and Radiological examination of lungs, by permission)

The Hindi Mandir Press Allahabad

क्षय-रोग में ग्रीवा—ग्रीवा की परीक्षा में शिर सीधा और पीछे को झुका हुआ होना चाहिये। स्वस्थावस्था मे ग्रीवा भरी हुई और उसके दोनों ओर कर्णमूल की अस्थि से लेकर अक्षकास्थि के बाहरी सिरे तक सुडौल गोलाई होती है। क्षय-रोग में गर्दन पतली होजाती है और लम्बी प्रतीत होने लगती है और उसके दोनों ओर गोलाई मिटकर कोण से बन जाते हैं। (चित्र न० ५७--६१)। त्वचा के अधोस्थित तन्तुओं के क्षीण होने से और मांसपेशियों की अकड़न से स्वर-यन्त्र, टेंटुआ, चुल्लिकाग्रन्थि इत्यादि अवयव उभरे हुये दिखाई देने लगते हैं। उरकर्णिका मासपेशियाँ (Sterno mastoids) कडी होकर ग्रीवा के दोनो ओर सामने दो रस्सियाँ सी दिखाई पडने लगती हैं। एक ओर के रोग मे उसी ओर की मासपेशी कडी होती है।

ग्रीवा में बढी हुई लसिकाग्रन्थियाँ—ग्रीवा की परीक्षा को समाप्त करने से पूर्व टटोलकर यह देखना चाहिये कि उसमे बढी हुई गिल्टियाँ तो नही हैं। फेफडे के क्षय-रोग मे साधारणत इतनी बढी हुई गिल्टियाँ नही पाई जाती कि वे देखने में आ सके। परन्तु लगभग ५० प्रतिशत क्षय रोगियो की गर्दन मे छर्रे के समान छोटी छोटी और कठोर गिल्टियाँ होती है जो टटोलने से ज्ञात हो सकती हैं। इनका महत्व कुछ कम नही होता। बच्चों की गर्दन मे गिल्टियाँ बहुधा पाई जाती हैं, परन्तु वे सदा क्षय-रोग की सूचक नही होती। अक्षकास्थि के ऊपर की बढी हुई गिल्टियो का क्षय-रोगसूचक महत्व कहीं अधिक होता है, विशेषकर जब वे केवल एक ओर बढी होती हैं।

वक्ष-निरीक्षण—शरीर के अन्य सब भागो का निरीक्षण करने के बाद वक्ष का निरीक्षण करना चाहिये। सबसे पहले वक्ष की व्यापक बनावट पर ध्यान देना चाहिये। बनावट की दृष्टि से वक्ष के कई रूप-भेद होते हैं। क्षय-रोग मे वक्ष का कोई विशिष्ट रूपाकार नही होता। रोग की पहचान करने मे वक्ष का आकार बहुत कम सहायक होता है। वक्ष के विकृत रूपों को जानने के लिए स्वस्थ वक्ष की बनावट और आकृति से परिचय होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि स्वस्थ और सुडौल वक्ष केवल आदर्शमात्र होती है जो साधारणत बहुत कम पाई जाती है।

स्वस्थ वक्ष—आदर्श स्वस्थ वक्ष यथाप्रमाण (Symmetrical) होती हैं और उसके दोनों पार्श्व समान होते हैं। दोनों अक्षकास्थियाँ अनुप्रस्थ होती हैं और बहुत उभरी हुई नहीं होतीं, केवल उनकी आकृतिमात्र दिखाई देती है। अक्षकास्थि के ऊपर और नीचे के प्रदेशों में थोड़ी सी गहराई होती है जो दाहिनी और बाईं ओर बराबर होती है। जब भुजाएँ धड़ से मिली हुई लटकी होती हैं तो अंसफलक (Scapula) पीठ पर दूसरी पसली से सातवीं पसली के समतल तक सपाट पड़े होते हैं। अंसप्राचीरक (Spine of Scapula) से ऊपर और नीचे के प्रदेश (Supra and Infra Spinatous fossæ) मांस से भरे होते हैं। पृष्ठवंश सीधा होता है और इसका ऊपरी भाग पीछे की ओर उन्नतोदर होता है। पसलियों का झुकाव ऊपर से नीचे को और पीछे से आगे को होता है। सामने उपपर्शुकाओं के मिलने से कौड़ी प्रदेश में जो कोण बनता है वह ६०° से ८०° तक का होता है। वक्षोऽस्थि देखने से कुछ नतोदर मालूम होती है। जहाँ इसका ऊर्ध्व खंड मध्य खंड से मिलता है वहाँ उँगली से टटोलने पर एक उभार मालूम होता है। इस उभार को वक्षोऽस्थि कोण या लुई का कोण (Angle of Louis) कहते हैं। स्वस्थ वक्ष का क्षितिज-काट अंडाकार होता है। इस काट का एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व का व्यास आगे पीछे के व्यास की अपेक्षा बड़ा होता है और इन दोनों में ७ : ५ का अनुपात होता है। स्वस्थ वक्ष में दोनों कंधों की ऊँचाई बराबर होती है।

क्षयी वक्ष

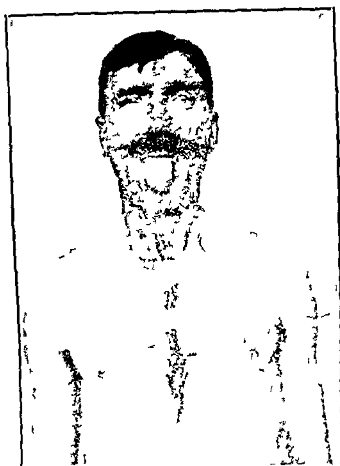
प्राचीन काल से लोग वक्ष के रूप के कुछ विकारों का क्षय रोग या क्षय-प्रवणशीलता से विशेष सम्बन्ध मानते आये हैं। यह विचार इतना प्रचलित है कि वक्ष की आकृति के सब प्रकार के विकारों से लोग क्षय रोग का सन्देह करने लगते हैं। परन्तु वास्तविक बात यह है कि वक्ष का कोई भी रूप ऐसा नहीं है जो क्षय-रोग का निश्चयात्मक चिह्न होता हो। यह अवश्य है कि वक्ष के रूप के कुछ विकार ऐसे होते हैं जिनसे क्षय रोग की ओर संकेत होता है।

चपटा और पक्षवत् वक्ष—वक्ष के ये दोनों रूप-भेद क्षय रोगियों में बहुधा पाये जाते हैं, परन्तु ये क्षय-रोग के निश्चयात्मक चिह्न नहीं होते, क्योंकि ये ऐसे रोगियों में भी पाये जाते हैं जिनमें जीवनपर्यन्त क्षय-रोग नहीं होता। चपटे वक्ष में पसलियाँ अधिक तिरछी और ढालू होती हैं

और फलतः पसलियों के अगले भाग और उपपर्शुकायें सामने उन्नतोदर होने के बजाय चपटे प्रतीत होते हैं। वक्ष बहुत लम्बी, सकीर्ण और चपटी होती है और अन्तर्पार्श्विक स्थल सकीर्ण होते हैं (चित्र नं० ६१)। वक्ष का अगला पिछला व्यास कम हो जाता है। अक्षकास्थि अधिक उभरी हुई होती है और उनके ऊपर तथा नीचे के गड्ढे अधिक गहरे हो जाते हैं। फ्रूएड का मत है कि वक्ष के इस रूप में प्रथम उपपर्शुका छोटी होती है। प्रथम उपपर्शुका की छोटाई और शीघ्र अस्थि परिणति (Ossification) के कारण वक्ष का ऊपरी द्वार सकीर्ण होता है। यही कारण है कि क्षय-रोग फुफ्फुस शिखर पर अधिक होता है। कधे प्राय सामने को झुके हुये होते हैं। कौडी प्रदेश का अन्तर्पार्श्विक कोण (Intercostal angle) छोटा हो जाता है, यहाँ तक कि यह कभी कभी २५° तक का हो जाता है। वक्ष प्रदेश का पृष्ठवश आगे को झुक जाता है। परवत् वक्ष मे इन सब बातो के अतिरिक्त असफलक पीठ पर सपाट होने के बजाय परों की भाँति उभरे हुये होते हैं।

चपटे वक्ष के दो भेद होते हैं, एक सहज और दूसरा उपार्जित। सहज चपटी वक्ष कभी कभी पैतृक भी होती है और क्षयी माता पिताओ से उत्पन्न नवजात शिशुओं मे पाई जाती है। परन्तु पैतृक चपटी वक्ष बहुत विरल होती है। सहज चपटी वक्ष अधिकतर निर्बल बच्चो मे पाई जाती है, जिनका स्वास्थ्य स्वाभाविक रूप से खराब होता है। प्रौढों मे यह प्रधानत उन्हीं व्यक्तियो मे होती है जिनकी मासपेशियाँ भली प्रकार विकसित न होने के कारण दुर्बल होती हैं। अन्तर्पार्श्विक पेशियो के निर्बल होने से उच्छ्वास की क्रिया निर्बल होती है जिससे वक्ष का प्रसार ठीक ठीक नही होता।

इसप्रकार के वक्षवाले व्यक्ति को अन्य रोग-लक्षणो के अभाव में क्षय-रोगी या क्षय-प्रवणशील कह देना बडी भूल है। दुर्बल गठन के बहुत से मनुष्यो मे क्षय-रोग कभी नहीं होता। कुछ इस बात की साक्षी मिलती है जिससे यह प्रतीत होता हे कि इस भाँति की दुर्बल वक्ष पुराने, विशेषकर बाल्यावस्था के क्षय सक्रमण का फल होती है, जिससे वक्ष के अन्दर की लसिकाग्रन्थियो मे रोग होकर अच्छा हो जाता है। इस पुस्तक में अन्यत्र यह बतलाया गया है कि बाल्यावस्था के इन क्षय-सक्रमणो से शरीर में कुछ रोगक्षमता उत्पन्न होजाती है, जिससे युवावस्था मे फेफडों मे क्षय-रोग के होने में रुकावट होती है।

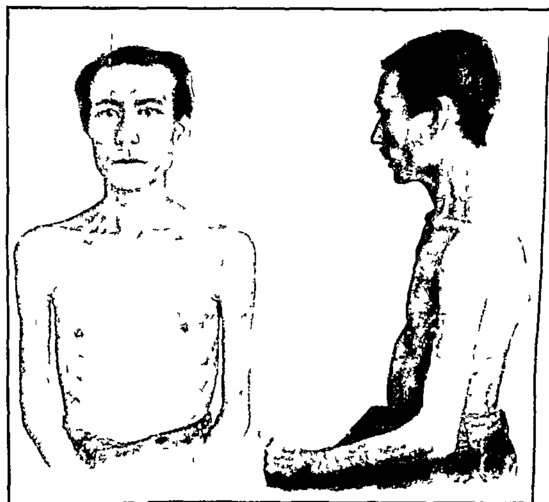


चित्र न० ६०—पुरातन क्षय रोग

बाईं ओर अधिक और दाहिनी ओर ऊर्ध्व खंड में तुच्छ अभिव्यापन है। ध्यान देने योग्य बातें —(१) बाल सूखे, कम और झड़ने वाले; (२) दाहिनी आँख के छिद्र का छोटापन; (३) कमानीदार [illegible] भौंह, (४) जीभ का दाहिनी ओर को झुकाव, (५) ग्रीवा की कोणता, (६) उरःकर्णमूलिका पेशियों में अकड़न, (७) दाहिने पार्श्व और दाहिने चूचुक का नीचे को गिरना।

(पृष्ठ २८७)

(From Crocket's Physical and Radiological examination of lungs, by permission)



चित्र नं० ६१—नयी वक्ष (Musser)
(पृष्ठ ३००)

The Hindi Mandir Press Allahabad

उपार्जित चपटी वक्ष की बात भिन्न होती है। उपार्जित चपटी वक्षवाले लोगों के फेफडों मे जाग्रत या शान्त क्षयरोग होता है। अधिकाश रोगियों मे यह पाया जाता है कि वक्ष की यथाप्रमाणता में अन्तर पड जाता है। जब रोग नवीन या उग्र होता है तो श्वाससम्बन्धी मासपेशियाँ सकुचित होकर कडी होजाती हैं और जब रोग पुरातन होता है तो मासपेशियाँ क्षीण होती हैं। एक असफलक दूसरे असफलक से अधिक पखवत् होता है और एक कधा दूसरे कधे मे नीचा होता है। वक्ष की यथाप्रमाणता में अन्य अन्तर होजाते हैं, जिनका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

वक्ष के निरीक्षण में उसकी व्यापक आकृति पर विचार करने के बाद उसके प्रत्येक भाग पर ध्यान देना चाहिये। क्षय रोगी के वक्ष का विशिष्ट लक्षण उसकी अयथाप्रमाणता होती है। अभिव्यापन (Infiltration), बधन (Adhesions), सूत्रनिर्माण (Fibrosis), रध्रोत्पत्ति और सम्पीडन से एक ओर वक्ष पिचक जाती है। प्रतिपूरक वायुध्मान (Compensatory Emphysema) पार्श्वकला मे जलस्राव तथा वायु से उस ओर का वक्ष फूल जाता है। वक्ष के इस पिचकने और फूलने से पसलियाँ एक ओर पास पास होजाती हैं और दूसरी ओर अन्तर्पार्श्विक स्थल चौडे होजाते हैं। एक ओर का कधा नीचा और दूसरी ओर का कुछ ऊँचा हो जाता है। पृष्ठवश मध्यरेखा से किसी ओर हट जाता है। वक्ष के अस्थिपञ्जर के ये परिवर्तन उसके आच्छादक कोमल ततुओ के क्षीण होने से और भी बढ जाते हैं। इसलिये वक्ष के विभिन्न भागो की परीक्षा मे दाहिने और बाएँ, दोनो ओर के अनुरूप भागों की परस्पर तुलना करके देखना चाहिये कि उनमे कोई अन्तर तो नहीं है ?

वक्ष के कोमल तंतुओं का निरीक्षण

वक्ष की त्वचा—वक्ष की त्वचा और उसके अधोस्थित तन्तु क्षय-रोग मे साधारणत क्षीण होजाते हैं। यदि स्तनभाग के ऊपर की त्वचा को चुटकी से उठाया जाय तो वह ढीली और क्षीण प्रतीत होती है। वक्ष के ऊपरी भाग में और गर्दन मे सेंहुआँ (Tinea Versicolor) नामक चर्म रोग की सफेद-सी चित्तियाँ बहुधा क्षय रोगियो में पाई जाती है।

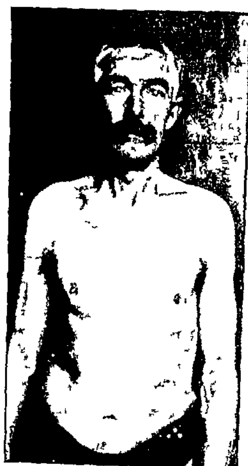
वक्ष पर फूली हुई शिरायें—वक्ष के भीतर के रोगों में शिरा-रक्त के

हृदय के दाहिने कोष्ठ को लौटने मे रुकावट पड़ जाती है। फलत वक्ष पर शिराये फूलकर दिखाई देने लगती हैं, विशेषकर सामने पहले और दूसरे अन्तर्पार्श्विक स्थलों मे और पीछे पहले और दूसरे वक्ष कशेरु कटकों के समीपस्थ प्रदेश मे। क्षय-रोग मे वक्ष के अन्दर लसिकाग्रन्थियों के बढ जाने से वहाँ की शिराओं पर दबाव पडता है, जिससे शिरा रक्त के प्रवाह मे रुकावट होती है। वक्ष की दीवार की शिराओं के रक्त प्रवाह मे भी, जो उनमे जाकर मिलती हैं, बाधा हो जाती है और फलस्वरूप वे फूलकर त्वचा मे से दिखाई देने लगती हैं। लोम्बार्डी के मतानुसार पीछे फूली हुई शिराये ८० या ९० प्रतिशत क्षय रोगियों मे पाई जाती हैं।

वक्ष के निचले भाग मे भी क्षय रोगियों मे कभी कभी फूली हुई शिराये मिलती हैं। उदर की फूली हुई शिराओं से इनका सबंध होता है। कभी कभी इनका सम्बन्ध नाभि के चारों ओर फूली हुई शिराओं से भी होता है। इनसे यह सूचित होता है कि उदर भी रोगाक्रांत होगया है।

स्तन—स्तनो की परीक्षा करनी चाहिये और उनका समतल, परिमाण और चूचुकों का रग देखना चाहिये। यह भी देखना चाहिये कि मध्य रेखा से उनका स्थान कितनी दूर है। पुरातन क्षय-रोग मे स्तन नीचे और मध्य रेखा के अधिक समीप हो जाते हैं (चित्र न० ६०)। प्रारम्भिक क्षय मे रोग की ओर का स्तन बडा और पुरातन क्षय मे छोटा प्रतीत होने लगता है। रोग की ओर के स्तन के चूचुक का रग कभी अधिक गहरा होजाता हैं।

वक्ष की मांसपेशियां—क्षय-रोग मे वक्ष की मास पेशियों मे अकडन और शोष (Atrophy) ये दो प्रकार के परिवर्तन पाये जाते हैं, परन्तु ये परिवर्तन क्षय-रोग के विशिष्ट लक्षण नहीं होते, क्योंकि क्षय-रोग के अतिरिक्त ये अन्य वक्षान्तरिक रोगों मे भी पाये जाते हैं। इन परिवर्तनो का यह कारण होता है। जब फेफडे या पार्श्वकला मे उग्रप्रदाह होता है तो रुग्नस्थान की आच्छादक पेशिया उस स्थान की रक्षा के लिये सकुचित होकर कडी होजाती हैं। रोग की उग्रता के अनुसार अकडन न्यूनाधिक होती है। जब कालान्तर में रोग पुरातन अवस्था को प्राप्त होता है तब पेशियां क्षीण होकर शिथिल होजाती हैं। प्रारम्भिक क्षय में वक्ष और ग्रीवा की पेशिया रोग की ओर कडी होजाती हैं। अतएव दूसरी ओर की



चित्र नं० ६२—पुरातन क्षय-रोग

दाहिने फेफड़े में विस्तृत सघनता और बायें फेफड़े में बिखरा हुआ अभिव्यापन। ध्यान देने योग्य बातें—(१) बाल सूखे और गिरनेवाले (२) कानों की प्रमुखता, (३) कमानीदार सघन भौंहें (४) उरकर्णमूलिका पेशियों में अकड़न, (५) ग्रीवा की कोणता, दाहिना कोण बायें से अधिक नीचा, (६) दाहिने अक्षकास्थि के नीचे के गड्ढे का अधिक गहरापन, (७) दाहिने पार्श्व का चपटापन।

(पृष्ठ ३०२)

(From Crocket's Physical and Radiological examination of lungs, by permission)

The Hindi Mandir Press Allahabad

पेशियों की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट दिखाई देती हैं। प्रारंभिक क्षय का यह एक अच्छा चिह्न होता है।

क्षय-रोग मे उरच्छादनी बृहती (Pectoralis major), असपर्शुका (Serratus magnus) और असाच्छादनी (Deltoid) ये तीन पेशिया विशेषत ध्यान देने योग्य होती हैं। उरच्छादनी बृहती पेशी प्रधानत फेफड़े के ऊर्ध्व खड के रोग मे अभिभूत होती है। इसके क्षीण होने से उरच्छादनी और असाच्छादनी के बीच का गड्ढा (Morreinheim's fossa) अधिक गहरा होजाता है (चित्र न० ६२)। असपर्शुका पेशी निम्न खड के रोग मे अभिभूत होती है। इसके क्षीण होने से असफलक पखवत् होजाता है। असाच्छादनी के क्षीण होने से कधा, विशेषकर उसका अगला भाग चपटा होजाता है। यह पेशी बहुधा क्षय-रोग के प्रारभ मे ही क्षीण होजाती है। एक ओर के रोग से उसी ओर की पेशिया क्षीण होती हैं।

अकडन और अतिपुष्टि मे भेद—इस सबध मे मासपेशियो पर काम और आदत के प्रभाव को ध्यान मे रखना चाहिये। दाहिने हाथ से काम करने वाले लोगो की दाहिनी ओर की पेशियाँ अधिक सुविकसित होती हैं। इससे अकडन का भ्रम हो सकता है। जिन लोगो ने बहुत दिनों से काम नहीं किया है उनकी पेशियाँ शिथिल और छोटी होजाती हैं। इससे शोप का भ्रम हो सकता है। ऐसे रोगियो मे अकडन या शोप का निर्णय करने के के लिये त्वचा और उसके अधोस्थित तन्तुओं की दशा को देखना चाहिये। इन पर काम की अधिकता या अभाव का कुछ प्रभाव नहीं होता, जैसा कि रोग मे होता है। यदि ये अधिक क्षीण न हो तो गर्दन की पेशियो को भी देखना चाहिये। इन पेशियों पर श्रम या अश्रम का कोई प्रभाव नहीं होता।

दोनों पार्श्वो मे कक्षीय प्रदेशो मे नीचे अन्तर्पार्श्विक स्थलों का निरीक्षण करना चाहिये। प्रश्वास मे अन्तर्पार्श्विक स्थलो का अन्दर की ओर खिचाव फेफड़ो मे वायु के प्रवेश मे रुकावट सूचित करता है। अन्तर्पार्श्विक स्थलो का फुलाव पार्श्वकला मे तरल या वायु अथवा फेफड़े का ठोसपन सूचित करता है।

राजयक्ष्मा में हृदय—हृदय की धुकधुकी की जगह को देखना चाहिये। धुकधुकी का बहुत चौडाई मे फैला हुआ दिखलाई देना वाम फेफड़े का रोग और उसका [illegible] सूचित करता है। यह स्मरण रहे कि

फुफ्फुस-रोग मे हृदय मध्य रेखा को ओर या बाहर की ओर हट जाता है। फेफडे के पिचकने पर या उसमे सूत्र-निर्माण होने पर हृदय रोग की ओर खिंच जाता है। इस प्रकार दाहिने फेफडे के रोग मे हृदय हटकर दाहिनी ओर पहुँच सकता है। सूत्र-निर्माण के कारण बायें फेफडे के सिकुडने पर हृदय का बाया ग्राहक कोष्ठ अनाच्छादित होजाता है, और दूसरे तथा तीसरे अन्तर्पार्श्विक स्थलों मे फैली हुई धडकन दिखलाई देने लगती है। वायुवक्ष में और पार्श्वकला के स्राव में हृदय दूसरी ओर को हट जाता है, और धुकधुकी स्थानाच्युत होजाती है।

वक्ष का अस्थिपंजर--वक्ष की अस्थियाँ बडी महत्वपूर्ण होती हैं, और उनका बडे ध्यानपूर्वक निरीक्षण करना चाहिये।

अक्षकास्थि--क्षय-रोग मे अक्षकास्थि कोमल तन्तुओं के क्षीण होने से साधारणत. सुस्पष्ट होजाती है। इसका बाहरी सिरा रोग की ओर दूसरी ओर की अपेक्षा अधिक नीचा होजाता है। यह परिवर्तन रोग के आरंभ मे बहुत शीघ्र होजाता है। डाक्टर कुथी के मतानुसार यह चिह्न लगभग ८२ प्रतिशत प्रारम्भिक क्षय रोगियो मे पाया जाता है। अक्षकास्थि के ऊपर और नीचे के गड्ढे अधिक गहरे होजाते हैं।

वक्षोऽस्थि—वक्षोऽस्थि के ऊर्ध्व और मध्य खंड के संगम का लुई-कोण क्षय रोग में अधिक उभरा हुआ देख पडता है और वक्षोऽस्थि स्वयं चपटी होजाती है।

अंसफलक--अंसफलक से अधिक उपयोगी सूचना मिलती है। जिस ओर वक्ष मे रोग होता है उस ओर का अंसफलक (पुट्ठा) नीचा और मध्य रेखा के अधिक समीप होजाता है। जब फेफडे के निम्न खंड में रोग होता है तो अंसफलक, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पखवत होजाता है।

पर्शुकायें---पसलियों के तिरछेपन का पता लगाना बहुत आसान नही होता। वक्षान्तरिक रोग के अनुसार तिरछापन कम या ज्यादा होता है। पार्श्व के स्राव और वायुवक्ष में पसली अधिक क्षितिज अर्थात उनका तिरछापन कम होजाता है। अभिव्यापन और सूत्र निर्माण में पसलियाँ अधिक तिरछी होजाती हैं और खपरैल के समान ढालू देख पडती हैं। यह खपरैल का सा रूप एक्सरे छाया चित्र मे भली प्रकार दिखाई देता है। चार बातों पर ध्यान देने से पसलियो की स्थिति का पता

लग जाता है, (१) कंधों का समतल, (२) चूचुकों का स्थान, (३) निम्नपार्श्विक कोण (Subcostal angle) का अंश परिमाण, (४) अंसफलकों की स्थिति। जब दूसरी ओर की अपेक्षा एक पार्श्व की पसलियाँ अधिक तिरछी होती हैं तो उस ओर का कंधा अधिक नीचा होजाता है। चूचुक नीची और मध्यरेखा के अधिक समीप, निम्नपार्श्विक कोण छोटा तथा अंसफलक नीचा और पृष्ठवंश के अधिक समीप होजाता है। वक्ष के निरीक्षण में सदा इन चार बातों को देखना चाहिये और एक पार्श्व की दूसरे पार्श्व से तुलना करनी चाहिये। पीछे की मध्यरेखा सीधी होनी चाहिये।

श्वास का प्रभाव—अंत में श्वासक्रिया का निरीक्षण करना चाहिये और यह देखना चाहिये कि श्वास का रूप और उसका वक्ष पर क्या प्रभाव है? यह निरीक्षण रोगी के सामने से, पार्श्व से और पीछे से ध्यानपूर्वक करना चाहिए। हरएक स्थिति में कम से कम दो श्वास देखना चाहिए। प्रथम श्वास में यह देखना चाहिए कि ऊपर को वक्ष की गति कितनी होती है और दूसरे श्वास में वक्ष का फुलाव देखना चाहिए। दोनों पार्श्वों की सावधानी से परस्पर तुलना करनी चाहिए।

गति विलम्ब (Lagging)—क्षय-रोग के प्रारम्भ में प्राय यह देखा जाता है कि वक्ष के स्वस्थ पार्श्व की अपेक्षा रुग्न पार्श्व में श्वास गति देर में आरम्भ होती है और कम होती है। रोग की सम्प्राप्त अवस्था में और उन रोगियों में, जिनकी पार्श्व कला में बन्धन बन जाते हैं या जलस्राव या वायुवक्ष होजाता है अथवा वक्ष के अन्दर कोई नवोत्पत्ति (Neoplasm) होजाती है, रुग्न पार्श्व में श्वासगति का कभी कभी बिलकुल अभाव होजाता है।

वक्ष के एक ओर ऊपरी भाग में श्वासगति का पिछड़ना उस ओर के फेफड़े के शिखर में क्षय-रोग का होना सूचित करता है। यदि दोनों ओर की गति बराबर हो, परन्तु क्षय-रोगसूचक अन्य चिह्न विद्यमान हों तो समझना चाहिए कि दोनों फेफड़ों में रोग है। जब एक ओर रोग पुराना और शान्त और दूसरी ओर नया और जाग्रत होता है तो जाग्रत रोग की ओर गतिविलम्ब अधिक होता है। जब दोनों फेफड़ों में पुरातन रोग होता है, तो दोनों ओर की गति समान, परन्तु कम होती है, इसलिये निरीक्षण और स्पर्श से इसका पता लगाना कठिन होता है। ऐसे

रोगियों में उनके वक्ष को टकोरने और श्रवण करने से अधिक विश्वस्तसूचना मिलती है, परन्तु एक ओर के प्रारम्भिक रोग के पहचानने में निरीक्षण का अधिक महत्व होता है।

निश्वास में खिंचाव—सम्प्राप्त रोग मे निश्वास के निकालते समय किसी किसी स्थान पर वक्ष अन्दर को खिँच जाता है। कई रोगियों में, जिनके फेफडो के ऊर्ध्वखंड मे बडे बडे रध्र बन जाते हैं, श्वास निकालते समय रध्र के ऊपर के भाग में वक्ष अन्दर की ओर खिँचकर गट्ढा-सा प्रकट होने लगता है। इसप्रकार के गड्ढे साधारणत दूसरे, तीसरे और चौथे अन्तर्पार्श्विक स्थलों मे पाये जाते हैं। जब बायें फेफडे में रोग विस्तृत होता है, तो स्थानच्युत हृदय की धडकन फेफडे के खिँचाव और पार्श्वकला के बधनों के कारण फैली हुई दिखाई पड़ती है। जब वायु-कोष्ठों मे वायु के प्रवेश होने में रुकावट होती है, जैसा कि उग्रव्यापक क्षय और फुप्फुस शोथ मे होता है, तो वक्ष के निचले किनारों का खिँचाव होता है। इसप्रकार का खिँचाव बच्चों और नवयुवकों में अधिक होता है। जब फेफडो के ऊर्ध्वखडो मे क्षय और निम्नखडों मे प्रतिपूरक वायुध्मान होता है, उस समय भी वक्षस्थल के निचले किनारों का खिँचाव होता है।

वक्ष का निश्वाससम्बन्धी खिँचाव वायुरहित फुप्फुस-तन्तु का एक उत्तम चिह्न होता है। फुप्फुस-तन्तु के वायुरहित होने के कारण का पता अर्थात् उसका कारण क्षय-रोग है या फुप्फुस प्रदाह, फेफडे का सकोच है अथवा पार्श्वकला मे बधन, रोग के अन्य समन्वित लक्षणों और रोग-चिह्नों से लगाना चाहिए। अन्य किसी कारण से उत्पन्न वक्ष के स्थानिक गति-अभाव को भूल से खिँचाव नहीं समझना चाहिए, क्योंकि खिँचाव और गति-अभाव दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

स्पर्श-विधि

स्पर्श का अन्य परीक्षा-विधियों से सम्बन्ध—स्पर्श परीक्षक को निरीक्षण से एक कदम और आगे ले जाता है। स्पर्श को निरीक्षण और विघातन के बीच की सीढ़ी कहा जा सकता है। निरीक्षण से जिन विकारो का सन्देह होता है, स्पर्श से उनका निश्चय किया जा सकता है। स्पर्श से वक्ष के अवरोध, स्फुरण और धड़कन का पता लगता है और इसप्रकार निरीक्षण से प्राप्त ज्ञान मे और भी वृद्धि होती है। स्पर्श से जो बाते ज्ञात होती हैं, विघातन से उनका समर्थन होजाता है। आजकल की विघातन परीक्षा को स्पर्श विधि का ही एक दूसरा रूप समझना चाहिए। विघातन से जो शब्द निकलता है, उसमे इतनी सूचना नही मिलती जितनी कि अवरोध के ज्ञान से, जो प्रकम्पित अधोस्थित तन्तुओं से व्यवधायक (Pleximeter) अर्थात वक्ष पर रक्खी हुई उँगली को प्राप्त होता है। अस्तु, स्पर्श-परीक्षा से लगभग वही बातें ज्ञात होती है जो विघातन से होती हैं।

स्पर्श से ज्ञात होनेवाली बातें—स्पर्श से वक्ष की दीवार और वक्ष के अन्दर के अवयवो के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं —

(१) वक्ष के विभिन्न प्रदेशो की बनावट का ज्ञान होता है और स्वस्थ वक्ष की यथाप्रमाणता के विकारों का तथा गड्ढे या खिंचाव अथवा स्थानिक उभार का पता लगता है।

(२) त्वचा और उसके नीचे के तन्तुओं की दशा के ... मालूम होजाता है कि उनमे क्षीणता व्यापक है या

(३) मांसपेशियो की दशा के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातो का पता चल जाता है —

(क) वे अतिपुष्ट तो नहीं हैं जैसा कि कुछ व्यवसायो मे हो जाता है।

(ख) वे अधिक कडी तो नही हैं, जैसा कि वक्षान्तरिक उत्तेजना के प्रत्यावर्त्तक प्रभाव से होता है।

(ग) वे क्षीण तो नहीं हैं, जैसा कि पुरातन रोग मे विष-व्याप्ति से अथवा पोषणाभाव से होजाता है।

(४) वक्षान्तरिक अवयवो की दशा का पता लग जाता है। स्वस्थ पुप्फुस, रोग मे अभिव्याप्त पुप्फुस, फेफडो मे रध्रनिर्माण, वायुध्मान तथा मोटी पार्श्वकला, पार्श्वकला में स्राव तथा वायुवक्ष, (Pneumothorax) इनमे से प्रत्येक के अवरोध की विभिन्न सम्वेदनायें स्पर्श करने पर अनुभवी परीक्षक को मिल जाती हैं।

(५) वक्ष की गतियो का पता लगता है। स्पर्श से वक्ष के फूलने, फैलने और किसी स्थान पर पिछडने का पता लग सकता है और यह भी बताया जा सकता है कि उनका कारण मासपेशियो में है, फेफडे के विकार हैं अथवा पसली, रीढ या वक्षोस्थि का कोई विकार है।

(६) खरखराहट (Fremitus) का पता लगता है। यह तीन प्रकार की होती है —

(क) वाचिक—जब रोगी नकार वाले शब्दो का उच्चारण करता है, जैसे 'तीन', 'निन्यानवे' इत्यादि तो वक्ष पर रक्खे हुए हाथ को उन शब्दो की खरखराहट प्रतीत होती है। इसको वाचिक खरखराहट (Vocal fremitus) कहते हैं।

(ख) जब पार्श्वकला मे प्रदाह होता है तो उसके दोनों परतो मे रगड।होने से हाथ को खरखराहट प्रतीत होती है। इसको साघर्षिक खरखराहट (Frictional fremitus) कहते हैं।

(ग) जब श्वासनलों मे श्लेष्म होता है तो वायु के आने-जाने मे अडचन होने से खरखराहट होती है। इसको कासीय खरखराहट (Ronchal Fremitus) कहते हैं।

(७) हृदय के परिमाण और धुकधुकी के स्थान का पता लगता है। फेफड़े और पार्श्वकला के रोगो मे इनमें बहुधा परिवर्तन होजाता है।

(८) पिलपिलाहट का पता लगता है। वक्ष की दीवार मे विद्रधि होने से, पार्श्वकला में पीव पड़ने से और वायुवक्ष मे स्राव होने से वक्ष के टटोलने पर पिलपिलाहट प्रतीत होने लगती है।

(९) श्वासो की सख्या का पता लगता है। इसका पता स्त्रियो मे वक्ष पर हाथ रखने से और पुरुषो मे कौडी प्रदेश पर हाथ रखने से अच्छा लगता है। स्वस्थ व्यक्तियों मे श्वास की सख्या प्रति मिनट १८ से २० तक होती है और रोग मे न्यूनाधिक होजाती है। प्रकृतिस्थ दशा मे बच्चों मे श्वास सख्या अधिक होती है। सख्या मे श्वास और नाडी की गति का अनुपात १ ४ होता है। फुफ्फुस रोग में कभी कभी यह अनुपात १ २ तक होजाता है।

(१०) यदि वक्ष के किसी भाग मे शूल या सुकुमारता हो तो स्पर्श से उसका भी पता लगता है और यह भी मालूम होजाता है कि दबाने का क्या प्रभाव होता है।

वक्ष के स्पर्श की विधियाँ

स्पर्श के समय रोगी खडा अथवा आराम से सीधा लेटा हुआ होना चाहिए। रोगी के शरीर के किसी भाग के सिकुडे, खिँचे या तने हुए होने से धडकन या खरखराहट के पता लगाने मे रुकावट होती है और उसकी मासपेशियों की दशा के सम्बन्ध मे भ्रम हो सकता है। परीक्षक को साधारणत रोगी के सम्मुख खडा होकर निम्नलिखित विधियो से काम लेना चाहिए—

(१) पूरे हाथ को कोमलता से, परन्तु स्थिरता के साथ वक्ष पर रखना चाहिए। इससे वक्ष की बनावट, गति का परिमाण और विलम्ब तथा खरखराहट की मात्रा का पता लग जाता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि (क) हाथ वक्ष के उन प्रदेशों मे रक्खे जायँ जिनका फेफडा से सम्बन्ध होता है, (ख) पूरा हाथ वक्ष पर एक-सा रहे।

(२) निम्नलिखित बातो का पता लगाने के लिए उँगलियों के सिरो से काम लेना चाहिए—

(क) हृदय के परिमाण और धुकधुकी का पता लगाने के लिए।

(ग) अक्षकास्थि के ऊपर के शिखर-प्रदेश तथा अन्तर्पार्श्विक स्थल जैसे छोटे छोटे प्रदेशो का पता लगाने के लिए।

दबाने से प्राय. फुफ्फुस तन्तुओं की अभिव्याप्ति का पार्श्वकला मे स्राव या वायु का और मध्य वक्ष की गिल्टियो का पता लग सकता है। उँगलियो के सिरो से दबाने से पेशियो की अकडन तथा क्षीणता का भी पता लग सकता है।

(३) प्रत्येक अन्तर्पार्श्विक स्थल मे खरखराहट का पता लगाने के लिए और फेफडे के निचले किनारे का पता लगाने के लिए हाथ को क्रमश. जगह जगह पर खडा रखना चाहिए।

(४) मध्यमा उगली से ठोककर मासपेशियो और त्वचा के नीचे के ततुओ की दशा का और मासपेशियों की क्षुब्धता का पता लग सकता है।

(५) चुटकी से त्वचा और उसके अधोस्थित ततुओ के शोप का पता लग सकता है।

अस्तु, स्पर्श से रोगी की परीक्षा मे बहुत बाते ज्ञात हो सकती हैं। इसकी किसी प्रकार उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। निरीक्षण के बाद और विघातन से पूर्व सदैव स्पर्श विधि का प्रयोग करना चाहिए। जिस क्रम से परीक्षक को काम लेना चाहिए, वह बडा सुगम है और इसमे अधिक समय नहीं लगता, न उसका स्मरण रखना ही कोई कठिन बात है।

वक्ष की दीवार के ततुओं के सम्बन्ध में स्पर्श से ज्ञात बातें—वक्ष की बनावट और वक्ष की दीवार के ततुओ का पता वक्ष पर हाथ फेरने से लग सकता है। इसप्रकार स्थानिक उभार तथा चपटापन का पता निश्चयपूर्वक लग जाता है।

अक्षकास्थि का वक्षीय सिरा पुरातन क्षय-रोग में फेफडे के सिकुडने और वक्ष के अन्दर की ओर खिचाव से प्राय उभर आता है।

क्षय-रोग मे वक्ष की दीवार के कोमल ततु क्षीण होजाते हैं, विशेषकर रुग्ण भाग के ऊपर। कभी कभी त्वचा रूक्ष तथा शुष्क और कभी कभी क्षीण होजाती है। त्वचा के नीचे के ततु बहुत क्षीण होजाते हैं, वसा बहुत कम होजाती है और त्वचा मासपेशियो से चिपकी हुई नहीं होती। यह दशा रोग की ओर और रुग्ण भाग के ऊपर अधिक सुस्पष्ट होती है।

स्पर्श में त्वचा को चुटकी से उठाकर टटोलकर देखना चाहिए। क अन्तर्पार्श्विक स्थल की क्रमश जाँच करनी चाहिए और दूसरी र के स्थल से तुलना करनी चाहिए। नीचे से प्रारम्भ कर ऊपर जाना चाहिए। त्वचा को उँगलियों मे टटोलने पर केवल उसकी ई का ही पता नहीं लगता, बल्कि क्षयी-विकारों के ऊपर की त्वचा धारणत गीले 'वाश लेदर' (मृदु चर्म) की सी प्रतीत होती है। नी कभी सब शरीर की त्वचा इसी प्रकार की होजाती है। इसका कारण ण तंतुओं की शिथिल अवस्था होती है। प्राकृतिक दशा मे अक्षक और होऽस्थि के ऊपर के प्रदेशों में जो वसा की गद्दी होती है, वह क्षय रोग मे साधारणत बहुत शीघ्र विलीन होजाती है। सक्रिय क्षय-रोग मे बहुधा कुछ न कुछ त्वचांकन (Dermographia) मिलता है। यदि नाखून से ऐसे व्यक्तियों की त्वचा पर लकीर खींची जाय तो ७० प्रतिशत रोगियों मे वह लकीर लाल होजाती है, जो कुछ देर में सुव्यक्त होजाती है और फिर धीरे धीरे मिट जाती है।

मांसपेशियों की अकडन या क्षीणता का टटोलकर पता लगाना—पेशियों की अकडन या क्षीणता का पता लगाना चाहिए। क्षय-रोग में एक स्नायु-मांसपेशिक विष (Neuro-muscular toxin) उत्पन्न होता है जिसका शरीर की मांसपेशियों पर बहुत बडा प्रभाव पडता है। इसी के कारण सक्रिय रोग मे रोगी को थकावट प्रतीत होती है और मन्दाग्नि होती है। मांसपेशियों की इस व्यापक निपव्याप्ति के अतिरिक्त और इससे भिन्न प्राय एक स्थानारूढ दशा और देखने मे आती है। जब अन्त्र परिशिष्ट (Appendix) मे अथवा उदर कला (Peritoneum) मे रोग होता है तो उदर की दीवार कडी होजाती है। रुग्न भाग को आराम पहुँचाकर प्रकृति उसको अच्छा करने की चेष्टा करती है। इसी प्रकार जब फेफडे मे प्रदाह होता है तो रुग्न भाग मे सम्बन्ध रखनेवाली वक्ष की पेशियों मे अकडन होजाती है। यह भी रुग्नभाग को आराम देकर अच्छा करने की चेष्टा होती है। फेफडे के ऊपरी खंड मे रोग होने पर चतुरस्रा, ग्रीवा की पेशियाँ, उरच्छादनी और वक्षोऽदरमध्यस्थ पेशी में अकडन होजाती है। उँगलियों के सिरों से पहले हलके और फिर जोर से उनको दबाने से उनके अवरोध का पता चल सकता है। इनकी जाँच करते समय नीचे से ऊपर को जाना चाहिए और दूसरी ओर की पेशियों से तुलना करनी चाहिए।

इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि काम करते रहने से मांसपेशियाँ सुदृढ होजाती हैं। व्यवसायिक अतिपुष्टि (Hypertrophy) से अकड़न की पहचान, उरकर्ण मूलिका, चतुरस्ना और ग्रीवा की अन्य पेशियो की जाँच से की जा सकती है। ये मासपेशियाँ रोग मे बहुधा अभिभूत होजाती हैं, परन्तु काम करने का इन पर कोई प्रभाव नहीं पडता। वक्षोऽदर-मध्यस्थ पेशी को टटोला नही जा सकता, परन्तु रोञ्जन किरणो से इसकी जाँच की जा सकती है।

क्षीणता की उत्पत्ति—उत्तेजना और अकडन के बाद जैसे जैसे रोग पुरातन ओर कम सक्रिय होता जाता है, मासपेशिया क्षीण होती जाती हैं। पेशियो की गुलाई कम होती जाती है और उनके गट्ठर पतले होते जाते हैं। वे अधिक शिथिल ओर पिलपिले होते जाते हैं। चतुरस्ना, उरकर्ण-मूलिका, और उरच्छादनी पेशियो मे यह दशा विशेषत देखने मे आती है। जब इलाज से रोग रुक जाता है तो पेशियाँ अशत फिर पुष्ट और दृढ होजाती हैं, परन्तु अपनी पूर्ववत् दशा को नही पहुँच पातीं। जब रोग का पुनरुद्दीपन होता है तो क्षीण पेशियो मे अशत अकडन होजाती है। वक्ष की दीवार को उगलियों से दबाने से और एक ओर की दूसरी ओर से तुलना करने से क्षीणता का पता लग सकता है।

रोगजनित क्षीणता और अप्रयोग की क्षीणता में भेद—काम करनेवाले व्यक्तियो मे काम छूट जाने पर अप्रयोग से उनकी मास-पेशियाँ शिथिल और क्षीण होजाती हैं। इसलिए कभी कभी यह निर्णय करना बडा कठिन होता है कि पेशियो की क्षीण दशा रोग-जनित है या अप्रयोग के कारण। त्वचा के नीचे के ततुओं से इसका निर्णय करने मे सहायता मिलती है। मासपेशियो की क्षीणता के साथ साथ यदि त्वचा के नीचे के ततुओ की शिथिलता ओर निर्जीव अवस्था मिले, तो वह वक्षान्तरिक रोग का द्योतक होती है। इसके अतिरिक्त उरकर्णमूलिका पेशी को भी देखना चाहिए। यह पेशी न काम से अधिक पुष्ट होती है और न अप्रयोग से क्षीण।

झकोर-छलक (Succussion splash)—जिन रोगियो मे पूय या वारि वायु-वक्ष (Pyo or Hydro Pneumothorax) होता है, उनको झकोरने से बहुधा वक्ष मे छलकने का शब्द सुनाई पडता है। ऐसे

रोगियों को साधारणतः स्वय यकायक हिलने पर वक्ष में छलक सुनाई देती है।

पिलपिलाहट— (Fluctuation) वक्ष की दीवार के टटोलने पर कभी कभी उसमे पिलपिलाहट मिलती है। परन्तु ऐसा बहुत विरल और तभी होता है, जब पार्श्वकला मे पीब पड जाता है और जब वह पीब अन्तर्पार्श्विक पेशियों मे भर जाता है।

पेशियों की फड़कन (Myotatic irritability)—वक्ष की मास-पेशियो को ठोंकने पर कभी कभी आघात से उस स्थान पर मासपेशिया का स्थानाबद्ध आकुञ्चन होजाता है। चोट लगते ही यह तुरन्त उत्पन्न होता है और केवल कुछ क्षण रहकर विलीन होजाता है। यह उरच्छादा पेशियों पर सबसे अच्छा दिखाई देता है। इसका मिलना सक्रिय और प्रगतिशील रोग का द्योतक होता है।

सुकुमारता (Tenderness)—सक्रिय वक्षान्तर रोग मे वक्ष की दीवार के तन्तुओं मे सुकुमारता का अनेक लेखकों ने वर्णन किया है। शिखर पर सुकुमारता की जाँच करने के लिए सेबोरिन चार स्थानो पर विशेष ध्यान देने के लिए कहते हैं—

(१) सामने प्रथम और दूसरे अतर्पार्श्विक स्थल।
(२) अक्षकास्थि के ऊपर के त्रिकोण का तला।
(३) असप्राचीरक के ऊपर का गड्ढा।
(४) कक्ष शिखर।

इन स्थानों को धीरे धीरे हलके से क्रमानुसार दबाना चाहिए। सक्रिय रोग में तीन बातें मिलती हैं —

(१) सुकुमारता के सुसीमित क्षेत्र।
(२) पेशियो का स्थानाबद्ध आकुञ्चन।
(३) कधे का हटना।

यदि ये बाते मौजूद हों तो सक्रिय रोग समझना चाहिए। जब तक ये बनी रहे और विशेषकर उनके साथ साथ अक्षकास्थि के ऊपर की ग्रीवा ग्रन्थियाँ बढी हुई हों तब तक रोग को अवरुद्ध नहीं समझना चाहिए।

हृदय और धुकधुकीसम्बन्धी स्पर्श परीक्षा—हृदय की धुकधुकी साधारणत पाँचवे अन्तर्पार्श्विक स्थल मे चुचुक रेखा से कुछ अन्दर की ओर मिलती है।

रोग में हृदय के स्थानच्युत होने के कारण—फेफडे और पार्श्वकला के रोग मे प्राय हृदय एक या दूसरी ओर को हट जाता है। यह नीचे को और ऊपर तथा बाहर को भी हट सकता है। मध्यवक्ष स्थिर नही होता। फलत जब, जैसा कि पुरातन क्षय-रोग मे होता है, फुप्फुस ततु का नाश होता है और सूत्रनिर्माण अधिक होता है तो उसके सिकुडने से हृदय रोग की ओर खिंच जाता है। बाईं ओर के रोग मे हृदय कक्षीय रेखा तक और दाहिनी ओर के रोग मे वक्षोस्थि की दाहिनी ओर तक पहुँच जाता है। फेफडे के सूत्रनिर्माण रोग मे थोडे ही दिनो मे हृदय दाहिनी ओर को हट सकता है। जब रोग केवल एक फेफडे मे होता है तो दूसरे फेफडे में प्रतिपूरक वायुध्मान से भी हृदय की स्थानच्युति होजाती है। अस्तु, एक ओर से खिंचाव के साथ साथ दूसरी ओर से धक्का भी लगता है।

स्राव—जब पार्श्वकला के गह्वर मे वायु, रक्त-रस अथवा पीब का स्राव होता है तो हृदय दूसरी ओर को हट जाता है। स्वयमोत्पन्न वायुवक्ष और पार्श्वकला के द्रुतस्राव में ऐसा सबसे अधिक होता है। जब वायु या तरल इतने समय तक रहता है कि पिचके हुये फेफडे में सूत्रनिर्माण होजाता है तो हृदय रोग की ओर खिंच जाता है और स्थायी रूप से हट जाता है। कृत्रिम वायुवक्ष मे भी जब फेफडो का सम्पीडन वर्षो तक रक्खा जाता है तो अन्त मे वायु के शोषण होने पर हृदय स्थानच्युत होजाता है।

सूत्रोल्वण क्षय (Fibroid Phthisis) और उसका हृदय पर प्रभाव—सूत्रोल्वण क्षय मे बाये फेफडे के ऊर्ध्वखड के सिकुडने पर हृदय की धडकन का दूसरे से पाँचवे अन्तर्पार्श्विक स्थल तक विस्तृत मिलना कोई असाधारण बात नहीं होती, क्योंकि महाधमनी, फुप्फुसिया धमनी, बायाँ ग्राहक कोष्ठ और बायाँ क्षेपक कोष्ठ वक्ष की दीवार के सम्पर्क मे आजाते हैं।

कभी कभी क्षय-रोग में धुकधुकी केवल प्रश्वास के अन्त ही मे टटोली जा सकती है। अभिव्याप्त फुप्फुस-तन्तु के एक परत द्वारा धुकधुकी-

वेत्र के ढक जाने से ऐसा हो सकता है। प्रश्वास से यह परत खिचकर पतला होजाता है और तब धुकधुकी व्यक्त होने लगती है।

धुकधुकी को टटोलते समय परीक्षक को अपना हाथ हृदय पर इस भाँति रखना चाहिए कि उंगली धुकधुकी की ओर रहे। फैली हुई धडकन मे सबसे निचले और बाये अश को धुकधुकी समझना चाहिए।

फेफडे और पार्श्वकला सम्बन्धी स्पर्श-परीक्षा—टटोलने पर फेफडे और पार्श्वकला की दशा के सम्बन्ध में तीन प्रकार से सूचना मिलती है—(१) दबाने से प्रतिरोध के ज्ञान से, (२) श्वास लेने पर विभिन्न भागो की गति के परिमाण का पता लगाने से और (३) वाचिक खरखराहट के विकारों का अथवा अप्राकृतिक खरखराहट की उत्पत्ति का पता लगाने से।

दबाने पर प्रतिरोध का ज्ञान

रोग-निर्णय में स्पर्श की ज्ञानेन्द्रियाँ—रोग की पहचान के लिए स्पर्श-विधि का बहुत दिनों से प्रयोग होता चला आ रहा है। हाल मे पोटिंजर ने इस परीक्षा को बहुत उन्नत कर दिया है। उँगलियो के सिरो से अक्षकास्थि के ऊपर के प्रदेश को और क्रमश हरएक अन्तर्पार्श्विक स्थल को दबाकर टटोलने से और एक ओर की दूसरी ओर से तुलना करने पर थोडे अभ्यास से यह बताया जा सकता है कि भीतर फेफडा ठीक है, अभिव्याप्त है या ठोस है, अथवा पार्श्वकला मे तरल स्राव है या वायु। नीरोग फेफडे में एक विशेप लचक होती है। वायुपूर्ण तन्तुओ और ठोस तन्तुओ के अवरोध मे अन्तर होता है। यह बात मध्याक्षक रेखा मे नीरोग वक्ष को ऊपर से नीचे को टटोलने पर सिद्ध की जा सकती है। फेफडे से जिगर पर पहुँचते ही बिलकुल भिन्न अवरोध मिलता है। यदि वक्षोऽस्थि और पाँचवे उपपर्शुका के सगम से क्षितिज रेखा मे टटोला जाय तो हृदय पर आते ही अवरोध बदल जाता है।

रोग में इस अवरोध में अन्तर—जब फेफड़े में अभिव्यापन होता है तो वक्ष अधिक दृढ़ और उसकी लचक कम होजाती है। फेफड़ा ठोस होजाने पर वैसा ही प्रतीत होता है जैसा हृदय या जिगर टटोलने पर प्रतीत होता है। वायुवक्ष मे एक विशिष्ट लचक होती है और पार्श्वकला

के स्राव में अवरोध बहुत बढ जाता है। फुप्फुस मूल की ग्रन्थियाँ जब अधिक बढ जाती हैं, तो पृष्ठवश के दोनो ओर टटोलने से उनका पता लग सकता है।

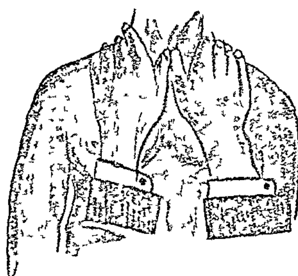
प्रश्वास में वक्ष के विभिन्न प्रदेशों में गति का पता लगाना— निरीक्षण परीक्षा की आलोचना करते समय इस बात पर जोर दिया जा चुका है कि विभिन्न भागों की गतियाँ साधारण श्वासक्रिया मे और बाद को गहरे प्रश्वास मे देखना चाहिए। इस बात की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। निरीक्षण करते समय शोथ, वसावृद्धि और बडे स्तनो से प्रश्वास मे वक्ष की गतियाँ बहुत कुछ छिप जाती है, परन्तु स्पर्श में ऐसा नही होता। निरीक्षण से ज्ञात बातो का स्पर्श से समर्थन होजाना चाहिए। स्पर्शेन्द्रियों से दोनो फेफडो की कार्य-शक्ति का पता लग जाता है। वक्ष मे एक या दूसरी ओर गति की अनियमितता इस बात की सूचक होती है कि उस ओर रोग है या हो चुका है।

गति के सम्बन्ध में कौन कौन सी बातें देखनी चाहिए— परीक्षा करते समय पाँच बाते देखनी चाहिए। एक यह कि वक्ष के दोनों पार्श्वो मे गति होती है या नही। दूसरी यह कि गति का दोनों पार्श्वों मे एक साथ अन्त होता है या नही। तीसरी यह कि दोनो पार्श्व बराबर उठते हैं या नही। चौथी यह कि दोनो पार्श्व बराबर फूलते हैं या नहीं। पाँचवी यह कि गति समान होती है या नही और उसमें कोई रुकावट तो नही होती।

वक्ष की गतियो की जाँच मे तीन प्रदेशो को सामने और तीन को पीछे स्पर्श करना चाहिए। फुप्फुस शिखरों को सामने और पीछे, सामने अक्षकास्थि से नीचे के प्रदेश को और पीछे अन्तरासफलक प्रदेशों को तथा पाददेशों को आगे और पीछे।

स्पर्श की विधियाँ—रोगी को सीधा खडा होना चाहिए अथवा एक ऊँची तिपाई पर बैठना चाहिए। उसका शिर ठीक मध्य रेखा मे होना चाहिए। सामने फुप्फुस शिखरों की परीक्षा करने के लिए परीक्षक को रोगी के सामने खडे होकर अपने हथेलियों को उसकी दूसरी पसलियों से ऊपर रखना चाहिए। उँगलियाँ हँसलियों से ऊपर फैली हुई होनी चाहिए और

ठे मध्य रेखा में समानान्तर होने चाहिए। (चित्र नं० ६३) हाथ फैला
ा होना चाहिए और उसमें कोई झुकाव न होना चाहिए। हाथ की त्वचा



त्र नं० ६३—स्पर्श परीक्षा, सामने फुफ्फुस शिखरों की गति के पता लगाने की विधि, ध्यान देने योग्य बातें —(१) हाथों की समान स्थिति, (२) हाथ फुफ्फुस शिखरों पर हैं, अँगूठे मध्यरेखा में समानान्तर हैं, नोट—अक्षकास्थि के बाहरी भाग या कन्धे पर हाथ रखकर स्पर्श करना, जैसा कि कुछ लोग करते हैं, गलत है।

क्ष की त्वचा से पूर्णतः लगी होनी चाहिए। रोगी से गहरा श्वास लिवाकर
पर्योक्त बातों की जाँच करनी चाहिए। अथवा परीक्षक को रोगी के पीछे
खड़े होकर अपनी उँगलियों को दृढ़ता और समान भाव से अक्षकास्थि के
ऊपरी और निचले प्रदेशों में रखकर और अँगूठों को पीछे रीढ़ पर मिलाकर

प्रश्वास और निश्वास का प्रभाव देखना चाहिए (चित्र नं० ६४)। इस समय परीक्षक का एकाग्रचित्त होना आवश्यक है।

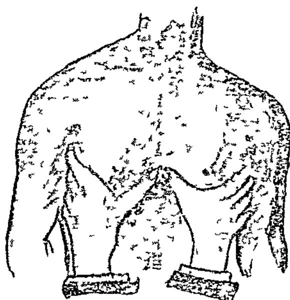


चित्र नं० ६४—वक्ष के ऊपरी भाग की गति के पता लगाने की दूसरी विधि।

अक्षकास्थि से नीचे गति की जाँच रोगी से गहरा श्वास लिवाकर और वक्ष पर हाथों को इस प्रकार रखकर करनी चाहिए कि उंगलियाँ अक्षकास्थि तक पहुँच जायँ। इस क्षेत्र मे गति पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अक्षकास्थि से ऊपर वक्ष की उठान से प्रमाण छिप जाता है, परन्तु इस भाग में ऐसा नही होता।

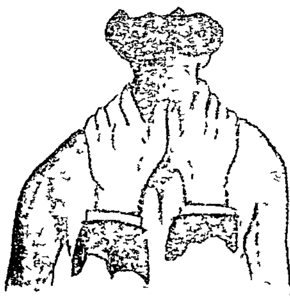
फेफडो के पाददेशो की जाँच वक्ष के पार्श्वों पर इस प्रकार हाथ रखकर करनी चाहिए कि अँगूठे मध्य रेखा मे छठवे उपपर्शुका और

स्थि की संधि के समतल एक दूसरे से मिले रहें, और उँगलियाँ मध्य-
खा की ओर हो (चित्र न० ६५) ।



चित्र न० ६५—स्पर्श परीक्षा, सामने वक्ष के निचले भाग को स्पर्श करने की ठीक विधि, वक्ष पर हाथ समभाव से रखना चाहिये और अँगूठे मध्य रेखा में एक दूसरे से मिले होने चाहिये ।

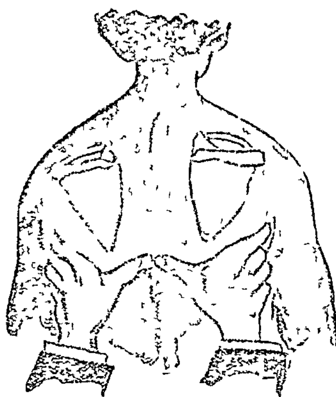
पीछे फुप्फुस शिखरों की जाँच उन पर समानरूप से हाथ रखकर जाती है (चित्र न० ६६) । हाथों के ऊपरी किनारे सातवे



चित्र न ६६— स्पर्श परीक्षा, पीछे फुप्फुस शिखरों के स्पर्श करने की ठीक विधि ।

ग्रीवा कशेरुकटक के समतल होने चाहिए और अँगूठे उस कशेरुकटक से ऊपर फैले हुए एक दूसरे से मिले होने चाहिए।

अंसफलकों के अन्तवर्ती प्रदेशों की परीक्षा, उन पर हाथों को इस प्रकार रखकर की जाती है कि अँगूठे समानान्तर मध्य रेखा में एक दूसरे से मिले होते हैं। पाददेशों की परीक्षा पीठ के निम्नभाग पर इस प्रकार हाथों को रखकर की जाती है कि अँगूठे मध्य रेखा में अंसफलकों के निम्नकोण के समतल एक दूसरे से मिले होते हैं और उँगलियाँ मध्यकक्ष रेखा की ओर होती है (चित्र न० ६७)।



चित्र न० ६७—स्पर्श परीक्षा, पीछे फेफड़ों के पाददेशों को स्पर्श करने की ठीक विधि।

रोगी को समझा देना चाहिए कि उसको स्वाभाविक तौर पर श्वास लेना चाहिए और श्वास लेने में अपने कंधों को नहीं उठाना चाहिए। रोग की हर अवस्था में गति की अयथाप्रमाणता फुप्फुस क्षय का विशिष्ट लक्षण होती है। किसी एक शिखर पर गति की कमी या विलम्ब क्षय-रोग का प्रारम्भिक चिह्न होता है और यह चिह्न बहुधा श्रुत-चिह्नों से पूर्व व्यक्त होता है।

वक्ष के प्रसारण और उठान में परिवर्तन के कारण—पुराने क्षय-रोग के कारण पुरातन सूत्र-निर्माण से रुग्न पार्श्व की गति में कमी होजाती है।

पार्श्वकला के उग्र रोगों में गति कम होजाती है अथवा प्रश्वास की गति झटकेदार होजाती है।

पार्श्वकला के पुरातन प्रवाह में साधारणत पाददेशों में प्रसारण और उठान में कमी होजाती है। शिखर के क्षय में पाददेश और पार्श्वकला के नीरोग होने पर भी फेफड़ों के निम्न भाग की गति में कुछ कमी होजाती है। इसका कारण वक्षोऽदरमध्यस्थ पेशी की चालक नाडी का विकार होता है।

श्वास, कास और वायुध्मान रोगों में वक्ष की गति अयथाप्रमाण नहीं होती। वक्ष के रूप में परिवर्तन के कारण इन रोगों में प्रसारण और उठान में कुछ कमी हो सकती है, परन्तु दोनों पार्श्वों की गतियाँ हर बात में एक सी होती हैं।

स्पर्श-खरखराहट का पता लगाना—गतियों का पता लगाने के बाद स्पन्दन का पता लगाना चाहिए। शब्दोच्चारण में स्वर-रज्जुओं के जो स्पन्दन वायु के प्रवाह के साथ टेटुआ और श्वासनलों में होकर वक्ष तक पहुँचते हैं, उनसे वाचिक खरखराहट उत्पन्न होती है। एक सन्दूक में एक तनी हुई डोरी को स्पन्दित करके उस सन्दूक पर हाथ रखने से जो अनुभव होता है, वाचिक खरखराहट भी उसी के समान प्रतीत होती है।

प्रकृतिस्थ वाचिक खरखराहट उत्पन्न करनेवाली बातें—वाचिक खरखराहट के ठीक ठीक पैदा होने के लिए चार बातें आवश्यक होती हैं—

(१) स्वस्थ स्वर-रज्जु।

(२) समान स्वरवाली आवाज।

(३) खुले और स्वच्छ श्वासनल।

(४) खरखराहट के श्वासनलों में वक्ष की दीवार तक पहुँचने में फेफड़े या पार्श्वकला में किसी रुकावट का न होना।

प्रौढ पुरुषों में वाचिक खरखराहट सबसे अच्छी मिलती है। स्त्रियों और बच्चों में यह प्राय नहीं मिलती, क्योंकि उनकी आवाज बड़े ऊँचे स्वर की होती है। शोथ और वसावृद्धि में यह अच्छा नहीं सुन पड़ता।

वाचिक खरखराहट के अधिक सुव्यक्त करने की विधियाँ—वाचिक खरखराहट का पता लगाने के लिए निम्नलिखित विधियो का प्रयोग किया जा सकता है। अच्छा तो यह होता है कि रोगी चारपाई पर लेटा हो, परन्तु उसके दीवार या दरवाजे से पीठ लगाकर खडा होने मे भी कोई हानि नही होती।

(१) पूरा हाथ—परीक्षक को अपना हाथ रोगी के वक्ष पर हलके से, परन्तु एक-सा रखकर रोगी से 'निन्यानवे' या 'तीन' शब्द बार बार कहलाना चाहिए। पार्श्वों के विभिन्न भागो की तुलना करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रोगी की आवाज परीक्षा-काल भर समान स्वर की निकलती रहे। दो स्थलो की एक साथ परीक्षा नहीं करनी चाहिए और सदैव केवल एक ही हाथ का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि यह सम्भव है कि दोनो हाथों मे खरखराहट ग्रहण करने की शक्ति समान न हो।

(२) उँगलियो के सिरे—अक्षकास्थि मे ऊपर के छोटे छोटे स्थलो की परीक्षा करने के लिए उँगलियो के सिरो से काम लिया जा सकता है।

(३) उँगलियों के पृष्ठ भाग—यदि अधिक सुविधा हो तो उँगलियो के पृष्ठ भाग से काम लिया जा सकता है।

(४) हथेली का भीतरी किनारा—हथेलियो के भीतरी किनारो मे बहुत चेतना शक्ति होती है। अन्तर्पार्श्विक स्थलों की जाँच करने मे खडी हथेली से काम लेना बडा उपयोगी होता है।

वाचिक खरखराहट की तीव्रता में अन्तर—स्वस्थावस्था मे वक्ष के विभिन्न भागो की वाचिक खरखराहट की तीव्रता मे अन्तर होते हैं। उदाहरणार्थ —

(१) बाये शिखर की अपेक्षा दाहिने शिखर पर तीव्रता अधिक होती है, क्योंकि टेटुआ दाहिने शिखर के अधिक समीप होता है। यदि बाये शिखर पर खरखराहट इतनी ही मिले जितनी दाहिने शिखर पर, तो उसका कारण ढूँढना चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि या तो दाहिने शिखर पर इसके उत्पादन मे कोई बाधा है अथवा बायाँ शिखर ठोस होगया है, जिससे वहाँ खरखराहट बढ गई है।

(२) पीछे दाहिने अन्तरासफलकप्रदेश मे और सामने पहले और दूसरे अन्तर्पार्श्विक स्थलों मे बाई ओर की अपेक्षा वाचिक खरखराहट

अधिक तीव्र होती है। चौथे और पाँचवे कशेरुकटक के समतल पर टेटुँआ का विभाजन मध्य रेखा से दाहिनी ओर होता है।

(३) यह फेफडे के अन्य भागो की अपेक्षा पाददेशो मे अधिक सुव्यक्त होती है।

(४) यह जितनी पसलियों के बीच के स्थलो मे सुस्पष्ट होती है, उतनी पसलियो पर नहीं होती।

रोग-दशाओं मे वाचिक खरखराहट में वृद्धि के कारण—वाचिक खरखराहट उन सब रोग दशाओं मे बढ जाती है जिनमे प्राणालिक श्वास और वाचिक गूज की वृद्धि होती है। वाचिक खरखराहट उन दशाओं मे भी बढती है जिनमे फुप्फुस ततु सघन। होजाता है। यह कहना व्यर्थ है कि इसके लिए श्वासनलों का खुला रहना आवश्यक है। वाचिक खरखराहट की वृद्धि के साधारण कारण ये होते हैं —

(१) उग्र और पुरातन क्षयी-विकार।

(२) फुप्फुस प्रदाहज सघनता।

(३) श्वासनलो का फूलना, विशेपकर जब फूले हुए श्वासनल पृष्ठस्थ होते हैं।

(४) फेफडो के रध्र। जब रध्र पृष्ठस्थ होते हैं तथा सघन ततु से घिरे होते हैं और उनका ससर्ग बडे श्वासनल से होता है, तो वाचिक खरखराहट बहुत बढ जाती है।

(५) फेफडे का सपीडन—विशेपकर जब यह पार्श्वकला मे स्राव के कारण होता है और पिचका हुआ फेफडा वक्ष की दीवार से लगा होता है।

वाचिक खरखराहट की कमी के कारण—वाचिक खरखराहट उन सब दशाओ मे कम होजाती है जिनमे खरखराहट के वाहन मे रुकावट होती है, जैसे —

(१) श्लेष्म से श्वासनल का रुक जाना। खासी से श्वासनल साफ होकर प्रकृतिस्थ दशा फिर स्थापित हो सकती है।

(२) श्वास रोग मे सूक्ष्म श्वासनलिकाओं के सकीर्ण होने के कारण।

(३) फुप्फुस मूल पर बढी हुई लसिका-ग्रन्थियों का श्वासनलों पर दबाव होने से।

(४) वायुध्मान मे जितनी वायु अधिक होती है, वाचिक खरखराहट उतनी ही कम होती है।

(५) फेफडे मे सूत्र निर्माण और फलस्वरूप उसका सिकुडना ।

(६) पार्श्वकला का मोटा होजाना ।

(७) पार्श्वकला में स्राव का होना, चाहे वह शोथ, रक्तस्राव अथवा प्रदाह किसी कारण से क्यो न हुआ हो । फेफडे के पाददेश के ठोसपन और पार्श्वकला के स्राव में भेद करने के लिए वाचक खरखराहट बहुत उपयोगी होती है । प्रथम दशा मे यह साधारणत. बहुत बढ़ जाती है और दूसरी दशा मे बहुत कम होजाती है ।

(८) वायु वक्ष अथवा जल-वायु-वक्ष ।

(९) वक्ष की दीवार के कोमल ततुओ की अत्यधिक वृद्धि, विशेषकर वसा और स्तनों की वृद्धि ।

सक्षेप मे वाचक खरखराहट निम्नलिखित दशाओं मे कम होजाती है —

(क) जब कोई वस्तु फेफडे और वक्ष की दीवार को पृथक् करती है।

(ख) जब किसी चीज से श्वासनलो मे शब्द-तरगो के वाहन में बाधा पडती है, चाहे वह बाहर के दबाव से हो या अन्दर की रुकावट से ।

स्पर्श से ज्ञात अन्य शब्द—अन्य प्रकार के शब्द जिनसे स्पर्श से ज्ञात होनेवाली खरखराहट उत्पन्न होती है, ये होते हैं —

शुष्क कण—प्रखर तथा मञ्जुल शुष्क कण श्वास-रोग के द्योतक होते हैं ।

आर्द्र कण—श्लेष्मिक और राध्रिक ।

घर्षण शब्द—यह विशेषकर कक्षीय प्रदेशो में मिलते हैं ।

छलक शब्द उन रोगियों में मिलते हैं जिनकी पार्श्वकला मे वायु और तरल होते हैं । रोगियों को हिलाने पर इन शब्दो का पता लगता है ।

सामान्यत वाचिक खरखराहट के सम्बध मे यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक क्षय की पहचान मे इससे बहुत कम सहायता मिलती है । इसका विशेष मूल्य विकार के विस्तार का पता लगाने और पार्श्वकला के स्रावो की पहिचान करने मे होता है ।

बीसवाँ परिच्छेद



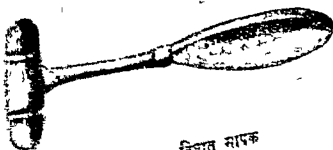
विघातन परीक्षा

वक्ष को टटोलने के बाद उसको टकोरना अर्थात् ठोककर बजाना चाहिए। इस परीक्षा को विघातन परीक्षा कहते है। विघातन से वक्ष के अन्दर के अवयवों के सम्बन्ध मे दो प्रकार से सूचना मिलती है—(१) ध्वनि से, जो वक्ष को सीधा या उस पर उगली या अन्य कोई वस्तु रखकर ठोकने से निकलती है, (२) वक्ष के प्रतिरोध या लचक के ज्ञान से, जो वक्ष पर रक्खी हुई विघातमापक (Pleximeter) उगली को प्राप्त होता है। मंद ध्वनि इस बात को सूचित करती है कि भीतर के ततु कम स्पन्दनीय हैं और स्वस्थ फेफडे की अपेक्षा उनमें वायु कम है। इस भाँति हृदय, यकृत और फेफडों की सीमा को अकित किया जा सकता है, क्योंकि उनकी स्पन्दनीयता में अन्तर होता है। प्रतिरोध के ज्ञान से भीतर के ततुओं की लचक का पता लग जाता है। अतएव स्वस्थ फेफडे से उसके ठोसपन (Consolidation) और अभिव्यापन (Infiltration) की तथा वायुध्मान (Emphysema), पर्वकला मे स्राव (Pleural effusion) और वायु की पहचान की जा सकती है। फेफडे के रोगो की विशेषकर क्षय-रोग की पहिचान मे विघातन का बडा महत्व होता है। फार्बिस ने यह ठीक कहा था कि सप्ताहों तक रोगी के लक्षणों की जाँच करने की अपेक्षा अक्षकास्थि पर एक बार ठोकने से कहीं अधिक पता चल सकता है। यद्यपि विघातन से सक्रिय क्षय-रोग का निश्चय रूप से पता नही लगता तथापि इसमे बहुधा श्रवण-परीक्षा से पहले ही उसका सन्देह होजाता है। जब रोग इतना बढ जाता है कि उसकी पहचान हो सके तो विघातन से साधारणत फेफडे में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य मिल जाता है।

[illegible]—रोग की पहचान के लिए सबसे पहले यूनानवालों ने [illegible] का प्रयोग किया था। परन्तु इन्होंने फेफड़े के रोगों के लिए नहीं, किन्तु उदर के रोगों के लिए अफारा (Tympanitis) से जलंधर की पहचान के लिए इस विधि का प्रयोग किया था। फेफड़े के रोगों में विघातन का प्रयोग सबसे पहले लियोपोल्ड आयनब्रूगर ने किया था। उनका [illegible] सन् [illegible] से १८०९ तक था। वे अव्यवहित विधि ([illegible] method) का अर्थात् वक्ष पर किसी वस्तु को न रखकर [illegible] विधि का प्रयोग करते थे। आयनब्रूगर के इस कार्य के महत्त्व को लोगों ने उस समय नहीं समझा था।

लगभग ५० वर्ष बाद सम्राट् नेपोलियन के राजवैद्य कार्वीसार्ट ने इस विधि का [illegible] ने फिर से प्रवर्तन किया और इसकी रक्षा की। सन् १८२४ ई० में [illegible] ने आयनब्रूगर की पुस्तक का अंग्रेजी में अनुवाद किया। [illegible] इस परीक्षा-विधि का सर्वत्र प्रयोग होने लगा। यह अवश्य है कि इस विधि में बाद को विविध संशोधन होते गये।





चित्र सं० ६८—विघात मापक

चित्र सं० ६९—विघातक

[illegible] के [illegible] में पिओरी ने विघातन की एक नई विधि ([illegible] method) का प्रयोग किया [illegible] की एक १½ से २ इञ्च व्यास की [illegible] ठोकने के लिए हथौड़े के सदृश एक [illegible] ६८ और ६९)। उन्होंने

ह भी सिद्ध किया कि प्रत्येक इन्द्रिय से अपनी विशिष्ट ध्वनि निकलती है।

बाद को उँगली की विधि को किसने चलाया, इसका ठीक पता नहीं लगता। इस विधि में बायें हाथ के बीच की उँगली को वक्ष पर रखने के लिए और दाहिने हाथ की बीच की उँगली को ठोकने के लिए काम में लाया जाता है। धीरे धीरे इस विधि का अधिक प्रचार हुआ और आजकल साधारणत इसी विधि का प्रयोग किया जाता है।

विघातन परीक्षा की आवश्यक बातें—ठीक फल प्राप्त करने के लिए विघातन में तीन बातें आवश्यक होती हैं—

(१) ठीक विधि का सावधानी से प्रयोग करना।

(२) वक्ष के पृष्ठ शारीरक (*Surface anatomy*) का और उसके भीतर के अवयवों की ध्वनि और प्रतिरोध में उत्पन्न होनेवाले परिवर्तनों का विशद ज्ञान।

(३) ध्वनि अथवा प्रतिरोध में विकार उत्पन्न करनेवाली सब रोगावस्थाओं का ठीक ठीक विचार।

विघातन की विधियाँ—आजकल विघातन की निम्नलिखित विधियों का प्रयोग होता है। पुरानी सब विधियाँ भी इन्हीं में शामिल हैं।

(१) आयनब्रूगर की अव्यवहित विधि (Direct method)।

(२) पियरी की विघातक—विघातमापक विधि (Plessor Pleximeter method)।

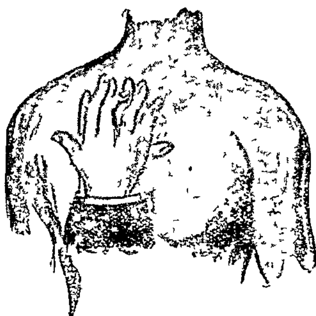
(३) उँगली विघातमापक विधि (Finger Pleximeter method)।

(४) उँगली उँगली विधि (Finger Finger method)।

आयनब्रूगर की विधि में दाहिने हाथ की चारों उँगलियों के सिरे एक दूसरे से समतल मिला लिये जाते हैं और अँगूठे की गद्दी उँगलियों के अन्तिम पोरवों के जोड़ पर रहती है। सब उँगलियों के सिरों से एक साथ वक्ष पर हलकी और सीधी चोट दी जाती है। इस परीक्षा विधि का आजकल प्रयोग नहीं किया जाता। इसका एक संशोधन अक्षकास्थि इत्यादि अस्थियों के टकोरने में प्रयुक्त होता है।

पियरी की विघातक विघातमापक विधि और उँगलीविघातमापक विधि का प्रयोग इङ्गलैंड में अधिक प्रचलित नहीं है, परन्तु योरोप में अन्य

देशो मे इनका प्रयोग अब भी बहुत होता है। यदि विघातन मे ध्वनि पर अधिक भरोसा किया जाय तो निस्सन्देह इन विधियो के पक्ष मे बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु यदि ध्वनि की अपेक्षा प्रतिरोध या लचक के स्पन्दनो पर अधिक भरोसा किया जाय तो इन विधियो को दूसरा स्थान मिलना चाहिए। विघातमापक की निज की ध्वनि से विघातन ध्वनि में विघ्न पड़ने की सम्भावना अधिक होती है। पियरी की विघातन विधि के अनेक संशोधन हो चुके हैं जिनका प्रयोग इस समय किया जाता है।



चित्र न० ७०—फेफड़ों के विघातन की गलत विधि, इस विधि में दो त्रुटियां है—

(१) विघात मापक उँगली पसलियों के समानान्तर नही है। विघातमापक उँगली सदैव टकोरे जानेवाले इन्द्रिय के ऊपरी किनारे के समानान्तर होना चाहिये।

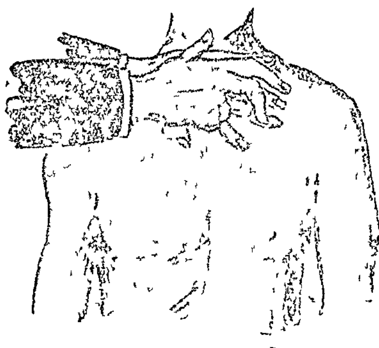
(२) पूरा हाथ वक्ष पर रखा हुआ है विघात मापक उँगली का केवल अन्तिम पोरवा वक्ष पर रखना चाहिये।

उँगली उँगली विधि यद्यपि सीखने मे अधिक कठिन होती है, परन्तु सबसे अधिक इसी का प्रयोग होता है और इससे निस्सन्देह अधिक ठीक सूचना मिलती है।

विघातन विधि के सीखने में विद्यार्थी को बहुत समय देना चाहिए और उँगली उँगली विधि के अभ्यास में कई एक बातों का ध्यान रखना चाहिए।

(१) बाये हाथ की बीच की उँगली के अन्तिम पोरवे से विघातमापक का काम होना चाहिए और यदि हलके विघातन की जरूरत हो

तो उसको वक्ष पर हलके से और यदि जोर से टकोरना हो तो दृढ़ता से रखना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अन्य उँगलियाँ और शेष हाथ वक्ष से अलग रहे (चित्र न० ७० और ७१)।



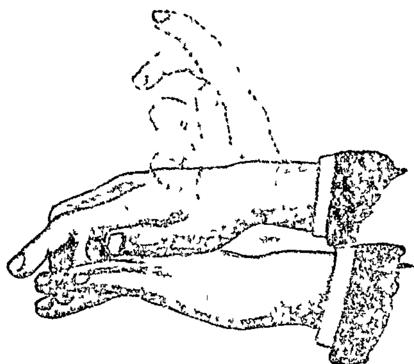
चित्र न० ७१ —विघातन की ठीक विधि, विघातमापक उँगली का अन्तिम पोरुआ एक अन्तर्पार्श्विक स्थल में फेफड़े के ऊपरी भाग के समानान्तर रक्खा है। विघातक उँगली की चोट नख से ऊपर सीधी पड़ती है।

(२) जिस इन्द्रिय को टकोरना हो, विघातमापक उँगली उसकी सीमा-रेखा के समानान्तर रखनी चाहिए। जब वक्ष के सम्मुख पृष्ठ को टकोरना हो तो उँगली पसलियों के बीच में और उनके समानान्तर, न कि उनके ऊपर रखनी चाहिए।

(३) दाहिने हाथ की बीच की उँगली को समकोण तक मोड़ना चाहिए और इससे विघातमापक उँगली पर नख से कुछ ऊपर शीघ्र और

सीधी चोट देनी चाहिए। यह सब कार्य कलाई में होना चाहिये (चित्र न० ७२)। चोट के लगते ही उँगली तुरन्त उठ जानी चाहिए। क्रम-क्रम से दो या तीन चोट देनी चाहिए।

यह आवश्यक है कि परीक्षा के समय रोगी खड़ा या सीधा बैठा रहे और सीधा सामने देखता रहे। सिर इधर या उधर मुड़ा होने से



चित्र न० ७२—वक्ष के विघातन की विधि, सम्पूर्ण गति कलाई से होनी चाहिये। विघातक उँगली समकोण तक मुड़ी होनी चाहिए और उससे विघातमापक उँगली के अन्तिम पोरवे पर नख से कुछ ऊपर सीधी चोट देनी चाहिए। परीक्षक की अग्रबाहु निश्चल होनी चाहिये।

अक्षकास्थि के ऊपर के भाग में मांसपेशी तथा अन्य तंतु तन जाते हैं, जिससे ध्वनि का स्वर चढ़ जाता है और प्रतिरोध बढ़ जाता है।

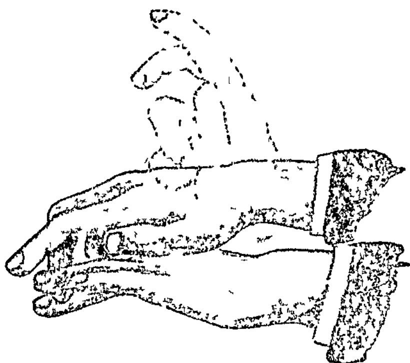
हलका और भारी विघातन—जैसा कि उँगली-उँगली विधि में बतलाया गया है, विघातन हलका भी हो सकता है और भारी भी। साधारण

नियम यह है कि जब पृष्ठस्थ मदता का पता लगाना हो, तो हलके विघातन का प्रयोग करना चाहिए और विघातमापक उँगली को वक्ष पर हलके से रखना चाहिए। जब गहराई पर अवस्थित अवयवों की जाँच करनी हो तो विघातमापक उँगली को दृढता से वक्ष पर रखना चाहिए और भारी चोट देनी चाहिए। चोट को क्रमश बढाने मे फेफडे के अधिकाधिक गहरे स्तर प्रभावित होते जाते हैं। पुरुष मे चुचुक से ऊपर और उसके नीचे टकोरने से यह बात प्रमाणित हो सकती है। स्वस्थ व्यक्तियो में दोनो स्थानो मे हलके विघातन से समान-ध्वनि निकलती है। परन्तु भारी चोट से चुचुक से ऊपर तो सुस्पष्ट गूँज निकलती है, पर उससे नीचे उच्च स्वर की और अपेक्षाकृत मद ध्वनि निकलती है।

फेफडों की साधारण परीक्षा मे वैसे तो विघातन की सर्वोत्तम विधि वह होती है जिसमे परीक्षक को सबसे अधिक ज्ञान प्राप्त हो और जिसका अर्थ परीक्षक भली प्रकार समझ सके। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहा कि पृष्ठस्थ और गहराई पर अवस्थित दोनों ही प्रकार के विकारों के लिए हलका विघातन अच्छा होता है। भारी चोट से न केवल चोट के नीचे के ही ततुओं मे स्पन्दन होता है, किन्तु उसके आसपास के ततुओं मे भी स्पन्दन होने लगता है। उदाहरणार्थ यकृति के ऊपर फेफडे के किनारे से एक या दो इञ्च नीचे भी भारी चोट देने से फुफुस ततु की द्योतक गूँजयुक्त ध्वनि निकल सकती है। भारी विघातन से फुप्फुस ततु की अल्प मात्रा की मदता छिप जाती है। फुफुस ततु के अभिव्यापन के साथ सदैव परिपूरक वायुध्मान (Compensatory emphysema) होता है। भारी चोट से अभिव्यापन के ऊँचे स्वर की ध्वनि के स्थान मे वायुध्मान के निम्न स्वर की ध्वनि निकलने लगती है। इसके विपरीत बहुत हलकी चोट से सब अशो मे मदता का पता लग जाता है, चाहे वह गहरे स्थान की हो अथवा पृष्ठस्थ। थोडा सा भी अभिव्यापन होने से गूँज नहीं निकलती। हलकी चोट वस्तुत फेफडेभर मे प्रविष्ट होजाती है। जब कोई व्यक्ति सामने वक्ष के पृष्ठ पर टकोरता है उस समय रोगी की पीठ पर हाथ रखने से यह बात सिद्ध हो सकती है। थोडा सा अभ्यास होने पर हलके विघातन से कान बन्द कर लेने पर भी केवल प्रतिरोध के ज्ञान से यह बताया जा सकता है कि अभिव्यापन है, ठोसपन है या स्राव और यदि किसी भाग स कोई ध्वनि निकले तो यह गूँजयुक्त है या मन्द। इसलिये पास खड़े होनेवाले की अपेक्षा टकोरनेवाला अधिक बता सकता है। हलके

सीधी चोट देनी चाहिए। यह सब कार्य कलाई से होना चाहिये (चित्र न० ७२)। चोट के लगते ही उँगली तुरन्त उठ जानी चाहिए। क्रम-क्रम से दो या तीन चोट देनी चाहिए।

यह आवश्यक है कि परीक्षा के समय रोगी खड़ा या सीधा बैठा रहे और सीधा सामने देखता रहे। सिर इधर या उधर मुड़ा होने से



चित्र न० ७२—वक्ष के विघातन की विधि, सम्पूर्ण गति कलाई से होनी चाहिये। विघातक उँगली समकोण तक मुड़ी होनी चाहिए और उससे विघातमापक उँगली के अन्तिम पोरवे पर नख से कुछ ऊपर सीधी चोट देनी चाहिए। परीक्षक की अग्रबाहु निश्चल होनी चाहिये।

अक्षकास्थि के ऊपर के भाग में मांसपेशी तथा अन्य तंतु तन जाते हैं, जिससे ध्वनि का स्वर चढ़ जाता है और प्रतिरोध बढ़ जाता है।

हलका और भारी विघातन—जैसा कि उँगली-उँगली विधि में बतलाया गया है, विघातन हलका भी हो सकता है और भारी भी। साधारण

नियम यह है कि जब पृष्ठस्थ मदता का पता लगाना हो, तो हलके विघातन का प्रयोग करना चाहिए और विघातमापक उँगली को वक्ष पर हलके से रखना चाहिए। जब गहराई पर अवस्थित अवयवों की जाँच करनी हो तो विघातमापक उँगली को दृढता से वक्ष पर रखना चाहिए और भारी चोट देनी चाहिए। चोट को क्रमश बढाने से फेफडे के अधिकाधिक गहरे स्तर प्रभावित होते जाते हैं। पुरुष मे चुचुक से ऊपर और उसके नीचे टकोरने से यह बात प्रमाणित हो सकती है। स्वस्थ व्यक्तियो मे दोनो स्थानों मे हलके विघातन से समान-ध्वनि निकलती है। परन्तु भारी चोट से चुचुक से ऊपर तो सुस्पष्ट गूँज निकलती है, पर उससे नीचे उच्च स्वर की और अपेक्षाकृत मंद ध्वनि निकलती है।

फेफडो की साधारण परीक्षा में वैसे तो विघातन की सर्वोत्तम विधि वह होती है जिसमे परीक्षक को सबसे अधिक ज्ञान प्राप्त हो और जिसका अर्थ परीक्षक भली प्रकार समझ सके। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि पृष्ठस्थ और गहराई पर अवस्थित दोनों ही प्रकार के विकारों के लिए हलका विघातन अच्छा होता है। भारी चोट से न केवल चोट के नीचे के ही ततुओं मे स्पन्दन होता है, किन्तु उसके आसपास के ततुओ मे भी स्पन्दन होने लगता है। उदाहरणार्थ यकृति के ऊपर फेफडे के किनारे से एक या दो इञ्चनीचे भी भारी चोट देने से फुप्फुस ततु की द्योतक गूँजयुक्त ध्वनि निकल सकती है। भारी विघातन से फुप्फुस ततु की अल्प मात्रा की मदता छिप जाती है। फुप्फुस ततु के अभिव्यापन के साथ सदैव परिपूरक वायुध्मान (Compensatory emphysema) होता है। भारी चोट से अभिव्यापन के ऊँचे स्वर की ध्वनि के स्थान मे वायुध्मान के निम्न स्वर की ध्वनि निकलने लगती है। इसके विपरीत बहुत हलकी चोट से सब अशो मे मदता का पता लग जाता है, चाहे वह गहरे स्थान की हो अथवा पृष्ठस्थ। थोडा सा भी अभिव्यापन होने से गूँज नही निकलती। हलकी चोट वस्तुत फेफडेभर मे प्रविष्ट होजाती है। जब कोई व्यक्ति सामने वक्ष के पृष्ठ पर टकोरता है उस समय रोगी की पीठ पर हाथ रखने से यह बात सिद्ध हो सकती है। थोडा सा अभ्यास होने पर हलके विघातन से कान बन्द कर लेने पर भी केवल प्रतिरोध के ज्ञान से यह बताया जा सकता है कि अभिव्यापन है, ठोसपन है या स्राव और यदि किसी भाग स कोई ध्वनि निकले तो वह गूँजयुक्त है या मन्द। इसलिये पास खडे होनेवाले की अपेक्षा टकोरनेवाला अधिक बता सकता है। हलके

विघातन मे विघातक उँगली की चोट इतनी हलकी होनी चाहिए जिससे सघन तंतु से बडी कठिनाई से कोई ध्वनि निकल सके। यदि उस भाग मे वायु होगी तो उतनी ही चोट से कुछ न कुछ गूँज सुनाई पडेगी। अभ्यास के लिए विद्यार्थी को एक डबल रोटी लेकर उसमे एक धातु या पत्थर का टुकडा प्रविष्ट कर देना चाहिए और तब विघातनद्वारा उसको स्थानाकित करना चाहिए। डबल रोटी स्पञ्ज रूप होने से फेफडो से कुछ मिलती जुलती होती है।

कभी कभी हलके विघातनद्वारा फुप्फुस तंतु के अभिव्यापन से पार्श्वकला के मोटेपन की पहचान करना बडा कठिन होता है, विशेपकर फेफडे के निचले भाग मे। श्रवण-परीक्षा से इसका निर्णय करने मे सहायता मिल सकती है। फिर भी ऐसे रोगियो मे यह अच्छा होता है कि विघातन की चोट को उस समय तक क्रमश बढाया जाय जब तक ध्वनि मे गूँज कर्णगोचर न होजाय। जब केवल पार्श्वकला मे विकार होता है तो ऐसा होना सम्भव है, परन्तु जब मदता का कारण फुप्फुस तंतु का अभिव्यापन या ठोसपन होता है तो ऐसा नही हो सकता। ऐसे रोगियों में भारी चोट से भी गूँजयुक्त ध्वनि नही निकलती। स्थूलकाय और शोथयुक्त व्यक्तियों में दुर्बल अथवा साधारण व्यक्तियो की अपेक्षा विघातन की चोट अधिक भारी होनी चाहिए, किन्तु उनमे भी चोट आवश्यकता से अधिक भारी नही होनी चाहिए। यह बात सदैव स्मरण रखना चाहिए कि वक्ष की दीवार जितनी ही पतली हो, विघातन उतना ही हलका होना चाहिए और दीवार जितनी ही मोटी हो चोट उतनी ही भारी होनी चाहिए। सच तो यह है कि हरएक रोगी की विघातनध्वनि अलग अलग होती है और उसका पता नीरोग पार्श्व के कक्षीय प्रदेश मे टकोरकर लगा लेना चाहिए। गूँज के निकालने के लिये जितने जोर के चोट की आवश्यकता हो उसको ध्यान में रखकर उतनी ही चोट से सारे वक्ष को टकोरना चाहिए।

विघातन में किन नियमों का पालन करना चाहिए—चाहे जिस विधि का प्रयोग किया जाय विघातन में कुछ नियमो का पालन करना आवश्यक है।

(१) निरीक्षण और स्पर्शन के बाद विघातन परीक्षा करनी चाहिए। वक्ष की दीवार के विकार और यथाप्रमाणता के अभाव का विघातन पर कुछ

भाव पड़ता है, अतएव उनका ध्यान रखना चाहिए। उदाहरणार्थ कुच के ऊपर की ध्वनि मन्द होती है।

(२) विघातन के समय परीक्षक को रोगी के सामने या पीछे खड़ा होना चाहिए। उसको झुकना नहीं चाहिए। ऐसा करने से रक्त मस्तिष्क में भर जाता है जिससे ध्वनि या प्रतिरोध के ज्ञान में बाधा पड़ जाती है।

(३) रोगी को खड़ा होना चाहिए अथवा तिपाई पर बैठा होना चाहिए और उसके दोनों कंधे समतल और सिर बीचोबीच होना चाहिए। मासपेशियों में तनाव नहीं होना चाहिए। हाथ धड़ के बराबर लटकने चाहिए और कंधे आगे को झुके होने चाहिए। यह बड़ा आवश्यक है कि रोगी की स्थिति में कोई अयथाप्रमाणता न हो। यदि एक कंधा दूसरे से आधा इञ्च भी नीचा रहेगा तो ध्वनि कुछ मंद हो जायगी।

(४) यदि रोगी खड़ा हो या बैठ न सके तो उसका शरीर यथासम्भव समतल और सिर बीचोबीच और कुछ ऊँचा होना चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि लेटने पर विघातन ध्वनि में साधारणत गूँज कुछ अधिक होती है।

(५) पीठ की परीक्षा करते समय कंधों के बीच के प्रदेश को चौड़ा करने के लिये बाँह मुड़ी हुई और हाथ दूसरी ओर के कंधे पर होनी चाहिए और कोहनी उठी हुई और सामने कुछ झुकी हुई होनी चाहिए। कक्षों को नहीं भूलना चाहिए। इनकी परीक्षा करते समय रोगी को अपने दोनों हाथ सिर के पीछे एक दूसरे से पकड़ लेना चाहिए (चित्र न० ७३)।

(६) परीक्षक के सुभीते के लिये भी रोगी को अपना सिर इधर-उधर नहीं करना चाहिए, इससे ध्वनि ऊँचे स्वर की होजाती है और प्रतिरोध अधिक होजाता है।

(७) जब केवल एक ओर रोग होता है तो दूसरा फेफड़ा तुलामान का काम करता है। अतएव एक ओर की दूसरी ओर से सदैव तुलना करनी चाहिए। इसके लिये यह आवश्यक है कि—

(क) विघातमापक उँगली दोनों ओर समान दृढ़ता से रक्खी जाय। वक्ष के भीतर की ध्वनि में किसी बात से इतना अन्तर नहीं पड़ता जितना विघातमापक उँगली के दबाव के अन्तर से।

(ख) दोनों ओर चोट एक सी हो।

(ग) दोनों ओर बिलकुल अनुरूप भागों की जाँच की जाय।

(घ) दोनों ओर विघातन की चोट श्वासक्रिया के एक ही काल में दी जाय।

(ङ) चोट की दिशा से ध्वनि में परिवर्तन होजाता है। चोट सदा सीधी लम्बी रेखा में पड़े और टेढ़ी कदापि न हो।



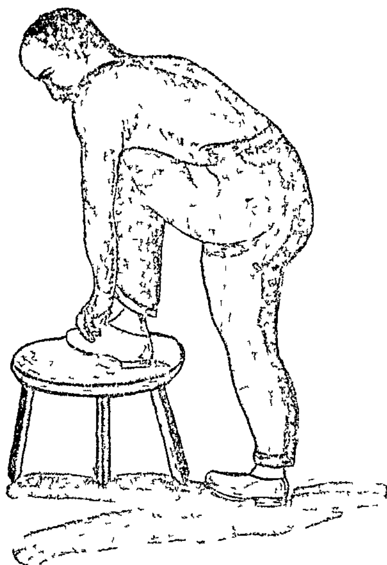
चित्र नं० ७३—कक्ष का विघातन

जब विघातन प्रकृतिस्थ लचक से आरम्भ किया जाता है तो नीचे स्वर और ऊँचे स्वर की तथा चढ़े हुये प्रतिरोध की पहिचान करना अधिक आसान होता है। इसलिए स्वस्थ भाग से रोगाक्रान्त भाग की ओर टकोरना अच्छा होता है। इसलिए साधारणत नीचे से ऊपर को टकोरना चाहिए।

(८) फुप्फुस शिखर की परीक्षा के समय यदि रोगी बैठा हो तो अधिक अच्छा होता है। निम्नलिखित स्थानों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—(१) प्रथम अन्तर्पार्श्विक स्थल का भीतरी भाग, (२) अक्षकास्थि के ऊपर का प्रदेश, (३) प्रथम और दूसरे वक्षीय कशेरुका के निकट अंसफलक के ऊपर का प्रदेश, (४) निम्नखंड का ऊपरी भाग—असप्राचीरक के मूल

ऊपर और नीचे, (५) क्रानिग का डमरू मध्य (Isthmus of onig) ।

विघातन-ध्वनि को तीव्र बनाने की विधियाँ—कभी कभी देहयुक्त रोगियों मे ध्वनि की गूँज को, विशेषकर फुफ्फुस शिखर पर, ाना बडा उपयोगी होता है । इसके लिए चार विधियाँ काम में लाई जाती हैं ।



चित्र न० ७४—विघातन ध्वनि को तीव्र करने की विधि,

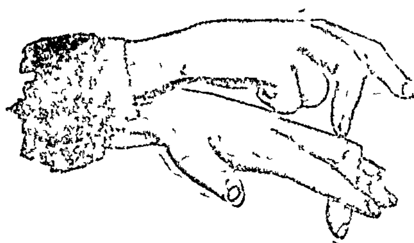
(१) रोगी को लकडी के परदे अथवा दरवाजे के सहारे खडा ाया जाता है । इससे ध्वनि की गूँज बढ जाती है ।

(२) यदि रोगी अपना एक पैर तिपाई पर रखकर और सामने ुककर खडा हो मानो कि वह अपने जूते का फीता बाँध रहा है, तो

विघातन-ध्वनि अधिक तीव्र होजाती है, क्योंकि पेट पर दबाव पड़ने से फेफड़े वक्ष की कोठरी में ऊपर को उठ जाते हैं जिससे शिखर की ध्वनि बढ़ जाती है (चित्र न० ७४)।

(३) जब रोगी गहरा श्वास लेकर अन्दर रोक ले, उस समय टकोरने से स्वस्थ फेफड़े की गूँज बढ़ जाती है। यदि कुछ अभिव्यापन होता है तो गूँज की कमी अधिक सुव्यक्त होजाती है।

(४) जब रोगी गहरा श्वास लेकर सब वायु को यथाशक्ति बाहर निकालकर श्वास रोक ले, उस समय विघातन-ध्वनि में परिवर्तन होजाता है। यदि अभिव्यापन होता है, तो ध्वनि की मन्दता अधिक सुव्यक्त होजाती है। विघातन की तीन और विधियाँ उपयोगी होती हैं —



चित्र न० ७५—अंगुलि शिखर या खड़ा विघातन, इस विधि का गूंज क्षेत्रों के सीमांकित करने में विशेषतया प्रयोग किया जाता है।

(१) **स्पर्श-विघातन**—(Palpatory percussion) इस विधि मे विघातमापक उँगली पर विघातक उँगली से शीघ्र चोट देने के बजाय विलम्बित चोट देते हैं और तुरन्त नही उठाते हैं। स्पर्श-विघातन हृदय, यकृति और सीहा को सीमाङ्कित करने मे और पार्श्वकला मे स्राव का पता लगाने मे बडा उपयोगी होता है।

(२) **अँगुलि-शिखर या खडा विघातन**—(Finger tip or Orthopercussion) इस विधि में विघातमापक उँगली का केवल सिरा

वक्ष के ऊपर रहता है और उँगली स्वयं खड़ी रहती है, परन्तु वह पर्व-संधि पर मुड़ी रहती है। विघातक उँगली से बहुत हलकी चोट पर्व-संधि पर दी जाती है। इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि केवल उँगली का सिरा ही वक्ष पर रहता है और विघातक उँगली से बहुत हलकी चोट दी जाती है (चित्र न० ७५)।

इस विधि से निम्नलिखित अनुरूप प्रदेशों की विघातन परीक्षा की जाती है —

(क) अक्षकास्थि के ऊपर का त्रिकोण (Supra clavicular triangle)

(ख) उरकर्ण-मूलिका (Sternomastoid) पेशी के दोनों सिरों के बीच का स्थान।

(ग) अक्षकास्थि और वक्षोऽस्थि के बीच का कोण।

(घ) अंसफलक के ऊर्ध्व कोण (Superior angle of scapula) से अन्दर का प्रदेश।

(ङ) अंसप्राचीरक (Spine of scapula) के मूल से अन्दर का प्रदेश।

इस विघातन विधि से ठोस इन्द्रियों और गूँजयुक्त फुफ्फुसतंतु से लगा हुआ स्राव तुरन्त सीमाकित होजाता है और अभिव्यापन के छोटे छोटे टुकड़ों का पता लग जाता है। फुफ्फुसमूल की मंदता का भी इस विधि से अधिक शीघ्र पता लग जाता है।

(३) श्रवण-विघातन—(Auscultatory percussion) उरवीक्षक यंत्र के मुँह को किसी एक फुफ्फुसखंड पर रखकर वक्ष को उसकी ओर विकिरण रेखाओं में हलकी और सीधी चोटों से टकोरते चले आते हैं। उरवीक्षक यंत्र से ध्वनि इतनी बढ़ जाती है कि बहुत सूक्ष्म परिवर्तनों का भी पता लग सकता है और फेफड़े के स्वस्थ भाग से रुग्ण भाग पर पहुँचने पर अथवा एक इन्द्रिय या एक फुफ्फुस खंड से दूसरे पर पहुँचते ही तुरन्त पता लग जाता है। यह परीक्षा-विधि ठोसपन के विस्तार का पता लगाने के लिए, फेफड़े और हृदय को तथा फुफ्फुस खंडों को सीमाकित करने के लिए बड़ी उपयोगी होती है।

विघातन से निकले हुए शब्द का विश्लेषण—अनेक परीक्षक भारी विघातन पर विश्वास करते हैं और भीतर के अवयवों की दशा का

पता लगाने मे विघातन ध्वनि पर भरोसा करते हैं। यद्यपि साधारणत. इसका प्रयोग ठीक नहीं होता, फिर भी प्रत्येक परीक्षक को भारी विघातन के प्रयोग से पूर्णत: परिचित होना चाहिए। इसलिए इसका अध्ययन और अभ्यास करना चाहिए। विघातन से निकली हुई ध्वनि मे विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तीन बातें मिलती हैं —

(१) स्वर (Pitch)—स्वर स्पन्दनों की गति पर और स्पन्दनों की गति वायु के स्तम्भ पर अवलम्बित होती है। जब वायुस्तम्भ लम्बा होता है तो स्पन्दनों की गति का वेग उसी के अनुसार कम होता है, स्वर नीचा होता है, और ध्वनि गूँजयुक्त होती है। जब वायुस्तम्भ छोटा होता है तो स्वर ऊँचा और ध्वनि गूँजहीन अर्थात् मन्द होती है। इसलिए किसी भाग की ध्वनि का स्वर उस भाग के अन्तर्गत वायु के परिमाण के अनुसार होता है। जितनी ही वायु अधिक होती है, स्वर उतना ही अधिक नीचा होता है। स्वस्थ फेफड़े की ध्वनि निम्न स्वर की होती है और वह यकृति की मन्द ध्वनि तथा वायुवक्ष की तम्बूरीय गूँज (Tympanitic resonance) के बीच मे होती है। तम्बूरीय गूँज विघातन की ध्वनियों मे सब से अधिक निम्न स्वर की होती है और नीरोग व्यक्तियों में केवल उदर के ऊपर पाई जाती है।

(२) गूँज (Resonance) स्पन्दन की जो तरगे कान तक पहुँचती हैं, गूँज उनके आयतन पर अवलंबित होती है। इसपर निम्नलिखित बातों का प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है — (क) चोट की प्रबलता, (ख) अन्तर्स्थित फुप्फुस ततु की मात्रा, (ग) वक्ष की दीवार के कोमल ततुओ की मोटाई। मोटे व्यक्तियों मे ध्वनि निकालने के लिए दुबले पतले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक प्रबल चोट देने की आवश्यकता होती है। (घ) उपपर्शुकाओं की लचक। जब ये लचकदार होती हैं तो गूँज अधिक तीव्र होती है। जब ये कठोर होती हैं, जैसा कि वृद्धावस्था मे होता है, तो गूँज कम होजाती है और ध्वनि ऊँचे स्वर की होजाती है। ध्वनि का स्वर जितना ऊँचा होता जाता है, उसकी गूँज उतनी ही कम होती जाती है। फुप्फुस ततु की गूँज लम्बी, विशद और निम्न स्वर की होती है, परन्तु तम्बूरीय नही होती। वायु की मात्रा जितनी अधिक होती है, विघातन ध्वनि मे गूँज उतनी ही अधिक होती है।

(३) गुण (Quality)—ध्वनि का गुण अन्तर्स्थित ततुओं की रचना पर निर्भर होता है। यह वह विशिष्ट लक्षण होता है जिसके द्वारा

एक वस्तु से उत्पन्न ध्वनि की दूसरी वस्तु से उत्पन्न वैसी ही ध्वनि से पहचान की जा सकती है। यह बताने के लिए कि आवाज किस बाजे की है, हमको हारमोनियम, सितार, बाँसुरी इत्यादि बाजों के देखने की आवश्यकता नहीं पडती। उनकी आवाज के गुण से ही पता लग जाता है कि आवाज किस बाजे की है। इसी प्रकार वक्ष के विभिन्न अवयवों से जो ध्वनि निकलती है, वह भिन्न भिन्न गुणों की और विशिष्ट प्रकार की होती है। उदाहरण के लिए हड्डी को ठोकने पर एक विशेष ध्वनि निकलती है। इसमें अस्थि-गुण होता है। स्वस्थ फेफड़े से जो ध्वनि निकलती है उसमें वायु-कोष्ठीय (Vesicular) गुण होता है और यह अगणित वायुकोष्ठों के समवाय से उत्पन्न होती है। समझाने के लिए इससे मिलती जुलती ध्वनि डबल रोटी को टकोरकर प्रगट की जा सकती है। खाली आमाशय से तम्बूर के समान ध्वनि निकलती है। स्वस्थ फेफड़े से निकली हुई ध्वनि मृदुल गुण की कही जाती है। जब फेफडा रोग से अभिव्याप्त अथवा सघन होजाता है तो ध्वनि कठोर होजाती है। जब वायु की अधिकता होती है तो ध्वनि का गुण तम्बूरीय होजाता है।

स्वर, गूँज और गुण में परस्पर सम्बन्ध—इन तीनों बातों में कुछ परस्पर सम्बन्ध होता है। जब भीतर के फुफ्फुस ततुओं में वायु की मात्रा अधिक होती है तो स्वर नीचा, गूँज बढी हुई और गुण मृदुल होता है। जब वायु की मात्रा कम होती है तो स्वर ऊँचा गूँज कम और गुण कठोर होता है।

इन तीनों बातों में और वक्ष के प्रतिरोध में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। उपपर्शुकाओं में जितनी लचक अधिक होती है, वक्ष की दीवारें उतनी ही अधिक दबती हैं। इस लचक पर विहृत भाग की सम्पीडनीयता अर्थात् कम या अधिक लचकीलेपन का प्रभाव होता है। इसमें फुप्फुस तंतु के अभिव्यापन, ठोसपन तथा पार्श्वकला में स्राव से परिवर्तन होजाता है। द्रव तथा दृढ पदार्थों में प्रतिरोध बहुत होता है, और वायुभरे तन्तुओं में कम होता है। जिन दशाओं में ध्वनि का स्वर बढता है, गूँज कम होती है और गुण कठोर होता है, उन सब में प्रतिरोध अधिक होजाता है। विघातन परीक्षा के विद्यार्थी को स्वस्थ व्यक्ति पर अभ्यास करना चाहिए और इस बात का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए कि ठस, मन्द, गूँजयुक्त, अतिगूँजयुक्त

तथा तम्बूरीय शब्दों से क्या बोध होता है। इनके प्रतिरूपक उदाहरण, स्वस्थ वक्ष के निम्नलिखित स्थानों में टकोरने पर मिल सकते हैं—

(१) ध्वनि का ठसपन (Flatness) मांसपेशी के समूहों पर, जैसे कि जघा पर।

(२) मन्द ध्वनि—भुजाओं को लटकाकर अंसफलक पर।

(३) गूँज—भुजाओं को मोडकर असफलक के नीचे।

(४) अति गूँज—उसी स्थान में गहरा श्वास लेकर ठोकने पर।

(५) तम्बूरीय ध्वनि—आमाशय के ऊपर विशेषकर भोजन से पहले।

यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति मे अपनी विशिष्ट विघातन ध्वनि और प्रतिरोध की मात्रा होती है। तुलना के लिए परीक्षा के आरम्भ मे ही इसका पता लगा लेना चाहिए। प्रत्येक आयुकाल की अपनी ध्वनि होती है। उदाहरणार्थ, तरुणावस्था मे स्वर नीचा, गूँज बढी हुई और ध्वनि का गुण मृदुल होता है। इसके विपरीत वृद्धावस्था में, जब उपपर्शुकाएँ कडी होजाती हैं, फुप्फुस तंतु सिकुड जाता है और लचक कम होजाती है, तो ध्वनि का स्वर ऊँचा होजाता है, गूँज कम होजाती है, गुण कठोर होजाता है और प्रतिरोध बढ जाता है।

वक्ष की आदर्शमान ध्वनि—ऊपरी कक्ष प्रदेश (Superior axillary region) की ध्वनि को आदर्शमान ध्वनि माना जा सकता है। इसका लक्षण निम्न स्वर, विशद गूंज और मृदुल सुस्पष्ट कोष्ठीय गुण होता है। किसी व्यक्ति के विघातन के समय उर्द्ध कक्षप्रदेश से आरम्भ करना अच्छा होता है, ताकि इससे उस व्यक्ति की आदर्शमान ध्वनि और प्रतिरोध ध्यान मे रहे। आदर्शमान ध्वनि के जानने के लिए उस पार्श्व को लेना चाहिए जिसके नीरोग होने की सम्भावना हो।

निम्न कक्षप्रदेशों (Inferior axillary regions) पर दाहिनी ओर यकृत का और बाईं ओर लीहा का प्रभाव पडता है।

प्रादेशिक विघातन—वक्ष के प्रत्येक भाग में ध्वनि और प्रतिरोध सम्बन्धी अपनी अपनी विशिष्टता होती है। आदर्शमान ध्वनि मे ये परिवर्तन उस स्थान के अवयवों के कारण होते हैं।

विभिन्न स्थानों पर ध्यान देने से निम्नलिखित परिवर्तन मिलते हैं—

(१) अक्षकास्थि से ऊपर का प्रदेश (Supra Clavicular region)—अक्षकास्थि से ऊपर के प्रदेश में ध्वनि कुछ ऊँचे स्वर की और हलकी गूँज की होती है। उसका गुण टेंटुआ के समीप होने के कारण अशत तम्बूरीय और अशत. कोष्ठीय होती है। यह बात बाईं ओर की अपेक्षा दाहिनी ओर अधिक स्पष्ट होती है। ध्वनि अक्षकास्थि से १½ या दो इंच ऊपर तक निकलती है।

(२) अक्षक प्रदेश—अक्षक प्रदेश में विभिन्न भागों में ध्वनि भिन्न भिन्न होती है। बाहरी तिहाई भाग बिलकुल मद होता है। इसका केवल कधे के जोड से सम्बध होता है। इसलिए इसका विघातन अनावश्यक होता है। बीच के तिहाई भाग का फेफडे के सम्मुख तथा बाह्य पृष्ठ से सम्बध होता है। यहाँ पीछे और अन्दर की ओर चोट देनी चाहिए। भीतरी तिहाई भाग का फुप्फुस शिखर के सम्मुख पृष्ठ से सम्बध होता है। यहाँ चोट सीधी पीछे को देनी चाहिए।

इन दोनो भागों मे ध्वनि के स्वर में अन्तर होता है। बीच के तिहाई भाग पर कुछ नीचा और भीतरी तिहाई भाग पर आदर्शमान ध्वनि से कुछ ऊँचा होता है। दोनों स्थानो मे गूँज सुस्पष्ट होती है, क्योंकि फुप्फुसिय ध्वनि मे अस्थीय ध्वनि मिल जाती है। दोनों स्थानो की ध्वनि के गुणों मे अन्तर होता है। बीच के तिहाई भाग पर यह कोष्ठीय होता है और भीतरी तिहाई भाग पर टेंटुआ के सन्निकट होने के कारण कुछ कुछ तम्बूरीय होता है।

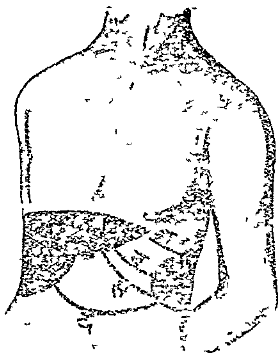
(३) निम्नाक्षक प्रदेश—अक्षकास्थि से नीचे के प्रदेश मे विघातन-ध्वनि का स्वर नीचा, गूँज अधिक और गुण कोष्ठीय होता है।

(४) उर प्रदेश—उर प्रदेश मे बाईं ओर ध्वनि पर तीन अवयवों का विशेप प्रभाव होता है—उरच्छदा पेशी, कुच और हृदय। फलत स्वर ऊँचा, गूँज कम और गुण कोष्ठीय होते हुए भी कुछ कठोर होता है। उर प्रदेश में दाहिनी ओर यकृति का प्रभाव पडता है। यकृति का गुम्बद चौथी पसली के समतल तक पहुँचता है। भारी विघातन से यह भलीभाँति सुव्यक्त होजाता है। हलके विघातन पर भी ध्वनि का स्वर कुछ ऊँचा, गूँज कम और गुण कठोर होता है।

(५) कुच से नीचे का प्रदेश—कुच से नीचे के प्रदेश मे बाईं ओर चार बातों का विघातन पर प्रभाव पडता है— हृदय, यकृति, सीहा और

आमाशय। हृदय चुचुकरेखा तक पहुँचता है। यकृति वक्षोऽस्थि के गात के निचले किनारे के समतल पर मध्यरेखा से तीन इञ्च परे तक पहुँचता है। सीहा की औसत लम्बाई चार इंच और चौडाई तीन इंच तक होती है और यह नवी, दसवी तथा ग्यारहवी पसलियों से लगी हुई होती है। इसका अगला हिस्सा सामने की कक्षीय रेखा तक जाता है।

इस प्रदेश मे कुछ कुछ त्रिकोणाकार एक क्षेत्र होता है जिसको 'ट्राबे का स्थल' कहते हैं। यह स्थल धरातल पर लगभग २½ इंच चौडा होता है और यह दाहिनी ओर यकृति से, नीचे पार्श्विक धारा से और बाई ओर सीहा से सीमित होता है (चित्र न० ७६)। इसका महत्व इस कारण होता है



चित्र न० ७६—ट्राबे का स्थल, यह स्थल बाएँ फेफडे के पाददेश मे सामने पाया जाता है और इसकी निम्नलिखित सीमाएं होती हैं—(अ) ऊपर फेफडे का निचला किनारा और हृदय, (ब) नीचे पार्श्वकला का निचला किनारा, दाहनी ओर यकृति और बाईं ओर प्लीहा, (स) पार्श्वधारा पार्श्वकला के निचले किनारे से एक अंगुल नीचे है, (द) आमाशय पीछे होता है और उससे यह क्षेत्र गूंजयुक्त होता है, पार्श्वकला के गह्वर में तरल स्राव भर जाने से इस क्षेत्र की गूंज कम होजाती है या मिट जाती है। फेफडे के रोगों में इसपर कोई प्रभाव नहीं पडता।

कि साधारणत यह गूँजयुक्त होता है, विशेषकर जब आमाशय खाली होता है। जब दोनो मे से किसी पार्श्वकला की थैली मे स्राव होता है तो यह मद होजाता है। जब बाई ओर स्राव होता है तो स्राव इस स्थान में भर जाता है और जब दाहिनी ओर स्राव होता है तो यकृति नीचे को दब जाती है और हृदय स्थानच्युत होजाता है। जब स्राव बाई ओर होता है और उसकी मात्रा कम होती है तो केवल रोगी के खडे होने पर या सीधा बैठने पर मदता मिलती है।

दाहिनी ओर कुच के नीचे के प्रदेश मे यकृति के कारण ध्वनि कुछ ऊँचे स्वर की, हलकी गूँज की और कठोर होती है। स्वस्थावस्था मे फेफडे का निचला किनारा गहरा श्वास लेने पर नीचे को उतर आता है और टकोरने पर साधारण श्वास की अपेक्षा मध्याक्षक रेखा मे एक इ च और मध्य कक्ष रेखा में दो से तीन इ च अधिक नीचे तक गूँज मिलती है।

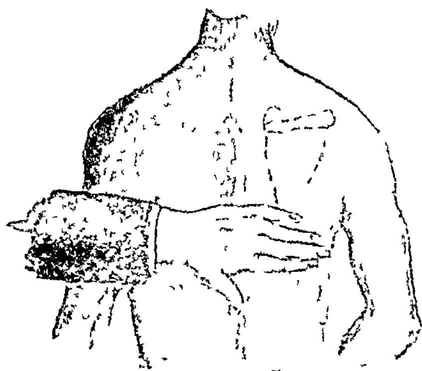
(६) अंसफलक से ऊपर का प्रदेश—असफलक मे ऊपर के प्रदेश मे अधिक मास होने पर भी विघातनध्वनि का स्वर नीचा, गूँज कम और गुण स्पष्ट कोष्ठीय होता है। मध्यरेखा के समीप टेंटुआ के कारण यह कुछ कुछ तम्बूरीय हो सकता है।

(७) असफलक प्रदेश—असफलक प्रदेश मे विघातन ध्वनि पर न केवल मासपेशियो की अधिकता का ही, बल्कि एक बडी चपटी हड्डी का भी प्रभाव होता है। फलत स्वर ऊँचा, गूँज कम और गुण फुप्फुसिय होता है, परन्तु अन्य प्रदेशो की अपेक्षा कम सुव्यक्त होता है।

(८) अन्तरासफलक प्रदेश (Interscapular region)—असफलकों के मध्यवर्ती प्रदेश में मासपेशियो के कारण विघातन ध्वनि का स्वर ऊँचा, गूँज मध्यम और गुण टेंटुआ की उपस्थिति से प्रभावित होने के कारण, विशेष करके दाहनी ओर कुछ कुछ तम्बूरीय तक सा हो जाता है। फुप्फुसमूल के रोग मे इस प्रदेश मे रीढ के एक या दोनो ओर ध्वनि मद होजाती है। ईवार्ट ने चौथे वक्ष कशेरुकटक से आठवे वक्ष कशेरुकटक तक एक अडाकार क्षेत्र का वर्णन किया है जो ऐसे रोगियों में विघातन पर मद होजाता है।

(९) असफलक से नीचे का प्रदेश—असफलक से नीचे के प्रदेश में ध्वनि बहुत नीचे स्वर की, अधिक गूँजवाली और गुण मे कोष्ठीय होती है।

दाहिनी ओर यकृत से प्रभावित होकर स्वर कुछ ऊँचा हो सकता है। बाईं ओर प्लीहा और आमाशय से इसमें परिवर्तन हो सकता है अथवा गुण कुछ तम्बूरीय हो सकता है। पाददेश में गूँज अंसफलक के कोण से ३ या ३½ इंच नीचे तक मिलनी चाहिए। वायुध्मान, श्वास या वायुवक्ष रोग में गूँज अधिक नीचे तक मिलती है। सूत्र-निर्माण में, यकृत अथवा प्लीहा वृद्धि में और उदर के जलधर, मेद वृद्धि इत्यादि रोगों में गूँज ऊँची होजाती है। यह बताना रोचक होगा कि साधारणत इस गूँज का क्षेत्र चौडाई में लगभग हथेली के बराबर होता है (चित्र नं० ७७)। पाददेशों के विघातन में यह देखना चाहिये कि



चित्र नं० ७७—फेफड़े का निचला किनारा अंसफलक के निम्न कोण से तीन या साढ़े तीन इंच नीचे तक पहुँचता है जो लगभग हाथ की चौड़ाई के बराबर होता है, जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है। पीठ पर हाथ रखने से तुरन्त पता लगाया जा सकता है कि गूँज प्रकृतिस्थ है या उसका क्षेत्र न्यूनाधिक होगया है।

गहरे प्रश्वास और गहरे निश्वास में गूँजक्षेत्र कितना बढ़ और घट जाता है। प्रकृतिस्थ दशा में साधारण श्वास में अंसफलक रेखा में पर्शुकांतर मध्यस्थ पेशी में १ इंच गति होती है और गहरे श्वास में २ या २½ इंच तक होती

है। इस पेशी मे दोनों ओर गति समान होनी चाहिए। पार्श्वकला के प्रदाह, वक्षोदर मध्यस्थ पेशी के लकवा, क्षय-रोग, वायुध्मान और श्वास रोग मे गति-विस्तार कम होजाता है।

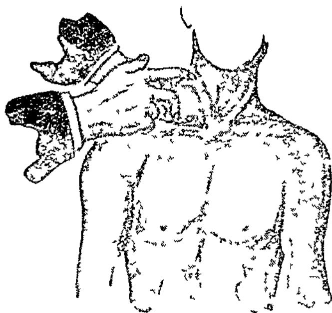
फेफड़ों के शिखरों की विघातन परीक्षा—फेफड़ों के शिखरो पर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि क्षय रोग बहुधा यहीं पर आरम्भ होता है और उसके निश्चित रोग-चिन्ह टकोरने पर सबसे पहले यही पर मिलते हैं। शिखर की स्थिति का ध्यान रखना चाहिए। शरीर के पृष्ठ पर इसको वक्षोऽस्थि और अक्षकास्थि के जोड से सीधी ऊपर को १½ इ च तक रेखा खींचने से सीमाकित किया जा सकता है। वहाँ से यह रेखा बाहर को घूमती हुई और उरकर्णमूलिका पेशी को काटती हुई नीचे को उतरती है और हँसली के भीतरी और बीच के तिहाई भागो के जोड पर आ गिरती है। शिखर को दो दिशाओं से टकोरना चाहिए—(१) सामने से और (२) बगल से।

विघातमापक उँगली को पहले उरकर्णमूलिका पेशी पर रखनी चाहिए और चोट सीधी पीछे को देनी चाहिए। दो अगुल के लगभग गूँज मिलनी चाहिये। क्षय-रोग मे गूँज खडी और तिरछी दोनों दिशाओ मे कम होजाती है।

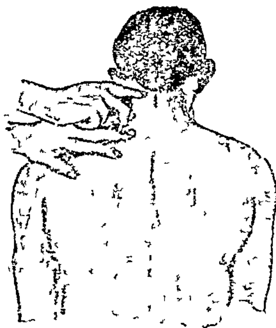
इसके बाद विघातमापक उँगली को अक्षकास्थि के समानान्तर उसके मध्य तिहाई भाग के ऊपर रखना चाहिए। विघातन की चोट पीछे को, भीतर को और कुछ नीचे को देनी चाहिये। लगभग दो अगुल सुस्पष्ट और एक अगुल कम स्पष्ट गूँज मिलनी चाहिये। इन दोनो दिशाओं में टकोरने के लिए परीक्षक को रोगी के पीछे या एक ओर को खडा होना चाहिए और विघातमापक उँगली की नोक मध्यरेखा की ओर होनी चाहिए (चित्र न० ७८)।

शिखर का विघातन पीछे असप्राचीरक से ऊपर के प्रदेश मे भी किया जा सकता है। इसकी विधि चित्र न० ७९ मे दिखलाई गई है।

शिखरों की गूँज का सीमाकित करना—गर्दन के इधर-उधर टकोरने पर कुछ भाग मे गूँज मिलती है। जब क्षय-रोग का सन्देह हो, तो फेफड़ों के शिखरो की इस गूँज को सीमाकित करना बड़ा उपयोगी होता है।

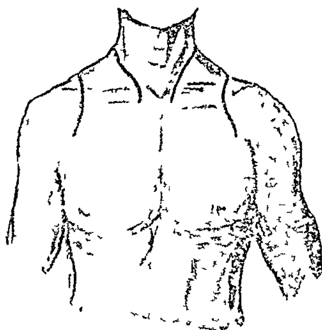


चित्र न० ७८ फुप्फुस शिखर का
विघातन—सामने से,

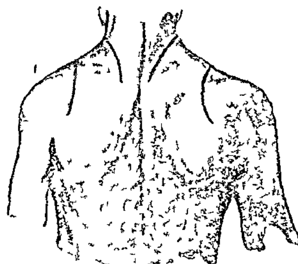


चित्र न० ७९ फुप्फुस शिखर
का विघातन—पीछे से,

सबसे पहले क्रानिग ने इस गूँजक्षेत्र को सीमांकित किया था, इसलिए इसको क्रानिग का गूँजक्षेत्र कहते हैं। वर्णन करने की अपेक्षा (चित्र न० ८० और ८१) को



चित्र न० ८०—क्रानिग का गूँज क्षेत्र—सामने,



चित्र न० ८१—क्रानिग का गूँज क्षेत्र—पीछे,

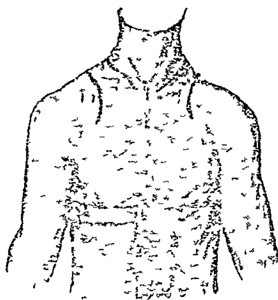
देखने से इसका अधिक अच्छा ज्ञान हो सकता है। इस क्षेत्र को सीमांकित करने के लिए मध्यमा उँगली के केवल सिरे को विघातमापक के लिए काम

मे लाना चाहिए; क्योंकि विघातमापक जितना छोटा होगा, सीमाकन उतना ही अधिक ठीक होगा। विघातन कधे की चोटी से प्रारम्भ करके ऊपर को गर्दन की ओर अथवा कर्णमूलिका से प्रारम्भ करके नीचे को कधे की ओर किया जा सकता है। जहाँ गूंज मालूम हो, वहाँ चर्मलेखनी पेन्सिल से निशान बना देना चाहिए। रोगी का शिर सामने को झुका और कधे ढीले होने चाहिए और रोगी को शान्तिपूर्वक श्वास लेना चाहिए।

क्रानिग के गूँजक्षेत्र की ऊपरी सीमा प्रकृतिस्थ दशा मे चतुरस्रा पेशी के उस स्थान पर होती है, जहाँ उरकर्णमूलिका पेशी इसको पार करती है। यहाँ से सीमारेखा सामने वक्षोऽस्थि और अक्षकास्थि के जोड तक जाती है और पीछे प्रथम वक्ष कशेरूकटक से ½ इञ्च दूर तक जाती है। निचली सीमा उस रेखा के अनुरूप होती है जो अक्षकास्थि के भीतरी और मध्य तिहाई भाग के जोड से चलकर असप्राचीरक के भीतरी और तिहाई भागो के जोड तक जाती है।

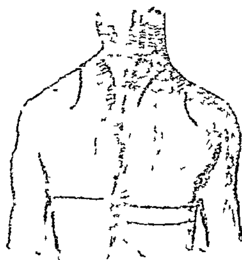
ऊपर इस गूँजक्षेत्र की चौडाई साधारणत ५ शताशमीटर (लगभग २ इञ्च) होती है। यह ४ शताशमीटर से कम नही होनी चाहिए। यदि इसकी चौडाई ३॥ शताशमीटर से कम हो तो यह निश्चय रोग-सूचक होती है।

क्षय-रोग में शिखर की गूँज में परिवर्तन—स्वस्थ व्यक्तियो मे सीमाकित करने पर दोनो ओर गूँजक्षेत्र ऊँचाई और चौड़ाई मे बराबर मिलते हैं। परन्तु क्षय-रोग में एक ओर का क्षेत्र सकुचित होजाता है (चित्र नं० ८२)। इसका कारण यह है कि शिखर मे क्षयी-विकार होने पर फुप्फुस तन्तु सिकुड जाता है। सिकुडन की मात्रा कई बातों पर, प्रधानत फुप्फुस-तन्तु के खिचाव की मात्रा और रोग के स्थान पर अवलम्बित होती है। जब विकार शिखर की परिधि पर अथवा पार्श्वकला के नीचे होता है तो सिकुडन अपेक्षाकृत कम होती है और जब विकार केन्द्रस्थ होता है तो सिकुडन अधिक होती है, क्योंकि इस दशा मे खिचाव चारोंओर से होता है। शवच्छेदों से विदित होता है कि यह सिकुडन क्षय-रोग में आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ होजाती है। अतएव शिखरो के विघातन से और क्रानिग के गूँजक्षेत्रो को सीमाकित करने मे शिखरप्रदेश में फेफडे की दशा का विशद ज्ञान हो सकता है।



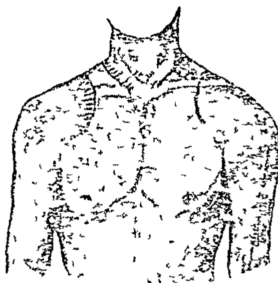
चित्र न० ८२—बाएँ फुफ्फुस शिखर
के गूंज क्षेत्र की संकीर्णता,

सिकुड़न दो प्रकार से व्यक्त होती है —(१) रोग की ओर गूँजक्षेत्र संकीर्ण हो जाता है। उसका पता नापने से लग सकता है। (२) गूँजवान् और



चित्र न० ८३ —बाएँ फुफ्फुस-शिखर की ऊपरी
सीमा पर गूँज की पट्टी (पीछे),

गढ भागो के बीच की सीमा रेखाओं के अस्पष्ट हो जाने से (चित्र न० ८३ और ८४)। स्वस्थावस्था में विभाजक सीमारेखा का विघातन से सुस्पष्ट पता लगया जा सकता है, परन्तु जब शिखर मे क्षय-रोग होता है तो कुछ दूर तक गूँज अस्पष्ट हो जाती है। यह बात ऊपरी रेखाओं में अधिकतर पाई जाती है।



चित्र न० ८४—दाहिने फुप्फुस शिखर की गूँज की दोनों सीमाओं पर अस्पष्ट गूँज की पट्टियाँ,

विघातन में अन्तर डालनेवाली रोग-दशायें

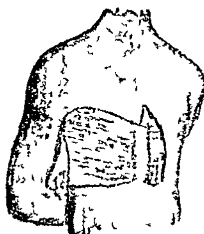
वक्ष को टकोरते समय परीक्षक को उन सब दशाओं को निरन्तर ध्यान मे रखना चाहिए, जिनसे विघातन-ध्वनि और प्रतिरोध मे परिवर्तन हो सकता है। ये दशाये निम्नलिखित होती हैं.—

(१) फेफडे की दशाये—क्षयी-विकार, क्षयी अभिव्यापन, सघनता (ठोसपन), रक्तनिर्माण या सूत्र-निर्माण, श्वासनलोत्कुलन, वायुध्मान, श्वासनल-प्रदाह, फेफडे का रक्तावष्टम्भ या प्रदाह, वायुकोष्ठो या श्वासनलो मे स्राव, फुप्फुस-शोथ और श्वासनलो मे स्राव, अकडन या बाहरी दबाव के कारण रुकावट।

(२) पार्श्वकला की दशाएँ—पार्श्वकला मे बन्धन या मोटापन, पार्श्वकला के गह्वर मे वायु, तरल अथवा वायु और तरल। जब पार्श्वकला

के गह्वर मे स्राव होता है और वह उसके निचले भाग मे भरा होता है तो उसका ऊपरी किनारा समतल नही होता, प्रत्युत वक्र होता है। टकोरने पर यह S आकार का मिलता है। इसको एलिस का वक्र (चित्र न० ८५) कहते हैं। जब वायु भी होता है तो ऊपर का किनारा सीधा होता है।

(३) मध्य वक्ष की दशाएँ—लसिका ग्रन्थियो का प्रदाह, महाधमनी का फूलना, रोग के कारण हृदय के आकार और परिमाण मे परिवर्तन और हृदय की कला में स्राव।



चित्र न० ८४—पार्श्वकला के साधारण स्राव म निम्नलिखित चिह्न होते हे—
(१) मन्दक्षेत्र, जो पीछे की अपेक्षा कक्षप्रदेश में सब से ऊँचा होता है। इसका ऊपरी किनारा क्षितिज रेखा में समतल नही होता, परन्तु S के आकार का होता है।
(२) दूसरी ओर हृदय और मध्य वक्ष के हट जाने से एक त्रिकोणाकार मन्दक्षेत्र होता है। इसको ग्रोको का त्रिकोण कहते है।

(४) वक्ष की दीवार की दशाएँ—वक्ष की बनावट में विकार, त्वचा के नीचे के तन्तु मे वायुध्मान और कोमल तन्तुओ की अतिवृद्धि या क्षीणता।

उपर्युक्त रोगावस्थाओ का प्रभाव वायु के सापेक्षिक परिमाणानुसार होता है। अतएव उनका वर्गीकरण इसप्रकार किया जा सकता है।

(अ) वायु के परिमाण में सापेक्षिक वृद्धि करनेवाली दशाएँ।

ऐसी दशाओं में विघातन ध्वनि नीचे स्वर की, अधिक गूँजवाली व मृदु गुण की, तम्बूरीय, भृंगारिक, फूटे पात्र की सी अथवा धातु की सी—कोई भी हो सकती है।

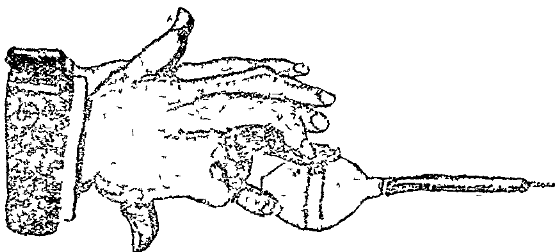
(१) अति गूँजवाली ध्वनि कब मिलती है। गूँज की अधिकता गहरे प्रश्वास में फेफडे के पाददेशों को टकोरने पर मिल सकती है। वायुध्मान रोग में, जब फेफडे की स्थितिस्थापकता का ह्रास होता है, यह सदैव मिलती है। जब पार्श्वकला की थैली आधी या दो तिहाई स्राव से भर जाती है तो स्राव के ऊपर फेफडे में तनाव कम होने पर भी गूँज की अधिकता मिलती है। रक्ताभाव तथा अन्य दुर्बलताकारक रोगों में भी वक्ष की दीवार के तन्तुओं के क्षीण होने से भी गूँज बढ जाती है।

क्षय रोगियों में अत्यधिक गूँज (Hyperresonance) साधारणत वायुध्मान के कारण पाई जाती है। जब एक फेफडे में विस्तृत रोग होता है तो दूसरे फेफडे में वायुध्मान होने के कारण गूँजाधिक्य मिलता है। पुरातन-रोग में सघन क्षेत्रों के किनारों पर गूँजाधिक्य के टुकडे मिलते हैं। इनसे रोग की सदता और भी सुव्यक्त होजाती है। इसके विपरीत गूँजाधिक्य से प्राय रोग गम्भीर होने पर भी छिप जाता है और इसका पता लगाना बडा कठिन होजाता है। इस नियम को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि दोनों ओर वाली अत्यधिक गूँज वायुध्मान रोग की द्योतक होती है। एक ओर वाली अत्यधिक गूँज दूसरे फेफडे में और यत्र तत्र गूँजाधिक्य के टुकडे अपने पासवाले भाग में रोग सूचित करते हैं। गूँजाधिक्य के साथ यदि गति की असमानता हो, तो सदैव रोग की आशका समझनी चाहिए। ऐसा प्राय क्षय-रोग के कारण होता है।

(२) तम्बूरीय गूँज कब मिलती है?—यह आवाज ढोल की आवाज के सदृश होती है। प्रकृतिस्थ दशा में यह उदर के टकोरने पर मिलती है। यह स्वस्थ फेफडे की आवाज से ऊँचे स्वर की होती है और इसमें कोष्ठीय गुण नहीं होता। एक चिकनी दीवारवाली और वायुमडल से सम्बधित थैली में वायु के होने से और लचकीली झिल्लीवाले आमाशय जैसे इन्द्रिय में वायु के स्पन्दन से यह ध्वनि निकलती है। पाँच रोग-दशाओं में तम्बूरीय ध्वनि मिल सकती है अर्थात् वायुवक्ष, फेफडे के रध्र, श्वास-नलों का फूलना, परिहृदया कला में वायु और वक्ष के पाददेश में जब आमाशय

फूला होता है और फेफड़ा ठोस होता है। यह कहा जाता है कि फुप्फुस ततु का तनाव कम होने पर भी तम्बूरीय गूंज मिल सकती है, परन्तु वास्तव मे ऐसा नही होता। ऐसी दशा मे गूंज बढी हुई मिलती है न कि तम्बूरीय। सामान्यत फुप्फुस रध्रो पर भी तम्बूरीय गूंज नही मिलती, क्योंकि साधारणत वे बहुत छोटे और गहराई पर होते हैं और उनकी दीवारे मोटी तथा खुरदरी होती हैं।

(३) भृगारिक गूँज कम मिलती है—यह तम्बूरीय गूँज का ही एक रूप होता है जिसकी ध्वनि मे सागीतिक लय आ जाती है। यह ध्वनि बन्दूक की खाली नली को एक ओर ठोकने से उत्पन्न ध्वनि के सदृश होती है। चिकनी तनी हुई दीवारवाले रंध्र के ऊपर यह ध्वनि निकलती है। यह प्राय स्वयमोत्पन्न वायुवक्ष मे मिलती है और उस समय इसके साथ साथ धातविक झंकार और भृगारिक श्वास भी होते हैं।



चित्र न० ८६— फूटेपात्र की सी गूँज के प्रदर्शित करने की विधि।

यह किसी बडे श्वासनल के ऊपर सघन ठोसपन पर—उदाहरणार्थ, ऊर्ध्व खट के फुप्फुस प्रदाह के दूसरे दरजे मे—भी मिल सकती है। ऐसे रोगियों में इसको व्यक्त करने के लिए रोगी का मुँह खुला रखवाकर प्रबल और तेज विघातन करने की आवश्यकता होती है।

(४) फूटे पात्र की सी गूँज—विदीर्ण पात्र ध्वनि भी तम्बूरीय ध्वनि का ही एक रूप-भेद होता है। इस तम्बूरीय ध्वनि के साथ एक

हलका सीत्कार शब्द भी होता है। वस्ति (अमल) देनेवाली पिचकारी की रवड की गेंद को टकोरने से जो आवाज निकलती है, यह उसी के सदृश होती है (चित्र न० ८६)। एक चिकनी दीवारवाले पृष्ठस्थ रध्र से, ठोकने पर वायु के बलपूर्वक निकलने से, यह ध्वनि उत्पन्न होती है। रोगी का मुँह खुला होना चाहिए। विघातन की चोट शीघ्र और निश्वास काल मे देनी चाहिए। अक्षकास्थि से नीचे के प्रदेश में यह वहुत पाई जाती है।

(५) धातविक गूँज—यह उन रोगियो मे मिलती है जिनमे कम से कम दो इञ्च गहरा वडा वायुपूर्ण स्थल होता है। इस वायु-स्थल की दीवारे जितनी पतली होती हैं, गूँज उतनी ही अधिक आसानी से व्यक्त होजाती है। विघातमापक के स्थान में एक रुपये को वक्ष पर रखकर और किसी धातु के विघातक या दूसरे रुपये से चोट देकर और साथ ही उरवीक्षक यन्त्र लगा-कर सुनने पर यह अधिक भली प्रकार समझ में आती है। गालों को फुला-कर और दो रुपयों से टकोरने पर तथा उरवीक्षक यन्त्र से सुनने पर ऐसी ही आवाज सुनाई देती है। इस प्रयोग से सिद्ध होजाता है कि यह ध्वनि निम्न-लिखित वातो पर निर्भर होती है—

(१) वायुभार पर, यदि यह अत्यधिक या वहुत कम होता है तो यह ध्वनि नहीं निकलती, (२) विघातन की चोट की प्रबलता पर, (३) वायु की मात्रा या गहराई पर।

धातविक गूँज वायुवक्ष मे मिलती है और कभी कभी वडे वडे फुप्फुस-रध्रों पर भी पाई जाती है। साधारणत इसके साथ श्रवण करने पर धातविक-झकार मिलती है।

(ब) वायु कम करनेवाली और फलत विघातन ध्वनि को मंद करने वाली दशाये—

पूर्णमांद्य—विघातन ध्वनि के विलकुल मन्द या ठस होने के पाँच कारण होते हैं—

(१) पार्श्वकला के गह्वर मे तरल—पीव, रक्तरस अथवा रक्त। विघातमापक उँगली को कठोर पत्थर का सा अवरोध प्रतीत होता है जो बडा लाक्षणिक होता है और उससे इस दशा की पहचान की जा सकती है। पार्श्वकला में तरल का पता लगाने के लिए चार और चिह्न होते हैं। वे ये हैं। वाई ओर के साथ मे ट्राबे के स्थल का मिट जाना, पृष्ठवंश से लगा हुआ कोणो

के त्रिकोण का व्यक्त होना, शरीर की स्थिति बदलने पर मंदता के क्षेत्र मे परिवर्तन होना, यदि स्राव अधिक हो तो हृदय और यकृति का अपने स्थान से हटना।

(२) वायुकोष्ठों मे तरल स्राव, जैसा कि फुप्फुस शोथ और लेटे रहने के कारण प्रदाह मे होता है।

(३) फेफडे का ठोसपन—यह क्षय-रोग में फुप्फुस प्रदाह या श्वासनल फुप्फुस प्रदाह और फेफडे के सम्पीडन इत्यादि के कारण हो सकता है।

(४) फेफडे, पार्श्वकला या मध्य वक्ष मे रसौली या रक्त-कोप।

(५) यकृति या प्लीहा का बढना अथवा जलधर या अन्य उदर रोग के कारण ऊपर को खिंच जाना।

मंदता कारण के अनुसार विस्तार मे न्यूनाधिक होती है। जब मंदता का कारण क्षय-रोग जैसा कोई पुरातन रोग होता है तो मंद भाग के आसपास साधारणत परिपूरक वायुध्मान के कारण गूँजाधिक्य के क्षेत्र होते हैं। जब फेफडे के पृष्ठ के समीप बडा रध्र होता है, तो कभी कभी तम्बूरीय गूँज भी मिलती है। कभी कभी जब रध्र होता है तो रोगी की स्थिति बदलने से विघातन-ध्वनि मे अन्तर होजाता है। जो भाग पहले मंद होता है, स्थिति बदलने पर वही गूँजयुक्त होजाता है।

टेंटुआ और श्वासनलों की ग्रन्थियों की वृद्धि—वक्ष का विघातन करते समय मध्य वक्ष के ग्रन्थि-रोग को ध्यान मे रखना चाहिए। फेफडों के मूल की ग्रन्थियाँ क्षय-रोग में लगभग सदैव बढ जाती हैं। इसमे सामने दूसरे और तीसरे अन्तर्पार्श्विक स्थलों मे, वक्षोऽस्थि के इधर उधर मंदता मिल सकती है। सामने की अपेक्षा पीठ के अधिक समीप होने के कारण पीछे उनका पता अधिक सुगमता से चल सकता है। ऊपर के ५ या ६ वक्ष कशेरुकटको के ऊपर टकोरने पर ध्वनि गूँजयुक्त मिलती है। यदि टेंटुआ की ग्रन्थियाँ बढी हुई होती हैं तो पहले से चौथे वक्ष कशेरुकटक तक ध्वनि मंद होजाती है। यदि टेंटुआ के विभागस्थान की ग्रन्थियाँ बढी हुई होती हैं तो चौथे, पाँचवे और छठवे कटकों के ऊपर ध्वनि मंद होजाती है।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

श्रवण-परीक्षा

विषय प्रवेश—फेफडो के विघातन के बाद साधारणत. श्रवण-परीक्षा की जाती है। यह बताया जा चुका है कि प्रारम्भिक क्षय की पहचान मे विघातन एक बडी महत्वपूर्ण परीक्षा होती है। विघातन से फेफडों की सघनता अर्थात् उनके अन्तर्गत वायु की दशा का पता लगता है। परन्तु इससे इस बात का पता नहीं लग सकता कि जो मदता या गूँजाधिक्य इस प्रकार मिलता है उसका कारण क्या है, और न इस बात का पता लग सकता है कि रोग सक्रिय है या शान्त। श्रवण-परीक्षा से इन बातों का पता लग जाता है और इससे प्राय पार्श्वकला के रोग की फुप्फुस रोग से, पार्श्वकला के स्राव की ठोस फुप्फुस तन्तु से, वायुध्मान की वायु वक्ष से और नवीन रोग की पुरातन रोग से पहचान की जा सकती है। श्रवण-परीक्षा से बहुधा यह भी बताया जा सकता है कि रोग वायु-कोष्ठों, अन्तर्वर्ती तन्तु, श्वासनल, पार्श्वकला या मध्यवक्ष किस भाग मे है। कभी कभी श्रवण-परीक्षा से उन रोगियो मे बहुत कुछ सूचना मिल जाती है, जिनमें रोग के केन्द्रस्थ या वायुध्मात फेफडो मे होने के कारण विघातन से कोई सूचना नहीं मिलती। इसी प्रकार कुछ रोगियो मे श्वास शब्दो के विकार और कर्णों अर्थात् ऊपरी शब्दो (Rӑles) के सुन पडने से विघातन से पूर्व रोग की सूचना मिल जाती है।

श्रवण-परीक्षा की विधियाँ

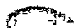
प्रत्यक्ष विधि—श्रवण-परीक्षा की दो विधियाँ होती हैं, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष विधि मे परीक्षक रोगी के वक्ष पर अपना कान लगाकर

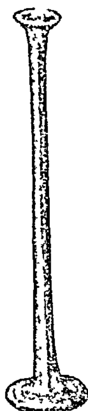
सुनता है। फेफडे की सामान्य दशा का अनुमान करने के लिए यह विधि अच्छी होती है। यह स्वय स्पष्ट है कि इस विधि मे अनेक बुराइयाँ है जिनके कारण सर्वत्र इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसलिए प्रत्यक्ष विधि का प्रयोग बहुत कम किया जाता है।

अप्रत्यक्ष विधि—श्रवण-परीक्षा की अप्रत्यक्ष विधि मे श्वास-शब्दो के सुनने के लिए एक यत्र की आवश्यकता होती है, जिसको उरवीक्षक यत्र (Stethoscope) कहते हैं। यह विधि परीक्षक और रोगी, दोनो के लिए सुविधाजनक होती है। इसलिए साधारणत इसी विधि का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग स्त्री और पुरुष दोनो मे और रोगी की हर अवस्था मे स्वच्छन्दतापूर्वक किया जा सकता है। इसी विशेष कारण के लिए लैनेक ने उरवीक्षक यत्र का आविष्कार किया था। इसके आविष्कार का इतिहास बडा रोचक है। सन् १८१६ ई० मे एक युवती हृदय रोग के लिए उनके पास आई। रोगी की आयु, दशा और स्त्री होने के कारण प्रत्यक्ष श्रवण-परीक्षा अनुचित थी। जब लकडी के एक सिरे पर आलपिन से खुरचा जाता है तो उसकी आवाज दूसरे सिरे पर सुनाई पडती है, यह बात उनको सूझ गई। उन्होने तुरन्त कागज के एक दस्ते को लपेटकर उसकी एक चोंगी बनाई और उसे रोगी के हृदय पर रक्खा। इससे जो परिणाम निकला, उससे उनको बडा आश्चर्य और हर्ष हुआ। हृदय के शब्द बहुत साफ साफ और स्पष्ट सुनाई देने लगे। इस साधारण यत्र से अनेक प्रकार के उरवीक्षक यत्रो का आविष्कार हुआ है।

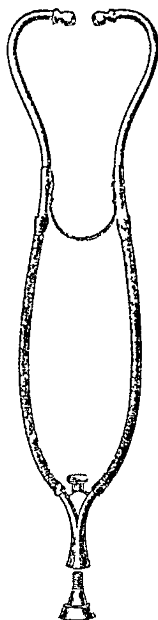
उरवीक्षक यत्र दो प्रकार के होते हैं—(१) एक कानवाले और (२) दो कानवाले। इन दोनों में कौन अधिक अच्छा है, यह अपने अपने मत पर निर्भर होता है। कुछ लोग एक को पसन्द करते हैं और कुछ दूसरे को। प्रत्येक व्यक्ति को स्वय पता लगा लेना चाहिए कि उसके लिए कौन-सा यत्र अच्छा है। यह आवश्यक है कि हरएक परीक्षक को दोनो प्रकार के यत्रो के प्रयोग का ज्ञान हो।

एक कानवाला उरवीक्षक यत्र (Monaural Stethoscope) एक कानवाला उरवीक्षक यत्र हलकी लकडी का बना हुआ सर्वोत्तम होता है (चित्र न० ८७)। धातु या काँच का यत्र सतोषजनक नहीं होता। कानवाला सिरा लगभग चपटा होना चाहिए और यन भाग गुलाईदार तथा





चित्र नं० ८७—
एक कानवाला
उरवीक्षक यंत्र



चित्र नं० ८८—दो कान-
वाला उरवीक्षक यंत्र

लगभग एक इञ्च व्यास का होना चाहिए। ६ या ७ इञ्च लम्बे साधारण यंत्रों की अपेक्षा १२ या १४ इञ्च लम्बे लकड़ी के यंत्र अधिक अच्छे होते हैं।

दो कानवाले उरवीक्षक यंत्र (Binaural stethoscope)—दैनिक काम के लिए, बच्चों और शय्यागत रोगियों की परीक्षा के लिए और कोलाहलपूर्ण स्थानों में काम करने के लिए दो कानवाले उरवीक्षक यंत्र बड़े उपयोगी होते हैं (चित्र नं० ८८)। दो कानवाले उरवीक्षक यंत्र के निर्वाचन

मे तीन बाते अवश्य देखनी चाहिए। (१) यत्र के कर्ण भाग (Ear Pieces) कान के छिद्र मे ठीक बैठने चाहिए, क्योंकि उनके छोटे बडे होने से ठीक ठीक सुनाई नही पडता। (२) यत्र के क्षितिज भाग जिनमे कर्ण भाग लगे रहते हैं, कान की नली की सीध मे होने चाहिए। (३) कमानी ऐसी होनी चाहिए कि यत्र अपनी स्थिति मे रह सके। कमानी इससे अधिक तेज नही रहनी चाहिए, क्योंकि कान के छिद्र पर दबाव पडने से शब्द के वाहन में बाधा पडती है। एक बात यह और है कि रबड दृढ होनी चाहिए ताकि वह सहज मे मुड न सके। रबड को लम्बाई १८ इञ्च के लगभग होनी चाहिए। आजकल नाना प्रकार के वक्ष भाग अर्थात् मुँह काम में लाये जाते हैं। सरल बनावट और मामूली कद का शकाकार वक्ष भाग अच्छा होता है। आवाज को तेज करने को विविध तरकीबों का त्यागना ही अच्छा होता है। उनसे श्वास-शब्दो मे गडबड होजाती है और नकली ऊपरी शब्दो के उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। दो कान वाले उरवीक्षक यत्र के पसन्द करने मे वही यत्र लेना चाहिए जिससे सर्वोत्तम शब्द वाहन हो। इसका पता कागजों के ढेर के नीचे घडी रखकर और उसका 'टिक' 'टिक' शब्द सुनकर लगाया जा सकता है। वही यत्र सबसे अच्छा होता है जिससे अधिक से अधिक मोटी तह मे से घडी का शब्द सुनाई दे।

श्रवण-परीक्षा के नियम—परीक्षा के सतोषजनक और फलप्रद होने के लिए कुछ नियमो का पालन करना आवश्यक है।

(१) परीक्षक की स्थिति—परीक्षक की स्थिति मे किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक बाधा नहीं होनी चाहिए। परीक्षक को एकाग्र चित्त होना चाहिये। और उसका सिर सीधा होना चाहिए।

(२) रोगी की स्थिति—रोगी को खडा या किसी ऊँची तिपाई पर बैठा होना चाहिए। उसकी स्थिति बाधारहित होनी चाहिए। चारपाई पर लेटे हुए रोगी की सन्तोषपूर्वक परीक्षा करना बडा कठिन होता है। रोगी के कमर के ऊपर के सब कपडे उतरवा देने चाहिए। श्रवण करने से पूर्व परीक्षक को यह देख लेना चाहिए कि रोगी को ठीक ठीक श्वास लेना आता है या नही और यदि न आता हो तो उसको बता देना चाहिए। श्रवण-परीक्षा में एक बड़ी कमी यह होती है कि अधिकाश रोगी श्वास को ठीक तरह से

बाहर निकालना नहीं जानते। वे जोर से साम अन्दर लेकर रोक लेते हैं। कुछ रोगी बहुत जल्दी-जल्दी श्वास लेने लगते हैं। अधिकांश रोगियों में थोड़ी शिक्षा से काम चल जाता है, परन्तु कुछ रोगी ऐसे होते हैं जिनको ठीक ठीक श्वास लेना नही आता। ऐसे रोगियों मे परीक्षा उस समय तक स्थगित कर देनी चाहिए जब तक उनको श्वास लेने की विधि न आ जाय।

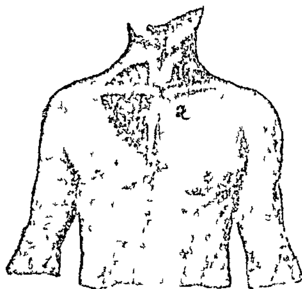
परीक्षा के समय श्वासक्रिया नियमित, यथाक्रम, कुछ अधिक गहरी और नाक से होनी चाहिए। मुँह से श्वास लेने से कभी कभी कुछ खाँसी आने लगती है और श्वास-शब्द का रूप कुछ श्वासनालिक श्वास का सा प्रतीत होने लगता है जिससे भ्रम होने की सम्भावना होती है।

(३) उरवीक्षक यन्त्र—उरवीक्षक-यन्त्र को वक्ष पर सावधानी से दृढता-पूर्वक और समान भाव से लगाना चाहिए ताकि उसके और त्वचा के बीच मे वायु न आ-जा सके। यंत्र के वक्ष-भाग के हिलने डुलने से परीक्षा की ठीक ठीक क्रिया मे बाधा पडती है। यदि वक्ष पर बालो के कारण यन्त्र ठीक ठीक न लगाया जा सके अथवा उनसे भ्रमोत्पादक मिथ्या शब्द उत्पन्न होते हो तो बालो को साफ करा देना चाहिए या वैसलीन लगाकर उनको चिपका देना चाहिए।

(४) किन स्थानो की परीक्षा करनी चाहिए—फेफडो की खडवार परीक्षा करनी चाहिए। फुफ्फुस-खण्डों की पृष्ठस्थ सीमा रेखाओ को सदैव ध्यान मे रखना चाहिए। उरवीक्षक यन्त्र को प्रत्येक अक्षकास्थि पर दो बार और प्रत्येक अन्तर्पार्श्विक स्थल मे सामने, बगल मे और पीछे तीन तीन या चार चार बार लगाना चाहिए। फेफडो के किनारे और खण्डो के बीच की दरारों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। बाये फेफडे की जिह्वा को जो हृदय के ऊपर होती है, कभी नहीं भूलना चाहिए, क्योंकि यहाँ पर भी प्राय क्षय-रोग मिलता है। एक ओर के प्रदेशो की दूसरे ओर के अनुरूप प्रदेशो से तुलना करनी चाहिए, यद्यपि प्रकृतिस्थ दशा मे भी दोनों ओर के अनुरूप प्रदेशो मे कुछ कुछ अन्तर होता है।

कुछ स्थानों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—किस स्थान से सुनना आरम्भ करना चाहिए ? जब क्षय-रोग का सन्देह हो, तो पाददेश से आरम्भ कर ऊपर को बढना अच्छा होता है। रोग के आरम्भ मे पाददेश साधारणत रोग से मुक्त होते हैं। यथार्थ मे यदि रोग के चिह्न अकेले

पाददेश में मिले तो क्षय-रोग के मानने में तब तक शंका करनी चाहिए जब तक कफ मे क्षय-कीटाणु न मिलें। आरोग्य भाग से चलकर रुग्न भाग पर पहुँचने पर विकारों का पता अधिक सुगमता से चल जाता है। इन चार त्रिकोण प्रदेशों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—(१) अक्षकास्थि से ऊपर का त्रिकोण, (२) वह त्रिकोण जो अक्षकास्थि, वक्षोऽस्थि और उस कल्पित रेखा से बनता है जो चौथे उपपर्शुका और स्कधास्थि के असकूट (Acromion) को जोडती है, (३) वह त्रिकोण जो रोगी के बगल मे हाथ लटकाकर और सिर को कुछ झुकाकर खडे होने पर असप्राचीरक, पहले चार वक्ष कशेरुकटक, और प्रथम कशेरुकटक तथा असप्राचीरक के बाहरी सिरे को जोडनेवाली कल्पित रेखा से बनता है,



चित्र न० ८६—सामने के त्रिकोणप्रदेश जहाँ प्रारम्भिक क्षय-रोग के चिह्न बहुधा पाये जाते हैं।

(४) वह त्रिकोण जो असफलक की व शानुगाधारा, चौथी से आँठवीं वक्ष कशेरुकटक तथा आठवीं कशेरुकटक और असफलक के निम्न कोण के जोडनेवाली कल्पित रेखा से बनता है। इस अन्तिम प्रदेश की परीक्षा के लिए हाथ को दूसरे कधे पर रखना और कोहनी को उठाना चाहिए, ताकि फेफडे का बड़ा से बडा भाग अनाच्छादित होजाय। यह क्षेत्र फेफडों के ऊपरी और निचले खडो के शिखरों के और फुप्फुस-मूलों के लगभग अनुरूप होते हैं। प्रारम्भिक क्षय बहुधा इन्हीं स्थानों मे मिलता है (चित्र नं० ८९ व ९०)।

का चौथाई होता है। इसका स्वर नीचा और कुछ कर्कश होता है। यह धीरे धीरे हलका होता जाता है।

प्रकृतिस्थ कोष्ठीय श्वास मे निश्वास को प्रश्वास के बन्द होने पर फेफडो के लचकदार होने के कारण अपनी पूर्वावस्था को लौटने का फल समझना चाहिए। जब यह प्रश्वास का केवल एक चौथाई या एक तिहाई होता है तो इससे वायुकोष्ठो और श्वासनलो के बीच मे वायु के आने-जाने मे किसी रुकावट का न होना सूचित होता है। कोष्ठीय श्वास मे प्रश्वास के बाद तुरन्त निश्वास होता है। बीच मे कुछ अन्तराल नही होता।

कोष्ठीय श्वासशब्द का कारण—कंठ में वायु के आने-जाने से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह स्पञ्जरूप फुप्फुसतन्तु मे होकर गुजरने से कुछ परिवर्तित होजाता है। यह परिवर्तित शब्द कोष्ठीय श्वास-शब्द कहलाता है।

विभिन्न स्वस्थ व्यक्तियो के कोष्ठीय श्वास-शब्द मे कुछ कुछ अन्तर होता है।

(क) मुँह से श्वास लेनेवालों मे निश्वास बडा होता है।

(ख) शिशुकाल मे वायुकोष्ठो के छोटे होने और वक्ष की दीवार के पतला होने के कारण श्वास-शब्द अधिक तेज होता है। इसको बालिश (Puerile) श्वास कहते हैं। अन्यथा इसके लक्षण वैसे ही होते हैं।

(ग) वृद्धावस्था मे प्रश्वास-काल कम होजाता है और निश्वास काल बढ जाता है।

(घ) दाहिने फुप्फुसशिखर पर टेटुआ के समीप होने के कारण प्रश्वास साधारणत कुछ ऊँचे स्वर का और तेज होता है। निश्वास भी कुछ कर्कश और बडा होता है। कुछ व्यक्तियों में श्वास-शब्द बहुत दुर्बल होता है और कठिनता से सुनाई पडता है। यह निर्बलता जब स्वस्थावस्था में होती है तो व्यापक होती है, कहीं पर स्थानाबद्ध नही होती।

श्वासनालिकश्वास (Bronchial breathing)—श्वासनालिक श्वास के तीन लक्षण होते हैं (१) प्रश्वास और निश्वास दोनों काल में बराबर होते हैं। (२) दोनो मे कुछ अश ।तक "शकार" सा गुण होता है। (३) प्रश्वास और निश्वास के मध्य में व्यवधान होता है। आवाज की तेजी श्वास का विशिष्ट लक्षण नहीं होती। प्रकृतिस्थ दशा में यह फुप्फुस-

तन्तु के ऊपर कभी सुनाई नहीं देता। सामने गर्दन की जड में वक्षोऽस्थि से ऊपर के गड्ढे मे और पीछे पाँचवे या छठवे ग्रीवाकशेरुकंटक के ऊपर यह सुनाई देता है।

श्वासनल-कोष्ठीय श्वास (Broncho vesicular breathing)—श्वासनल कोष्ठीय श्वास मे प्रश्वास और निश्वास दोनों समान होते हैं। प्रश्वास श्वासनालिक श्वास का सा होता है, परन्तु अधिक कर्कश होता है। निश्वास रूप में कोष्ठीय परन्तु अधिक तेज और लम्बा होता है। दोनो के बीच मे अन्तराल नहीं होता। प्रकृतिस्थ दशा मे श्वासनल-कोष्ठीय श्वास दो स्थानो मे सुनाई देता है—(१) वक्षोऽस्थि और अक्षकास्थि के बीच के कोण में, विशेषकर दाहनी ओर, (२) अतरासफलक प्रदेशो मे, प्रधानत पाँचवी से सातवीं वक्ष कशेरुकटक तक।

रोग में श्वास शब्द— श्वास-शब्दों के उपरोक्त तीन रूपो के अनुरूप उनके विकार भी तीन समूहो में विभाजित किये जा सकते हैं—

(१) कोष्ठीय श्वास के विकार—(क) निर्बल श्वास, (ख) दानेदार या विषम श्वास, (ग) झटकेदार श्वास, (घ) दीर्घ निश्वास (च) कर्कश श्वास।

(२) श्वासनालिक श्वास के विकार—विच्छिन्न श्वासनालिक, राध्रिक और भृङ्गारिक।

(३) मध्यरूप के विकार—श्वासनल-कोष्ठीय और कोष्ठीय श्वास-नालिक।

निर्बल कोष्ठीय श्वास—क्षय के आरम्भ मे सबसे पहले, जब न ऊपरी शब्द सुनाई देते हैं और न श्वास के रूप मे कोई परिवर्तन होता है, उस समय श्वास फेफडे के किसी शिखर पर एक परिमित क्षेत्र मे निर्बल होजाता है अथवा बिलकुल सुनाई नही देता। यह दशा अधिकतर पीछे असप्राचीरक के निकट पाई जाती है। इसलिए इस स्थान को 'भय मडल' (Alarm Zone) कहते हैं। प्रश्वास की निर्बलता प्रारम्भिक क्षय मे सामने अक्षकास्थि के भीतरी तिहाई भाग के नीचे भी मिलती है। कभी कभी इस निर्बल श्वास मे श्वासनालिक गुण भी आ जाता है और प्रश्वास के अन्त में कुछ फरफर कण भी सुनाई देने लगते हैं।

रोग की पहचान में निर्बल श्वास का महत्व कभी होता है

पर स्थानावद्ध, सुपरिगत, स्थिर और स्थायी होता है और ज़ोर से साँस लेने या खाँसने का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। श्वास की निर्बलता इस बात की सूचक होती है कि श्वासनलिकाओं का परिवेष्टक फुफ्फुस-तन्तु यक्ष्मों से अभिव्याप्त होगया है और अभिव्यापन से श्वासनलिकाओं का सपीडन होजाने से तत्सम्बन्धी वायुकोष्ठ पिचककर वायुशून्य होगये हैं, अथवा परिफुफ्फुसिया कला का स्थानावद्ध प्रदाह होगया है जिससे रुग्न भाग के वायुकोष्ठों की श्वासक्रिया मे रुकावट होती है।

निर्बल श्वास-शब्द निवृत्त क्षयी-विकारों के ऊपर और फुप्फुस शिखर की पार्श्वकला मे बधन बन जाने पर भी सुनाई देते हैं। परन्तु सक्रिय क्षय की प्रारम्भिक अवस्था मे निर्बल श्वास के साथ साथ खाँसी, ज्वर, शीघ्रगामी नाडी इत्यादि लक्षण भी होते हैं और साधारणत उस स्थान के टकोरने पर कुछ रोग-चिह्न मिल जाते हैं। रोग के लक्षणों के अभाव में फुप्फुस शिखर पर निर्बल श्वास निवृत्त क्षयी विकार का चिह्न होता है।

सम्वृद्ध रोग मे भी परिमित क्षेत्रों मे श्वासनलों के श्लेष्म से रुक जाने के कारण प्राय निर्बल श्वास पाया जाता है, परन्तु श्वासप्रणाली मे वायु को रोकनेवाली जो श्लेष्म की डाट लगी होती है वह ज़ोर से खाँसने पर हट जाती है और तब श्वास-शब्द सुनाई देने लगते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि श्वासप्रणाली मे एकत्रित श्लेष्म से रुकावट होजाने पर तत्सम्बन्धी वायुकोष्ठ पिचककर वायुशून्य होजाते हैं और उस स्थान पर टकोरने पर गूँज की मदता मिलने लगती है, परन्तु इस दशा मे कोई श्वास-शब्द या कोई ऊपरी शब्द सुनाई नहीं पडता। जब यह दशा फेफडे के निम्न भाग में हो जाती है तो पार्श्वकला के मोटेपन से इसकी पहचान करना बडा कठिन होता है, क्योंकि उसमे भी श्वास-शब्द निर्बल होजाते हैं।

उग्र प्रदाह रूपी क्षय-रोग मे फेफडे के रुग्न भाग पर मदता के साथ साथ प्राय श्वास-शब्द निर्बल पाया जाता है और कभी कभी श्वास बिलकुल नहीं सुनाई देता, परन्तु कुछ स्थूल कण सुनाई देते हैं। इसीप्रकार सम्वृद्ध क्षय मे, जब कभी कभी रोग-वृद्धि का दौरा होता है, तो नये आक्रान्त भागों में श्वास निर्बल सुनाई देने लगता है जो कालान्तर मे श्वासनालिक श्वास मे परिणत होजाता है।

विषम या दानेदार श्वास—(Granular or rough breathing) कोष्ठीय श्वास के वर्णन में यह बताया गया था कि सब का

सम श्वास समानभाव होता है। रोग में कभी कभी श्वास का यह समभाव मारा जाता है, तब श्वास विषम होजाता है। प्रारम्भिक क्षय में श्वास प्राय विषम पाया जाता है। श्वास के प्रश्वासीय भाग पर विशेष प्रभाव पड़ता है और वह शुष्क, कर्कश तथा निम्न स्वर का होजाता है। भूल से इसको कर्कश श्वास नहीं समझ लेना चाहिए। विषम श्वास तीव्रता में कम भी हो सकता है और कभी कभी तो बहुत धीमा होजाता है, परन्तु कर्कश श्वास सदैव तीव्र और बिलकुल शुद्ध होता है। दूसरी ओर विषम श्वास में सदा यह सन्देह रहता है कि श्वास-स्वर में कुछ ऊपरी शब्द भी मिले हैं। साहली के मतानुसार विषम श्वास, वायु प्रणाली की श्लेष्मकला के प्रदाह का एक चिह्न होता है। श्वास-प्रणाली के छिद्र में श्लेष्मकला के प्रदाह के कारण असमता आजाने से तत्सम्बन्धी फुफ्फुस तन्तु के वायु-सचालन में विषमता आजाती है और श्वास-प्रणालियों में श्लेष्म जमा होने से उसके छिद्र में रुकावट होने के कारण कुछ ऊपरी शब्द उत्पन्न होजाते हैं। जब ये ऊपरी शब्द बिलकुल पृथक् होजाते हैं तो उनको कण कहते हैं, परन्तु जब वे अस्पष्ट और मिले हुए रहते हैं तो कोष्ठीय श्वास अशुद्ध या विषम होजाता है। यह साधारणत असप्राचीरक से ऊपर के प्रदेश (Supra spinous fossa) में और अक्षकास्थि के ऊपर और नीचे सुनाई देता है।

जैसा कि ग्रे ने बताया है, फुफ्फुस शिखर पर विषम श्वास के सन्तोषजनक प्रदर्शन के लिए उस स्थान के मासपेशियों का शिथिल अवस्था में रहना आवश्यक होता है, क्योंकि उनमें अकड़न होने से विषम श्वास के समान स्वर उत्पन्न होजाता है और रोग के पहचानने में भ्रम होने की सम्भावना रहती है। उनका कहना है कि श्रवण करते समय रोगी को पेट से श्वास लेना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से शिखर की मासपेशियाँ ढीली रहती हैं। उनका कहना है कि कोष्ठीय श्वास में निश्चित विकार तभी माना जा सकता है जब कि रोगी के केवल उदर से श्वास लेने पर विषम श्वास सुनाई दे।

परन्तु माञ्चर इस बात पर जोर देते हैं कि विषम श्वास स्वर उपक्रान्त क्षय का निश्चयात्मक चिह्न होता है और क्राइन रिवरी कहते हैं कि यह प्रारम्भिक क्षय का सबसे पहला श्रुत चिह्न होता है, परन्तु पीयरी इनसे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि यह निवृत्त क्षय का चिह्न होता है और यह

फुफ्फुस तंतु के सीमित क्षेत्र मे क्षत-चिह्न बन जाने से उत्पन्न होता है। यह ठीक भी प्रतीत होता है। ऐसे बहुत से रोगी देखने मे आते हैं जिनके फुफ्फुस शिखर पर वर्षों तक विषम श्वास बना रहता है और सक्रिय रोग के कोई लक्षण व्यक्त नहीं होते। वास्तव में बात यह है कि यदि रोग के लक्षण विद्यमान हो तो विषम श्वास एक विश्वस्त रोग-चिह्न होता है। रोग के लक्षणो के अभाव मे इससे सूचित होता है कि क्षयी व्रण होकर पुर चुके हैं।

झटकेदार श्वास—(Cogwheel breathing) झटकेदार श्वास बहुत दिनो से प्रारम्भिक क्षय का विशिष्ट चिह्न समझा जाता है। प्रश्वासीय भाग साधारण श्वास की भाँति सम और अविरत नही होता, परन्तु झटकेदार और कई भागो मे विभक्त प्रतीत होता है। विषम श्वास से यह इस बात मे भिन्न होता है कि इसका प्रत्येक भाग सम और सीत्काररूपी होता है। वायुकोष्ठो मे प्रवेश करते समय वायु के प्रवाह मे रुकावट होने से यह उत्पन्न होता है।

पीयरी का मत है कि शिखर पर झटकेदार श्वास पार्श्वकला मे बंधन सूचित करता है, जो अधिकतर निवृत्त क्षयी-विकार के अवशिष्ट चिह्न होते हैं। कभी कभी यह सक्रिय क्षय के प्रारम्भ मे भी मिलता है।

झटकेदार श्वास कभी कभी उद्विग्न चित्तवाले रोगियो के वक्ष मे भी मिलता है, परन्तु उस समय यह सम्पूर्ण वक्ष मे भी सुनाई देता है। क्षय-रोग मे यह केवल परिमित क्षेत्र मे मिलता है।

दीर्घ निःश्वास—(Prolonged expiration) ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि क्षय रोग की प्रारम्भिक अवस्था में श्रवण करने पर केवल प्रश्वासीय भाग म परिवतन मिलते हैं। क्षय-रोग के कुछ पुराने ग्रथों मे यह लिखा हुआ मिलता है कि निःश्वास के परिवर्तन प्रारम्भिक क्षय के निश्चयात्मक चिह्न होते हैं। इसका कारण यह है कि पुराने जमाने मे उपक्रात क्षय की पहचान नहीं हो पाती थी। वस्तुत आजकल भी अधिकाश रोगी रोग की उपक्रान्त अवस्था मे परीक्षा के लिए नहीं आते हैं, इसलिए साधारणत प्रथम परीक्षा मे दीर्घ-निःश्वास अधिक पाया जाता है, परन्तु जिनको अधिक उपक्रान्त रोगियों को देखने के अवसर प्राप्त होते हैं, वे कह सकते हैं कि प्रश्वास के निर्बल, विषम अथवा झटकेदार इत्यादि उपर्युक्त परिवर्तन निःश्वासीय परिवर्तनो से कहीं पहले मिलते हैं।

प्रकृतिस्थ कोष्ठीय श्वास मे निश्वास बहुत कम सुनाई देता है और प्रश्वास का केवल चौथाई होता है। यदि यह प्रश्वास के बराबर या उससे भी अधिक समय तक रहे तो इसको निस्सन्देह एक रोगसूचक चिह्न समझना चाहिए। परन्तु यह आवश्यक नही है कि वह रोग क्षय रोग ही हो। जब यह वक्ष भर मे सुनाई देता है तो यह कास-रोग या वायुध्मान रोग का सूचक होता है, परन्तु जब यह केवल फुफ्फुस-शिखर पर आवद्ध मिलता है तो क्षय-रोग का द्योतक होता है। फुफ्फुस-तन्तु के किसी परिमित भाग मे सूत्र-निर्माण (Sclerosis) होजाने से भी निश्वास दीर्घ हो सकता है जैसा कि निवृत्त क्षयी-विकारों मे होता है। यथार्थ में जब इसमे कुछ श्वासनालिक गुण भी आ जाता है तो यह सूत्र निर्माण का निश्चयात्मक चिह्न होता है।

सक्रिय प्रारम्भिक क्षयी विकारो में शिखर पर स्थानावद्ध दीर्घ निश्वास से यह सूचित होता है कि सूक्ष्म श्वास-प्रणालियों की श्लेष्मकला में प्रदाह होगया है अथवा क्षयी अभिव्यापन से दबकर इनका छिद्र सकीर्ण होगया है। अतएव यह साधारणत प्रश्वासीय परिवर्तनो की अपेक्षा अधिक देर मे मिलता है। दीर्घ निश्वासीय स्वर प्राय कर्कश और रूक्ष होता है और रोग के बढने पर धीरे धीरे श्वासनालिक श्वास का रूप धारण करता जाता है और अन्त मे शुद्ध श्वासनालिक श्वास में परिणत होजाता है। ऊपरी श्वास-शब्दों की अनुपस्थिति मे भी यह मिल सकता है, परन्तु ऐसा विरल होता है।

दीर्घ निश्वास को प्रारम्भिक क्षय का चिह्न मानने मे एक बात और ध्यान मे रखनी चाहिए। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कभी कभी निवृत्त क्षयी विकार का यही एकमात्र चिह्न होता है, परन्तु कभी कभी दाहिने शिखर पर विशेषकर पतले सीनेवाले युवकों में यह पाया जाता है, परन्तु इसका क्षय-रोग से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। संगतराश, बढई, खानक इत्यादि धूलमय व्यवसाय करनेवालों में दाहिने शिखर पर निश्वासीय स्वर प्राय कर्कश, रूक्ष और दीर्घ होजाता है। अतएव जब यह बायें शिखर पर मिलता है, तो इसका महत्व अधिक होता है और दाहिनी ओर मिलने पर कोई महत्व देने से पूर्व रोग के अन्य लक्षणों पर ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए।

प्रखर या कर्कश श्वास (Harsh or sharpened breathing)—श्वास के इस रूप भेद में श्वास की तेजी बढ जाती है। निश्वास प्रश्वासकाल

का तिहाई या आधा होजाता है। बारह वर्ष की आयु तक लडकों और लडकियो में इस प्रकार का श्वास साधारणत पाया जाता है, इसलिए इसको 'बालिश' (Puerile) श्वास भी कहते हैं। व्यापक 'बालिश' श्वास का कोई महत्व नहीं होता। जब फेफडे के एक भाग मे 'बालिश' श्वास हो और दूसरे भाग मे श्वास निर्बल हो तो यह रोग का द्योतक होता है।

स्थानाबद्ध प्रखर श्वासों से साधारणत यह सूचित होता है कि इस भाग मे फेफडे को अधिक कार्य करना पडता है। जब फेफडे के एक भाग मे ठोसपन या सम्पीडन होने के कारण वायुसचालन कम होजाता है तो दूसरे नीरोग भाग मे श्वास-क्रिया बढ जाती है। प्रखर श्वास इसी प्रतिपूरक दशा का द्योतक होता है। इस प्रकार का श्वास कृत्रिम वायु-वक्ष मे बहुधा मिलता है। जब एक फेफडा पिचक जाता है तो दूसरा इसका कार्य ले लेता है। पुरातन क्षय-रोग में अभिव्यापन के निकट भी यह साधारणत पाया जाता है।

श्वासनालिक श्वास के विकार—रोग के बढने पर फेफडे मे बिखरे हुए यक्ष्म बढकर एक दूसरे से मिल जाते हैं और उनके मिल जाने से एक सुपरिगत सघन राशि बन जाती है, जिसके ऊपर सुनने से विशिष्ट श्वास-शब्द सुनाई देने लगते हैं। श्वास का कोष्ठीय गुण क्रमश बदलता जाता है और अन्त मे उच्चस्वर का सुस्पष्ट और प्रश्वास तथा निश्वास दोनों मे फूँक के सदृश होजाता है तथा निश्वास पहले की अपेक्षा दीर्घ होजाता है।

श्वासनालिक श्वास फुप्फुस-तन्तु के ठोस होजाने का चिह्न होता है। कठ और टेटुआ का स्वर ठोस फेफडे मे से ज्यों का त्यों वक्ष के पृष्ठ तक पहुँच जाता है। साहली का तो यह कहना है कि सघन फुप्फुस-तन्तु से गुजरते समय वह कुछ बढ भी जाता है। अस्तु, यह उन स्थानो मे सुनाई देता है जो ठकोरने पर मद मिलते हैं, विशेषकर वक्ष के ऊपरी तिहाई भाग मे, आगे और पीछे। पुरातन राजयक्ष्मा के अवधि-काल में श्वास ऐसे अन्य अनेक उपद्रवों से भी श्वासनालिक होजाता है जिनमे दबाव के कारण वायु-कोष्ठ पिचक जाते हैं, जैसा कि पार्श्वकला के स्राव, वायुवक्ष और वारिवक्ष इत्यादि मे होता है। इन दशाओं में श्वासनालिक श्वास केवल तभी होता है जब वायुकोष्ठों का अथवा अधिक से अधिक सूक्ष्म श्वास प्रणालिकाओ का

सपीडन होजाता है। जब बड़ी श्वास-प्रणालियाँ दबकर पिचक जाती हैं तो श्वास-शब्द बिलकुल सुनाई नहीं देते।

उग्र फुप्फुस क्षय मे श्वासनालिक श्वास का प्रधान कारण रोगाक्रान्त भाग मे किलाटीय अभिव्यापन होता है। फुप्फुस तनु की सघनता जितनी अधिक और विस्तृत होती है, श्वासनालिक श्वास उतना ही कर्कश, तेज और ऊँचे स्वर का होता है। क्षय-रोग मे श्वासनालिक श्वास इतना तेज और ऊँचे स्वर का नहीं होता जितना साधारण फुप्फुस-प्रदाह मे होता है और जब कभी ऐसा होता है तो यह उग्र और प्रगतिशील गभीर रोग का सूचक होता है। इसलिए यह रोग के प्रारम्भ मे, उग्र प्रदाह रूपी क्षय में, पुरातन क्षय मे, रोग के नये दौरों में अर्थात् नये स्थानों के रोगाक्रान्त होने पर और रोग की अन्तिम अवस्था मे घातक फुफ्फुस प्रदाह के होने पर होता है। पुरातन क्षय-रोग मे श्वासनालिक श्वास का स्वर जितना ऊँचा होता है, फुप्फुस-तन्तु उतना ही अधिक सघन समझा जाता है।

यह बात स्मरण रखने योग्य है कि साधारण पुरातन क्षय-रोग में श्वासनालिक श्वास एकदम प्रकट नहीं होता, किन्तु क्रमशः धीरे धीरे होता है। कोष्ठीय श्वास धीरे धीरे श्वासनल-कोष्ठीय और अन्त मे श्वासनालिक श्वास मे परिणत होजाता है।

राध्रिक श्वास—(Cavernous breathing) राध्रिक श्वास श्वासनालिक श्वास का एक बढा हुआ रूप होता है। यह निम्न तथा उच्च दोनों स्वरो का हो सकता है। निम्न स्वर के राध्रिक श्वास से मिलती जुलती आवाज दोनों हाथो को मिलाकर एक प्याले का रूप बनाकर, उसको मुँह के पास लेजाकर एक छोटे से छेद से उसमे फूँकने से उत्पन्न की जा सकती है। ऊँचे स्वर के राध्रिक श्वास की सी आवाज एक नली में फूँकने से उत्पन्न की जा सकती है। जब यह ऊँचे स्वर का होता है तो इसको नालिक श्वास (Tubular breathing) कहते हैं। राध्रिक श्वास में प्रश्वास और निश्वास दोनों समान होते हैं। इसके साथ सन्वैव फुसफुस-वक्ष-मौखर्य (Whispering-pectoriloquy) होता है। श्वासनालिक श्वास की भाँति यह फैला हुआ नहीं होता, प्रत्युत एक स्थान पर परिमित होता है। लाक्षणिकरूप से राध्रिक-श्वास दो दशाओं में मिलता है—

(१) रध्र-निर्माण मे, जो बहुधा क्षय-रोग मे होता है, परन्तु कभी कभी गलाव, विद्रधि और श्वासनल के फूलने से भी हो सकता है।

का तिहाई या आधा होजाता है। बारह वर्ष की आयु तक लड़को और लडकियों मे इस प्रकार का श्वास साधारणत पाया जाता है, इसलिए इसको 'बालिश' (Puerile) श्वास भी कहते हैं। व्यापक 'बालिश' श्वास का कोई महत्व नही होता। जब फेफडे के एक भाग मे 'बालिश' श्वास हो और दूसरे भाग मे श्वास निर्बल हो तो यह रोग का द्योतक होता है।

स्थानाबद्ध प्रखर श्वासो से साधारणत यह सूचित होता है कि इस भाग मे फेफडे को अधिक कार्य करना पडता है। जब फेफडे के एक भाग मे ठोसपन या सम्पीडन होने के कारण वायुसचालन कम होजाता है तो दूसरे नीरोग भाग में श्वास-क्रिया बढ जाती है। प्रखर श्वास इसी प्रतिपूरक दशा का द्योतक होता है। इस प्रकार का श्वास कृत्रिम वायु-वक्ष मे बहुधा मिलता है। जब एक फेफडा पिचक जाता है तो दूसरा इसका कार्य ले लेता है। पुरातन क्षय-रोग में अभिव्यापन के निकट भी यह साधारणत. पाया जाता है।

श्वासनालिक श्वास के विकार—रोग के बढने पर फेफडे मे बिखरे हुए यक्ष्म बढकर एक दूसरे से मिल जाते हैं और उनके मिल जाने से एक सुपरिगत सघन राशि बन जाती है, जिसके ऊपर सुनने से विशिष्ट श्वास-शब्द सुनाई देने लगते हैं। श्वास का कोष्ठीय गुण क्रमश बदलता जाता है और अन्त मे उच्चस्वर का सुस्पष्ट और प्रश्वास तथा निश्वास दोनो मे फूँक के सदृश होजाता है तथा निश्वास पहले की अपेक्षा दीर्घ होजाता है।

श्वासनालिक श्वास फुफ्फुस-ततु के ठोस होजाने का चिह्न होता है। कठ और टेटुआ का स्वर ठोस फेफडे में से ज्यो का त्यों वक्ष के पृष्ठ तक पहुँच जाता है। साहली का तो यह कहना है कि सघन फुफ्फुस-ततु से गुजरते समय वह कुछ बढ भी जाता है। अस्तु, यह उन स्थानों मे सुनाई देता है जो टकोरने पर मद मिलते हैं, विशेषकर वक्ष के ऊपरी तिहाई भाग मे, आगे और पीछे। पुरातन राजयक्ष्मा के अवधि-काल में श्वास ऐसे अन्य अनेक उपद्रवो से भी श्वासनालिक होजाता है जिनमे दबाव के कारण वायु-कोष्ठ पिचक जाते हैं, जैसा कि पार्श्वकला के स्राव, वायुवक्ष और वारिवक्ष इत्यादि मे होता है। इन दशाओ मे श्वासनालिक श्वास केवल तभी होता है जब वायुकोष्ठो का अथवा अधिक से अधिक सूक्ष्म श्वास प्रणालिकाओ का

सपीडन होजाता है। जब बडी श्वास प्रणालियाँ दबकर पिचक जाती हैं श्वास-शब्द बिलकुल सुनाई नही देते।

उग्र फुप्फुस क्षय मे श्वासनालिक श्वास का प्रधान कारण रोगाक्रा भाग मे किलाटीय अभिव्यापन होता है। फुप्फुस ततु की सघनता जित अधिक और विस्तृत होती है, श्वासनालिक श्वास उतना ही कर्कश, तेज ऊँचे स्वर का होता है। क्षय-रोग मे श्वासनालिक श्वास इतना तेज ऊँचे स्वर का नही होता जितना साधारण फुप्फुस-प्रदाह मे होता है और कभी ऐसा होता है तो यह उग्र और प्रगतिशील गभीर रोग का सूचक हो है। इसलिए यह रोग के प्रारम्भ मे, उग्र प्रदाह रूपी क्षय मे, पुरातन क्षय रोग के नये दौरों मे अर्थात नये स्थानो के रोगाक्रान्त होने पर और रोग अन्तिम अवस्था मे घातक फुप्फुस प्रदाह के होने पर होता है। पुरा क्षय-रोग मे श्वासनालिक श्वास का स्वर जितना ऊँचा होता है, फुप्फुस-त उतना ही अधिक सघन समझा जाता है।

यह बात स्मरण रखने योग्य है कि साधारण पुरातन क्षय-रोग श्वासनालिक श्वास एकदम प्रकट नही होता, किन्तु क्रमश धीरे धीरे हो है। कोष्ठीय श्वास धीरे धीरे श्वासनल-कोष्ठीय और अन्त में श्वासनालि श्वास मे परिणत होजाता है।

राध्रिक श्वास—(Cavernous breathing) राध्रिक श्व श्वासनालिक श्वास का एक बढा हुआ रूप होता है। यह निम्न तथा उ दोनो स्वरो का हो सकता है। निम्न स्वर के राध्रिक श्वास से मिलती जुल आवाज दोनो हाथों को मिलाकर एक प्याले का रूप बनाकर, उसको मुँह पास लेजाकर एक छोटे से छेद से उसमे फूँकने से उत्पन्न की जा सकती है ऊँचे स्वर के राध्रिक श्वास की सी आवाज एक नली मे फूँकने से उत्पन्न जा सकती है। जब यह ऊँचे स्वर का होता है तो इसको नालिक श्वा (Tubular breathing) कहते हैं। राध्रिक श्वास मे प्रश्वास और निश्वा दोनो समान होते हैं। इसके साथ सदैव फुसफुस-वक्ष-मौखर्य (Whisperin pectoriloquy) होता है। श्वासनालिक श्वास की भाँति यह फैला हु नहीं होता, प्रत्युत एक स्थान पर परिमित होता है। लाक्षणिकरूप से राध्रि श्वास दो दशाओं में मिलता है—

(१) रन्ध्र निर्माण में, जो बहुधा क्षय-रोग मे होता है, परन्तु क कभी गलाव, विद्रधि और श्वासनल के फूलने से भी हो सकता है।

(२) एक बड़े श्वासनल के चारों ओर सघन ठोसपन में।

कभी कभी यह बताना बड़ा कठिन होता है कि उपरोक्त दोनों दशाओं में से कौनसी राध्रिक-श्वास का कारण है। यदि उसके साथ गहरी मंदता हो अथवा वह रोगी में बहुत थोड़े दिनों में उत्पन्न होगई हो, तो वह ठोसपन की सूचक होती है। रोञ्जन-किरण-परीक्षा में इसका निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है। श्वासनल के फूलने के कारण जो राध्रिक श्वास उत्पन्न होता है, वह साधारणत फेफड़े के निचले भाग में होता है और उसके साथ अधिक मंदता नहीं होती। क्षय-रोगजनित राध्रिक श्वास बहुधा फेफड़े के ऊपरी भाग में होता है और प्राय सबसे पहले अंसप्राचीरक के ऊपर के प्रदेश में मिलता है। इसके साथ साधारणत मंदता बहुत मिलती है।

भृंगारिक या एम्फोरिक श्वास—यह श्वास राध्रिक श्वास के सदृश होता है, परन्तु ऊँचे स्वर का होता है और इसमें घंटी के समान सांगीतिक लय होती है। एक बड़े प्रतिध्वनिकारी रंध्र के समीप श्वासनालिक श्वास के होने से यह उत्पन्न होता है। यह श्वास-शब्द बन्दूक की नाल अथवा बोतल या लम्बी नारवाले मिट्टी के बर्तन के मुँह पर फूँकने से उत्पन्न आवाज के समान होता है। इसीलिए इसको भृंगारिक या एम्फोरिक श्वास कहते हैं। यह रंध्र का निश्चयात्मक चिह्न होता है। इसकी उत्पत्ति की सब आवश्यक दशायें क्षयी-रंध्रों में बहुत कम मिलती हैं। रंध्र की दीवारें चिकनी और तनी हुई होनी चाहिए और उसका किसी बड़े श्वासनल से सम्बंध होना चाहिए। प्राय यह बन्द वायुवक्ष अथवा फेफड़े के बन्द रंध्रों के ऊपर मिलता है। भृंगारिक श्वास के साथ धातु की-सी झंकार, घंटी-शब्द और भृंगारिक गूँज भी मिलती है। यदि पार्श्वकला में तरल हो, तो झकोर-छलक भी मिलती है।

बीच के (मध्य रूपवाले) श्वास-शब्द

श्वासनल कोष्ठीय श्वास (Broncho vesicular breathing)—जब यक्ष्म बिखरे हुए होते हैं और उनसे फुप्फुस-तन्तु ठोस नहीं होता तब श्वासनल कोष्ठीय श्वास सुनाई देता है। यह कोष्ठीय और श्वासनालिक श्वास-शब्दों का सम्मिश्रण होता है जिनमें से प्रथम छोटे छोटे सघन क्षेत्रों से आता है और दूसरा यक्ष्मों के चारों ओर से घिरे हुए अरुग्न फुप्फुस-तन्तु के वायुकोष्ठों से। अत यह स्पष्ट है कि श्वासनाल कोष्ठीय श्वास स्वस्थ

फुफ्फुस-तंतु के बीच बीच में बिखरे हुए यक्ष्मों का होना सूचित करता है साधारणत इससे पूर्व दीर्घ निश्वास होता है जो क्रमश श्वासनल-कोष्ठी श्वास में परिवर्तित होकर अन्त मे श्वासनालिक श्वास मे परिणत होजाता है

भ्रम होने के कारण—श्वासनालिक और श्वासनल-कोष्ठी श्वास स्वयं क्षय-रोग के सूचक नही होते । अनेक रोग-दशाओं के अतिरिक्त जिनमे ये श्वास-शब्द मिलते हैं, कभी कभी ये स्वस्थ वक्षो में भी सुनाई देते हैं। कुछ व्यक्तियो मे श्वासनालिक श्वास वक्ष के ऊपरी भाग में सुनाई देते हैं। अन्तरासफलक और दाहिने ऊर्ध्व प्राचीरक तथा ऊर्ध्वाक्षक स्थानों मे, नीरोग मनुष्यों मे साधारणत श्वानालिक श्वास सुनाई देता है। इसका कारण दोनो फेफडो के शिखरों की बनावट का अन्तर होता है। दाहिने फेफडे मे तीन प्रधान श्वास-नल होते हैं और बायें मे केवल दो। इसके अतिरिक्त श्वास नलो की जो शाखाएँ दाहिने शिखर को जाती हैं, वे चौडी होती हैं और अधिक गहराई तक जाती हैं। इसलिए इस ओर श्वास-शब्दों के पृष्ठ तक पहुँचने मे बाईं ओर की अपेक्षा अधिक सुविधा होती है।

इन स्थानों मे श्वासनालिक श्वास साधारणत पाया जाता है इसलिए रोग-निरूपण में यदि रोग के अन्य लक्षण और चिह्न न हो, तो उस पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। पतले वक्षवाले व्यक्तियो मे इस प्रकार के श्वास-शब्द अधिक पाये जाते हैं और जोर से श्वास लेने से बढ जाते हैं रोग निर्णय में श्वासनालिक श्वास का महत्व उसी समय होता है जब कि वह केवल एक समिति क्षेत्र में पाया जाता है और उसके साथ अन्य रोग चिह्न, विशेषकर उस स्थान को ठकोरने पर मंदता, मिलते हैं।

ऊपरी शब्द—श्रवण विधि का उल्लेख करते समय यह बतलाया गया था कि श्वास शब्दो के रूपान्तरों की जाँच करने के बाद ऊपरी शब्दो पर पृथक् रूप से विचार करना उत्तम होता है। एकही समय दोनों पर विचार करना ठीक नही होता क्योंकि इससे रोग की पहचान तथा साध्यासाध्यता सम्बन्धी बहुत सी महत्वपूर्ण बातों के छूट जाने की सम्भावना होती है।

ऊपरी शब्द क्या है?—स्वस्थ वक्ष में श्वास-शब्दो के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द सुनाई नहीं देते। परन्तु रोग की विभिन्न दशाओं में रोगियों के वक्ष मे अनेक प्रकार के ऊपरी या नैमित्तिक (Adventitious)

शब्द सुनाई देने लगते हैं। इन ऊपरी शब्दों को श्वास-कण (Rales) कहते हैं।

ऊपरी शब्दों के उद्गम-स्थान—वक्ष की परीक्षा मे निम्नलिखित स्थानों और दशाओं मे ऊपरी शब्द उत्पन्न होते पाये जाते हैं.—

(१) वक्ष की दीवार के तन्तुओं (त्वचा, मासपेशियाँ) से।

(२) पार्श्वकला से—उसमें प्रदाह और बधन होजाने पर।

(३) मध्य वक्ष के रोगो में।

(४) फेफडे के वायुकोष्ठों, अन्तर्कोष्ठीय तन्तुओं और वायुमार्गों के रोगो मे।

(५) बडे श्वासनल और टेटुआ के प्रदाही रोगों में।

(६) आमाशय, अन्नप्रणाली, हृदयकोष्ट इत्यादि निकटस्थ स्थानो से शब्दो के आने से।

अतएव ऊपरी शब्दा के दो विभाग किये जा सकते हैं अर्थात्—

(१) असली श्वास-कण अर्थात् फेफडा या पार्श्वकला मे रोग होने से उनमे उत्पन्न होने वाले कण।

(२) नकली श्वास कण। नकली कण निम्नलिखित दशाओं मे उत्पन्न हो सकते हैं।

(क) उरवीक्षक यत्र के ठीक ठीक न लगने से—यदि उरवीक्षक यत्र दृढतापूर्वक समानभाव से वक्ष पर न रक्खा जाय, तो एक अजीब प्रकार के शब्द, जिनसे 'करकर' कणों का भ्रम हो सकता है, सुनाई पड सकते हैं। यदि दो कानवाले उरवीक्षक यत्र की रबड की नलियाँ एक दूसरे से रगड खाने लगें तो तीव्र सघर्षण शब्द उत्पन्न होने लगते हैं। यत्र के वक्ष भाग को दृढता से वक्ष पर रखना चाहिए और रबड की नलियो को एक दूसरे से कभी छूने न देना चाहिए।

(ख) मासपेशियों के शब्द—वक्ष की दीवार की मासपेशियों से भी शब्द उत्पन्न हो सकते हैं। ये तरलयुक्त और कर्कश होते हैं और चतुरस्रा तथा उरच्छादनी पेशियो पर विशेषतया सुनाई देते हैं। ये फेफडे के शब्द नही होते, यह इस बात से सिद्ध होता है कि बाँह को कधे के जोड पर से घुमाने पर ये मिट जाते हैं।

(ग) वक्ष पर बालों से उत्पन्न शब्द—बालों की रगड़ से पार्श्वकला के नवीन प्रदाह के से 'करकर' करण उत्पन्न हो सकते हैं। बालों को साफ करने से अथवा "वैसलीन" या गीला साबुन लगाकर उनको चिपका देने पर वे मिट जाते हैं।

(घ) टूटी पसली से उत्पन्न शब्द—टूटी पसली से पार्श्वकला के प्रदाह के समान सघर्षण शब्द उत्पन्न हो सकते हैं। चोट का हाल मिलने से और वक्ष के उस भाग को दबाने पर पीड़ा होने से उनकी पहचान की जा सकती है।

(ङ) वक्ष पर असफलकों की गति से—वक्ष पर असफलको की हरकत होने से भी शब्द उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसे शब्द स्थूल और कर्कश होते हैं और विशेषत पतले दुबले व्यक्तियों मे सुनाई देते है।

(च) त्वचा के नीचे वक्ष की दीवार के तन्तुओं मे वायुध्मान (वायु भर जाने) से—पसली के टूटने से ऐसा प्राय होजाता है। वायुवक्ष मे भी ऐसा हो सकता है। इन 'करकर' शब्दों का श्वास-क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं होता। श्वास के रोकने पर भी उरवीक्षक यत्र की हरकतों से ये घट-बढ सकते हैं। उरवीक्षक यत्र को दृढतापूर्वक दबाने से वे मिट जाते हैं।

(छ) नाक और कठ मे श्लेष्म से—इससे शब्द तभी उत्पन्न होते हैं जब रोगी नाक से श्वास लेता है। मुँह से श्वास लेने पर वे नहीं सुनाई देते।

(ज) थूक या द्रव पदार्थों के निगलने से—इससे गड़गड़ या छलक शब्द उत्पन्न हो सकते हैं। ये अन्नप्रणाली मे उत्पन्न होते हैं। इसलिये बाये फुफ्फुस शिखर पर और बाये अन्तरासफलक-प्रदेशों मे अधिक सुव्यक्त होते हैं। अनुकाश (Post tussive) करणों की जाँच करते समय उनमे भ्रम होसकता है। खाँसी से थूक के निगलने के कारण करकर या गड़गड़ शब्द सुनाई दे सकते हैं।

(झ) पेट फूलने से—बाए फेफड़े के पाददेश में पेट के फूल जाने से भी कुछ शब्द सुनाई दे सकते हैं।

फेफड़े के रोग से उत्पन्न विभिन्न ऊपरी शब्द

फेफड़ों के रोग मे उत्पन्न होनेवाले ऊपरी शब्द निम्नलिखित छ प्रकार के होते हैं —

(१) 'करकर' कण (Crepitant Rales or Crepitations)--सूक्ष्म और स्थूल ।

(२) मिश्रित चटपट कण (Mixed Sub crepitant Rales)

(३) श्लेष्मिक कण (Mucous Rales) ।

(४) राध्रिक कण (Cavernous Rales) ।

(५) ऊँचे स्वर के प्रखर कास-कण (High Pitched Sibilant Rhonchi) ।

(६) नीचे स्वर के मजुल कास-कण (Low Pitched Sonorous Rhonchi) ।

इनके साथ धातु-झकार (Metallic tinkling) को भी रक्खा जा सकता है, यद्यपि यह कण पार्श्वकला के रोग मे पाया जाता है। वायुवक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी दशा मे यह नहीं मिलता । इसके उत्पादन के लिए चिकनी दीवारवाली बन्द कोठरी चाहिए ।

कणों की जाँच केवल साधारण श्वास में ही नहीं करनी चाहिए, अपितु गहरे श्वास मे और खाँसने के बाद भी करनी चाहिए । ऊपरी शब्द, जब उनके मिलने की सम्भावना होती है, प्राय नही मिलते । इसलिए समय समय पर बार-बार परीक्षा करनी चाहिए ।

क्वणों के वर्णन मे निम्नलिखित बातो पर ध्यान देना चाहिए —

(१) उनका स्थान

(२) उनका रूप-भेद

(३) उनकी संख्या

(४) श्वासक्रिया के किस भाग से उनका सम्बन्ध है ?

(५) गहरे श्वास और खाँसने का उन पर क्या प्रभाव होता है ?

ऊपरी शब्दों के विभिन्न रूप-भेदों का निम्नलिखित महत्व होता है.—

(१) करकर कण—उनके लक्षण और कारण—'करकर' क्वण कान के निकट बालों को मलने से उत्पन्न करकर शब्द के समान होते हैं। उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कोई कोमल तंतु फट रहा है । ये प्रश्वास के अन्तिम तिहाई या आधे भाग में सुनाई देते हैं । खाँसने से ये नही मिटते, बल्कि खाँसी के बाद अधिक सुव्यक्त हो सकते हैं ।

रोग-दशाओं में सूक्ष्म 'करकर' कण निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न हो सकते हैं —

(क) वायुकोष्ठों और सबसे छोटी श्वासनलिकाओं से सटे हुए फुफ्फुस ततु में गाढ़े स्राव से।

(ख) वायुकोष्ठों के उपस्तरण के अपकर्ष से और वायुकोष्ठों में स्राव के कारण कुछ रुकावट होने से।

(ग) गाढ़े श्लेष्म से वायुकोष्ठों की दीवारों के परस्पर चिपक जाने से।

(घ) फुफ्फुस मूल की ग्रन्थियों के बढ़ जाने के कारण रक्तावष्टम्भ होने से। इस दशा में कण स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के तथा निश्वास और प्रश्वास दोनों में हो सकते हैं।

सूक्ष्म करकर ध्वनों का महत्व—सूक्ष्म 'करकर' कण फुफ्फुस-प्रदाह के प्रारम्भिक अवस्था में और राजयक्ष्मा की प्रारम्भिक अवस्था में सबसे अच्छे सुनाई देते हैं। जब क्षय रोग फैलता है तो क्षयी अभिव्यापन की बढ़ती हुई सीमा पर भी ये साधारणत सुनाई देते हैं। जैसे जैसे रोग बढ़ता है, वैसे वैसे कण स्थूलरूप के होते जाते हैं। ये कास-रोग में नहीं सुनाई देते। जब वे क्षय-रोग से उत्पन्न होते हैं तो बहुत स्थायी होते हैं और महीनों या वर्षों तक बने रहते हैं। उनके साथ विषम-कोष्ठीय या श्वासनल-कोष्ठीय श्वास और टकोरने पर कुछ मदता मिलती है। वे इतने लाक्षणिक होते हैं कि यदि वे उन स्थानों मे से, जिनमें क्षय-रोग सबसे अधिक होता है, किसी पर भी मिलें और खाँसने पर बने रहें तो केवल उन्हीं से क्षय-रोग का निश्चय हो सकता है। जिन रोगियों मे क्षय-रोग का सन्देह हो, उनकी परीक्षा करने मे फेफड़े के खंडों की चोटियों पर खाँसने से पहले और बाद को विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि फिर भी सन्देह रहे तो आठ-दस दिन बाद रोगी की फिर परीक्षा करके देखना चाहिए कि कण हैं या नहीं। ऐसा करने से रोग का निर्णय होजाता है।

यदि 'करकर' कणों का फिर भी सन्देह रहे तो प्रात काल खाँसने और कठ साफ करने से पूर्व अथवा दिन में तीन बार ५ से १० ग्रेन तक पोटास आयोडाइड देने के बाद रोगी की परीक्षा करनी चाहिए।

जब उनका कारण क्षय-रोग होता है तो वे रोग के बढ़ने पर चटपट कणों में परिणत होजाते हैं और कोष्ठीय श्वास श्वासनल कोष्ठीय अथवा श्वासनालिक होजाता है।

(१) 'करकर' कण (Crepitant Rales or Crepitations)—सूक्ष्म और स्थूल।

(२) मिश्रित चटपट कण (Mixed Sub crepitant Rales)

(३) श्लेष्मिक कण (Mucous Rales)।

(४) गह्विक कण (Cavernous Rales)।

(५) ऊँचे स्वर के प्रखर कास-कण (High Pitched Sibilant Rhonchi)।

(६) नीचे स्वर के मजुल कास-कण (Low Pitched Sonorous Rhonchi)।

इनके साथ धातु-झकार (Metallic tinkling) को भी रक्खा जा सकता है, यद्यपि यह कण पार्श्वकला के रोग मे पाया जाता है। वायुवक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी दशा मे यह नहीं मिलता। इसके उत्पादन के लिए चिकनी दीवारवाली बन्द कोठरी चाहिए।

कणों की जाँच केवल साधारण श्वास में ही नहीं करनी चाहिए, अपितु गहरे श्वास मे और खाँसने के बाद भी करनी चाहिए। ऊपरी शब्द, जब उनके मिलने की सम्भावना होती है, प्राय नहीं मिलते। इसलिए समय समय पर बार-बार परीक्षा करनी चाहिए।

क्वणों के वर्णन मे निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए —

(१) उनका स्थान

(२) उनका रूप-भेद

(३) उनकी संख्या

(४) श्वासक्रिया के किस भाग से उनका सम्बन्ध है ?

(५) गहरे श्वास और खाँसने का उन पर क्या प्रभाव होता है ?

ऊपरी शब्दों के विभिन्न रूप-भेदों का निम्नलिखित महत्त्व होता है —

(१) करकर कण—उनके लक्षण और कारण—'करकर' क्वण कान के निकट बालो को मलने से उत्पन्न करकर शब्द के समान होते हैं। उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कोई कोमल तंतु फट रहा है। ये प्रश्वास के अन्तिम तिहाई या आधे भाग में सुनाई देते हैं। खाँसने से ये नहीं मिटते, बल्कि खाँसी के बाद अधिक सुव्यक्त हो सकते हैं।

रोग दशाओं मे सूक्ष्म 'करकर' कण निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न हो सकते हैं —

(क) वायुकोष्ठो और सबसे छोटी श्वासनलिकाओ से सटे हुए फुप्फुस ततु में गाढे स्राव से।

(ख) वायुकोष्ठों के उपस्तरण के अपकर्ष से और वायुकोष्ठो में स्राव के कारण कुछ रुकावट होने से।

(ग) गाढे श्लेष्म से वायुकोष्ठो की दीवारों के परस्पर चिपक जाने से।

(घ) फुप्फुस मूल की ग्रन्थियों के बढ जाने के कारण रक्तावष्टम्भ होने से। इस दशा मे कण स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के तथा निश्वास और प्रश्वास दोनों मे हो सकते हैं।

सूक्ष्म करकर कणों का महत्व—सूक्ष्म 'करकर' कण फुप्फुस-प्रदाह के प्रारम्भिक अवस्था मे और राजयक्ष्मा की प्रारम्भिक अवस्था मे सबसे अच्छे सुनाई देते हैं। जब क्षय-रोग फैलता है तो क्षयी अभिव्यापन की बढती हुई सीमा पर भी ये साधारणत सुनाई देते हैं। जैसे जैसे रोग बढता है, वैसे वैसे कण स्थूलरूप के होते जाते हैं। ये कास रोग मे नहीं सुनाई देते। जब वे क्षय-रोग से उत्पन्न होते हैं तो बहुत स्थायी होते हैं और महीनों या वर्षो तक बने रहते हैं। उनके साथ विषम-कोष्ठीय या श्वासनल-कोष्ठीय श्वास और टकोरने पर कुछ मदता मिलती है। वे इतने लाक्षणिक होते हैं कि यदि वे उन स्थानो मे से, जिनमे क्षय-रोग सबसे अधिक होता है, किसी पर भी मिले और खाँसने पर बने रहे तो केवल उन्हीं से क्षय-रोग का निश्चय हो सकता है। जिन रोगियो मे क्षय-रोग का सन्देह हो, उनकी परीक्षा करने मे फेफडे के खडों की चोटियो पर खाँसने से पहले और बाद को विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि फिर भी सन्देह रहे तो आठ-दस दिन बाद रोगी की फिर परीक्षा करके देखना चाहिए कि कण हैं या नहीं। ऐसा करने से रोग का निर्णय होजाता है।

यदि 'करकर' कणो का फिर भी सन्देह रहे तो प्रात काल खाँसने और कठ साफ करने से पूर्व अथवा दिन में तीन बार ५ से १० ग्रेन तक पोटास आयोडाइड देने के बाद रोगी की परीक्षा करनी चाहिए।

जब उनका कारण क्षय-रोग होता है तो वे रोग के बढने पर चटपट कणों मे परिणत होजाते हैं और कोष्ठीय श्वास श्वासनल कोष्ठीय अथवा श्वासनालिक होजाता है।

(२) चटपट या भर्जन कण,—उनके लक्षण—ये करकर कणों से बडे तथा मोटे और विभिन्न परिमाण के चटपट शब्द से होते हैं। गरम तवे पर नमक छिडकने से उनके सदृश शब्द उत्पन्न किये जा सकते हैं।

चटपट कणों का महत्त्व—चटपट कण प्रधानत प्रश्वास-काल मे सुनाई देते हैं। खाँसने के बाद वे सबसे अच्छे सुनाई देते हैं, यह बात स्मरण रखनी चाहिए और यदि उनका सन्देह हो तो निम्नलिखित विधि से काम लेना चाहिए। रोगी से गहरा निश्वास लिवाकर यथासम्भव सब वायु को बाहर निकलवा देना चाहिए और तब बिना प्रश्वास लिए उससे खँसवाकर तुरन्त गहरा श्वास लिवाना चाहिए। ऐसा करने से करकर और चटपट कण प्राय. प्रश्वास मे सुनाई दे जाते हैं। चटपट कणों के साथ साधारणत श्वास-नल कोष्ठीय या श्वासनालिक श्वास होता है। वे फुप्फुस-प्रदाह के पूर्व और उत्तरकाल मे, सूक्ष्म श्वासनलिकाओ के प्रदाह में और लाक्षणिक रूप मे क्षय-रोग में पाये जाते हैं। श्वासनलो की अन्तिम सूक्ष्म शाखाओं में प्रदाह होने से वे उत्पन्न होते हैं। यदि क्षय-रोग मे वे साधारण श्वास मे सुनाई दे तो रोग को प्रारम्भिक दशा से कहीं आगे बढा हुआ समझना चाहिए।

जब उनका कारण फुफुस-प्रदाह होता है, तो वे करकर कणो के बाद मिलते हैं और टकोरने पर उनके साथ मन्दता मिलती है। वे एक फुप्फुस खड मे, प्रधानत निम्न खड मे पाये जाते हैं।

जब वे फुप्फुस शिखर पर स्थानावद्ध होते हैं तो वे निश्चित रूप से क्षय-रोग के द्योतक होते हैं, विशेषकर जब कि उनके साथ विघातन ध्वनि की मदता, गति की कमी और पेशियो की अकडन तथा अन्य रोग लक्षण भी विद्यमान हो। जब क्षय-रोग के कारण होते हैं तो सूक्ष्म करकर कणों की भाँति वे भी महीनो तक रहते हैं। उनकी सख्या मे कमी होना और विस्तार में घटना शुभ लक्षण होता है।

(३) श्लेष्मिक कण—ये विभिन्न परिमाण के विशद गूँजयुक्त गुडगुड या बुदबुद शब्द होते हैं। ये प्रश्वास और निश्वास दोनों मे होते हैं और करकर या चटपट कणों की भाँति झोको मे नही, बल्कि लगातार एक नियमित क्रम से आते रहते हैं। खाँसने से श्लेष्म के निकल जाने पर वे मिट जाते हैं और जब कफ फिर जमा होजाता है तो फिर

सुनाई देने लगते हैं। वे द्रवरूप होते हैं और ऐसा विदित होता है कि किसी तरल मे होकर वायु के आने जाने से उत्पन्न होते है। उनका परिमाण वायु-प्रवाह के परिमाण पर निर्भर होता है। जब वे टेंटुआ मे होते हैं तो आसन्न मृत्यु के सूचक होते हैं। इन्ही को लोग मरणासन्न रोगियों के कंठ मे कफ का घरघराना कहते हैं। जब वे बडे श्वासनलो मे उत्पन्न होते हैं तो स्थूल, नीचे स्वर के होते हैं और प्रधानत पाददेश मे होते है। छोटे श्वासनलो में वे छोटे, कुछ ऊँचे स्वर के और स्थानाबद्ध होते हैं। उनका रूप केवल वायुमार्गो के परिमाण पर ही निर्भर नही होता, बल्कि श्वासनलो में तरल और उनके परिवेष्टक ततुओ की दशा पर भी आश्रित होता है। जब तरल पतला होता है तो वे बुदबुदरूप के और जब गाढा होता है तो तेज, और चिपकीले होते हैं। यदि निकटस्थ ततु सघन होता है तो आवाज तेज, स्पष्ट और ऊँचे स्वर की होती है। यदि फुफ्फुस ततु कोष्ठीय होता है तो वे सुदूर और कुछ अस्पष्ट होते हैं।

श्लैष्मिक कणों का महत्व—जब ये क्षय-रोग से होते हैं तो उनसे यह सूचित होता है कि फुफ्फुस-ततु नष्ट भ्रष्ट होगया है और रोग उग्र तथा प्रगतिशील है। उनकी सख्या जितनी अधिक और वे जितने विस्तृत होते हैं, रोग उतना ही विस्तीर्ण और गम्भीर होता है। श्लेष्म-कण उग्र कास, श्वासनलोत्फुलन, फुफ्फुस शोथ, फुफ्फुस-प्रदाह का शमनकाल, और रक्त-निष्ठीवन, पार्श्वकला तथा विद्रधि से श्वासनलो मे पीप के फटने मे भी मिलते हैं।

रोगी के हाल, विघातन ध्वनि के रूप, श्वास-शब्द के रूप, स्थानाबद्ध अकडन या क्षीणता और रोग-लक्षण तथा एक्सरे परीक्षा से उनके कारण के पता लगाने मे सहायता मिलती है।

(४) रान्ध्रिक या सुरीले कण (Cavernous or Consonating rales) और उनके लक्षण—ये एक प्रकार के श्लेष्म कण होते हैं और अनेक बातों मे उनमे मिलते जुलते हैं। ये पोले, बडे और धातविक प्रतीत होते हैं और निश्वास तथा प्रश्वास दोनों मे मिलते हैं। ये रन्ध्र निर्माण के सूचक होते हैं और उनके साथ रान्ध्रिक श्वास होता है। रन्ध्र मे उनके द्वार से ऊपर तक तरल स्राव भर जाने से और उसमे होकर वायु के आने जाने से वे उत्पन्न हो सकते हैं। रान्ध्रिक कण फेफडे के सम्वृद्ध क्षय रोग,

विद्रधि-निर्माण, श्वासनलोत्फुलन और पूयवक्ष के श्वासनलो में फूटने पर भी मिलते हैं।

धातविक झकार—धातविक झकार मैंडोलिन बाजे की-सी अथवा काच या चीनी के प्याले को आलपीन से ठोकने से उत्पन्न शब्द के सदृश होती है। जब वायुवक्ष में कुछ तरल भी होता है तो यह पाई जाती है। वायुवक्ष की थैली में तरल के पृष्ठ से नीचे अवस्थित किसी छिद्र से वायु के बुलबुलो के ऊपर उठने से भी यह उत्पन्न हो सकती है। उन बडे पृष्ठस्थ रध्रों मे भी, जिनकी दीवारें चिकनी होती हैं, जो तरल से अधभरे होते हैं, और जिनका बडे श्वासनलो से सम्बध होता है, धातविक झकार मिल सकती है। बंद वायुवक्ष मे भी धातविक झकार मिल सकती है और इसका कारण सम्भवत पार्श्वकला के दोनो परतो का एक दूसरे से स्निग्ध श्लेष्म से चिपकना होता है। जब वे इस प्रकार चिपके होते हैं तो गहरा श्वास लेने पर उनके यकायक अलग होते ही झकार शब्द उत्पन्न होता है।

छलक—वायु या पूयवक्ष मे रोगी के हिलने या हिलाने पर छलक भी सुनाई दे सकती है। प्रत्यक्ष श्रवण-परीक्षा से इसका सबसे अच्छा पता लगता है। साधारणत चिकित्सक की अपेक्षा रोगी को स्वय यह अधिक अच्छी सुनाई पडती है और वे ही पहले चिकित्सक को बतलाते हैं। इसके उत्पादन के लिए तीन बाते आवश्यक होती हैं—(१) तरल, (२) वायु, और (३) तनी हुई दीवारवाला रध्र।

कास-कण और उनका कारण—कास-कणो से कभी क्षय-रोग की निश्चित पहचान नही की जा सकती। वे कास-रोग का द्योतक होते हैं। कास-रोग क्षय-रोग का गौणफल हो सकता है और प्राय होता भी है। जब श्वासनल के परिवेष्टक तन्तु मे क्षयी अभिव्यापन होता है तो उनके भीतर भी श्लेष्मकला में प्रदाह होजाता है। जब कास-कणो की सख्या अधिक होती है तो क्षय रोग का पहचानना बडा कठिन होजाता है, क्योंकि उनसे श्वास के परिवर्तन और अन्य ऊपरी शब्द जो अधिक निश्चयवाचक होते हैं, छिप जाते हैं। निम्नलिखित दो में से किसी बात से वायुमार्गो में रुकावट होने से कास-कण उत्पन्न हो सकते हैं—

(क) नष्ट भ्रष्ट तन्तु या श्लेष्म के जमा होने से।

(ख) प्रदाह से श्लेष्मकला मे सूजन होने से।

वे प्रश्वास और निश्वास किसी भी काल मे हो सकते है। वे तीव्रता, परिमाण तथा काल मे विभिन्न प्रकार के होते हैं और उनका नियमित क्रम नही होता।

मंजुल और प्रखर कास-कण और उनका महत्व—जब बडे श्वासनल अभिभूत होते हैं तो कास-कण मंजुल, गम्भीर और नीचे स्वर के होते हैं। जब छोटे श्वासनल अभिभूत होते हैं तो वे प्रखर और ऊँचे स्वर के सीटी के सदृश या सीत्काररूप होते हैं। यदि कास-कणों की संख्या अधिक और अन्य लक्षण तथा रोग चिह्न अनिश्चित हो तो संदेहयुक्त रोगियो मे उनसे क्षय-रोग के होने या न होने का निश्चय करना बड़ा आशंकापूर्ण होता है। पहले इलाज से कास को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए और तब रोग का निर्णय करना चाहिए। जब केवल कास-रोग होता है तो कास कण फेफड़ों के पाददेशों म अन्त तक रहते है ओर देर में मिटते ह। यदि कास के साथ क्षय रोग होता है, तो कास कण फुप्फुस शिखर पर क्षयी प्रक्रिया के आसपास देर तक और सबसे पीछे तक रहते ह। क्षयी प्रक्रिया के आसपास इक्कादुक्का कास-कण प्राय सुनाई देते हैं।

कणों का देर तक रुकना—क्षय रोग मे किसी भी प्रकार के ऊपरी शब्द मिल सकते हैं। रोग-निर्णय मे उनका मूल्य इस बात मे होता है कि वे बहुत दिनो तक रहते हैं, कई बार परीक्षा करने पर लगातार मिलते रहते हैं, परिमित क्षेत्र मे स्थानाबद्ध होते हैं और रोग के प्रारम्भिक अवस्था मे वक्ष के केवल एक पार्श्व मे मिलते हैं। कणो का स्थान बडा महत्वपूर्ण होता है। जब वे पाददेश मे हों तो उनके काफी विस्तृत और अधिक दिनों तक स्थाई होने पर भी उनको तब तक क्षयज नहीं समझना चाहिए जब तक अन्य साक्षी से इस बात का समर्थन न होजाय। इसके विपरीत फुफ्फुस शिखर पर स्थानाबद्ध और टिकाऊ कणो को सदा और तब तक क्षयी समझना चाहिए जब तक यह गलत न सिद्ध हो जाय।

कणों पर खाँसने का प्रभाव—कणो पर खाँसने का क्या प्रभाव होता है, यह भी एक महत्वपूर्ण बात होती है। जो कण पहले सुनाई दें और खाँसने पर मिट जायँ, उनका कोई महत्व नहीं होता। यदि कण खाँसने के बाद सुनाई देने लगे या खाँसने से बढ जायँ, तो वे महत्वपूर्ण होते हैं। जब उनका पता लगाने मे कठिनाई हो, तो रोगी से निश्वास के अन्त में एक

दो बार खँसवाकर और फिर गहरा श्वास लिवाकर वे व्यक्त किये जा सकते हैं। ऐसा करने से प्रश्वास-काल मे कण सुनाई दे सकते हैं। जब क्षय-रोग का सन्देह हो, तो इस विधि से रोगी के वक्षभर की परीक्षा करनी चाहिए और उन स्थानों पर विशेष ध्यान देना चाहिए जहाँ क्षय-रोग प्रारम्भ में सब से अधिक होता है।

क्षय रोग में कणों और श्वास-शब्दों का अनुक्रम—क्षय रोग मे नैमित्तिक शब्दो का लगभग निश्चित क्रम और कुछ श्वास शब्दों से सम्बन्ध होता है।

(१) प्रारम्भ में जब केवल थोड़े यक्ष्मों का निर्माण होता है और उसके बाद कुछ रक्तावष्टम्भ होता है तो प्रश्वास के अन्त मे थोडे से सूक्ष्म करकर कण सुनाई पड सकते हैं। इस समय श्वास केवल कोष्ठीयरूप का होता है।

(२) जैसे जैसे अभिव्यापन और रक्तावष्टम्भ बढते जाते हैं, कण बडे तथा अधिक स्निग्ध होते जाते हैं। अन्त मे लाक्षणिक चटपट कण उत्पन्न होजाते हैं। इस समय श्वासश्वासनल-कोष्ठीयरूप का होजाता है।

(३) जब श्वासनल अभिभूत होजाते हैं तो कास-कण सुनाई देने लगते हैं। पहले पहल जब केवल छोटी छोटी श्वासनलिकाएँ आक्रान्त होती हैं तो वे प्रखर तथा ऊँचे स्वर के होते हैं। बाद को जब बडे श्वासनल अभिभूत होजाते है तो कासकण नीचे स्वर के और मजुल होजाते हैं।

(४) जब फुफुस-तंतु सघन होजाता है, रोगस्थल गलकर श्वासनलो मे फूट जाता है और श्वासनल फूल जाते हैं तथा उनमे व्रण होजाते हैं, तो कण सुरीले होजाते हैं और श्लेष्म कण प्रगत होने लगते हैं। इस दशा मे श्वास शब्द श्वास-नालिकरूप का होता है।

(५) जब रध्रनिर्माण होता है और रध्रों मे स्राव होता है, तो निश्वास और प्रश्वास दोनो मे बुदबुद या गुडगुड राध्रिक क्वण सुनाई देने लगते हैं और श्वास राध्रिक होता है।

(६) यदि पार्श्वकला रोगाक्रान्त हो जाय तो सघर्षण शब्द सुनाई देने लगते हैं। सूक्ष्म करकर कणों से उनकी पहचान करना प्राय बड़ा कठिन होता है।

(७) अन्त मे यदि वायुवक्ष हो जाय और उसके साथ, जैसा साधारणत होता है कुछ स्राव भी हो, तो सुरीले घातविक शब्द सुनाई देने लगते हैं।

साधारण रोगी सभी अवस्थाओं मे से पार नही होता। रोग किसी अवस्था मे रुककर शान्त हो सकता है। जब रोग शान्त होने लगता है तो ऊपरी शब्द विपरीत क्रम से मिटने लगते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अवरुद्ध रोग के रोगियों मे भी प्राय किसी शिखर पर या पादप्रदेश में सूक्ष्म करकर कण शेष रह जाते हैं। ऐसे रोगियो मे उनके महत्त्व का निर्णय रोगी की सम्पूर्ण दशा पर विचार करके और बार बार परीक्षा करके करना चाहिए। ऐसे शेष रहने वाले कण वायुकोष्ठो के पिचकने का फल होते हैं और खाँसने से कुछ काल के लिए मिट जाते हैं अथवा वे सूत्र-निर्माण से उत्पन्न होते है।

ऊपरी शब्दों का साध्यासाध्य विचार सम्बधी महत्व—वक्ष मे कणो की उपस्थिति से साध्यसाध्यता के विषय में क्या सूचना मिलती है, इस सम्बध मे मतभेद है। इलाज से ५ से १० वर्ष बाद तक के १००० रोगियो के ट्रूडो द्वारा सकलित आंकडे बडे रोचक और क्षय-रोग के कार्यकर्त्ताओ के सामान्य अनुभव के प्रतिनिधि रूप हैं। इन १००० रोगियों में से ६३ ८ प्रतिशत इलाज से ५ से १० वर्ष बाद अच्छे थे,२१ ५ प्रति-तश मर चुके थे, और ७३ ८ प्रतिशत जीवित थे परन्तु कार्य करने के योग्य नहीं थे। जिन रोगियों मे अस्पताल से निकलते समय रोग चिह्न कम होगये थे, उनमे से ६९ ९ प्रतिशत अच्छे थे, १५ ८ प्रतिशत मर चुके थे, और १७ ८ प्रतिशत जीवित थे, परन्तु काम करने के योग्य नही थे। जिन रोगियों मे अस्पताल मे निकलते समय रोग चिह्न बढे हुए थे, उनमें मे ५२ प्रतिशत अच्छे थे, ३१ ८ प्रतिशत मर चुके थे और १५ ७ प्रतिशत जीवित थे, परन्तु काम करने के योग्य न थे। जिन रोगियों मे रोग चिह्न स्थिर थे, उनमे मे ७७ ९ प्रतिशत अच्छे थे, १० १ प्रतिशत मर चुके थे, और १० ७ प्रतिशत जीवित पर काम करने योग्य नही थे।

पार्श्वकला के रोगों से उत्पन्न ऊपरी शब्द—जब पार्श्वकला विकार-शून्य होता है तो श्रवण करने पर वक्ष में कोई शब्द सुनाई नहीं देता। जब पार्श्वकला मे रोग होता है तो चार प्रकार के शब्द सुनाई पड सकते हैं—रगडने का सा, खुरचने का सा, करकराहट या मरमराहट सा।

(१) रगड़-शब्द—पार्श्वकला के शब्दों में यह सबसे कोमल होता है और साधारणत पार्श्वकला के प्रदाह के प्रारम्भिक अवस्था में परिमित क्षेत्र में पाया जाता है। यह अनियमित होता है और परीक्षाकाल में ही मिल और मिट सकता है। पार्श्वकला के अन्य शब्दों से भिन्न यह केवल प्रश्वासकाल मे ही मिलता है। क्षय रोगी बहुधा वक्षशूल की शिकायत किया करते हैं। रगड के मिलने से उनके कारण का पता लग जाता है।

(२) खुरच-शब्द— खुरचने के से शब्द से ऐसा विदित होता है कि दो रुक्ष पृष्ठ एक दूसरे से रगड रहे हैं। यह शब्द निश्वास और प्रश्वास दोनों मे सुनाई देता है और निम्नलिखित बातों से उत्पन्न हो सकता है—

(क) पार्श्वकला के उग्र प्रदाह में रगड शब्द के बाद झिल्लियों के अत्यधिक शुष्क या रुक्ष होने से।

(ख) पार्श्वकला के पुरातन प्रदाह से बन्धनों के आसपास।

(ग) वायुध्मान में उभरे हुए और अनियमित पार्श्वकला के भीतरी परत का बाहरी परत पर दबाव हेने स।

(३) करकर-शब्द—यह शब्द नये चमडे से उत्पन्न शब्द के समान होता है। इसके साथ साधारणत श्वास शब्द निर्बल होता है। यह पार्श्वकला के पुरातन प्रदाह का सूचक होता है और राजयक्ष्मा के पुराने रोगियों में प्राय पाया जाता है। पार्श्वकला के दोनों परतो के चिपक जाने से करकराहट उत्पन्न होती है और साधारणत बहुत विस्तृतक्षेत्र मे सुनाई देती है।

(४) खरखराहट—यह एक तीक्ष्ण शब्द होता है जो प्रश्वास मे आदि से अन्त तक सुनाई पड़ता है। अन्य शब्दो से भिन्न इससे वक्ष के स्पर्श करने पर खरखराहट मिलती है। यह बहुधा स्राव के शोषण के बाद पाई जाती है।

पार्श्वकला और फेफडे के ऊपरी शब्दों में प्रभेद—कभी कभी पार्श्वकला के सघर्षण शब्दों की करकर क्रणों से पहचान करना बडा कठिन होता है। प्रभेद का निर्णय करने में निम्न बातो पर भरोसा किया जा सकता है—

(१) कुछ अपवादों को छोड़कर पार्श्वकला के शब्द प्रश्वास और निश्वास दोनों में सुनाई देते हैं। करकर कण केवल प्रश्वास में ही सुनाई देते हैं।

(२) पार्श्वकला के प्रदाह पर खाँसने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फेफड़े के शब्द खाँसने पर तेज हो जाते हैं और बढ जाते हैं या कम होजाते हैं।

(३) उरवीक्षक यन्त्र को दबाने से पार्श्वकला के संघर्षण शब्द अधिक स्पष्ट होजाते हैं, परन्तु फेफड़े के करकर कणों पर कोई असर नहीं होता।

(४) पार्श्वकला के शब्द उरवीक्षक यंत्र के समीप उत्पन्न प्रतीत होते हैं और फेफड़े के शब्द दूर।

(५) पार्श्वकला के शब्द स्पर्श से भी ज्ञात हो सकते हैं, पर करकर कण कभी नहीं होते।

(६) केवल पार्श्वकला के प्रदाह से विघातन-ध्वनि की मदता कभी नहीं उत्पन्न होती। फेफड़े के रोग में जब करकर कण उत्पन्न होते हैं तो टकोरने पर कुछ न कुछ मदता अवश्य मिलती है। एक्सरे से भी इसका पता लग सकता है।

(७) पार्श्वकला के प्रदाह मे बहुधा रोगस्थल पर शूल होता है और फुफ्फुस रोग स्वय पीडारहित होता है।

(८) पार्श्वकला के संघर्षण-शब्द बिना किसी परिवर्तन के महीनों या वर्षों तक बने रह सकते हैं, परन्तु करकर कणों मे ऐसा नहीं होता। वे प्रतिदिन या प्रतिसप्ताह बदलते रहते हैं।

(९) शान्त श्वास की अपेक्षा प्रबल श्वास से संघर्षण शब्द बढ जा सकते हैं, परन्तु करकर कणों में कभी नहीं बढते।

(१०) पार्श्वकला के अकेले प्रदाह मे विष-व्याप्ति के लक्षण नहीं होते। क्षय रोग मे जब संघर्षण-शब्दों से मिलते-जुलते करकर कण होते हैं तो विष-व्याप्ति के लक्षण अवश्य होते हैं।

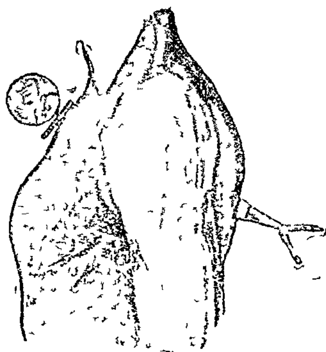
वारि-वायुवक्ष के ऊपरी शब्द—पार्श्वकला की रोग दशाओं में जो अन्य शब्द उत्पन्न होते हैं, वे उसमें वायु और तरल के होने से होते हैं। ये छलक, धातविक झकार और मुद्राशब्द होते हैं।

छलक— यह किसी अधभरे वर्तन को हिलाने से उत्पन्न शब्द के सदृश होती है। तरल जितना पतला होता है, यह उतनी ही सुव्यक्त होती है।

धातविक झंकार—या विन्दुपात शब्द धातु के वजने का-सा शब्द होता है। यह मैंडोलिन बाजे के अथवा काँच या चीनी के प्याले को आलपीन से ठोंकने से उत्पन्न शब्द के सदृश होता है। यह कई भाँति उत्पन्न हो सकता है।

(१) पार्श्वकला की थैली के निम्नभाग मे भरे हुए तरल पर सिकुडे हुए फेफडे के पृष्ठ से बूदों के टपकने से।

(२) पार्श्वकला में एकत्रित तरल के पृष्ठ पर वायु के बुलबुलो के वनकर फूटने से।



चित्र न० ९१—मुद्राशब्द व्यक्त करने की विधि

(३) श्लेष्म के किनारे के पतला पडकर गहरे प्रश्वास में फटने से।

प्रत्येक दशा मे पार्श्वकला की कोठरी उत्पन्न शब्द के अनुनादक का काम करती है।

गार्डनर का मुद्राशब्द—यह वायुवक्ष के कुछ रोगियों में मिलता है। उरवीक्षक यत्र पीठ पर लगाया जाता है और एक दूसरा व्यक्ति सामने एक सिक्के को वक्ष पर रखकर दूसरे सिक्के से ठोंकता है (चित्र न० ९१)।

जब बहुत तना हुआ स्थान होता है तो गूँजता हुआ धातु का सा शब्द उत्पन्न होता है। यह शब्द निहाई पर हथौड़े की चोट से उत्पन्न शब्द के सदृश होता है। जब तक तनाव न हो, यह शब्द सुनाई नहीं देता। इसलिए वायुवक्ष के अनेक रोगियों में यह नहीं मिलता। गालों को फुलाकर और एक गाल पर एक सिक्का रखकर दूसरे सिक्के से ठोकने और दूसरे गाल पर यंत्र रखकर सुनने से इसके सदृश शब्द सुना जा सकता है और तनाव का प्रभाव सिद्ध किया जा सकता है।

बोल की गूँज (Vocal Resonance)

जब मनुष्य किसी शब्द का उच्चारण करता है तो उस समय उसके वक्ष पर उरवीक्षक यंत्र लगाकर सुनने से वह शब्द सुनाई नहीं पड़ता, प्रत्युत उसकी केवल भनभनाहट या गूँज सुनाई देती है। इसको बोल की गूँज कहते हैं। परीक्षा में उच्चारण के लिए साधारणतः 'एक' 'दो', 'तीन', या 'निन्यानवे' शब्द का प्रयोग किया जाता है। रोग में इस 'बोल की गूँज' के रूप और तीव्रता में परिवर्तन होजाता है। श्वास-शब्द और कणों की जाँच के बाद परीक्षक को बोल की गूँज की परीक्षा करनी चाहिए।

बोल की गूँज की तेजी रोगी की आवाज की तेजी और फेफड़े की वाहक दशा पर अवलम्बित होती है। स्वस्थावस्था में भी दोनों पार्श्वों में और फेफड़े के विभिन्न भागों में बोल की गूँज की तीव्रता में कुछ कुछ अन्तर होता है। बायें की अपेक्षा दाहिने पार्श्व में यह अधिक तेज होती है। उरवीक्षक यंत्र बड़े बड़े श्वासनलों के जितना अधिक समीप होता है यह उतनी ही अधिक तेज होती है।

बोल की गूँज का पता लगाने में एक पार्श्व की दूसरे पार्श्व से और एक प्रदेश की दूसरी ओर के अनुरूप प्रदेश से तुलना करनी चाहिए। वायु-कोष्ठीय फुफ्फुस-तंतु शब्द का अच्छा वाहक नहीं होता। इसलिए उच्चारित शब्द की केवल गूँज सुनाई देती है। फुफ्फुस तंतु के अधूरे ठोसपन में, जिसमें श्वास-शब्द श्वासनल कोष्ठीय होजाता है, शब्दवाहन और भी अच्छा होता है, फलतः बोल की गूँज कुछ बढ़ जाती है। फेफड़े के ठोसपन में, जिसमें श्वास-शब्द श्वासनालिक होजाता है, शब्दवाहन और भी अच्छा होता है, बोल की गूँज बढ़ जाती है और शब्द कुछ स्पष्ट से प्रतीत होने लगते हैं। इस

दशा को श्वासनल-वाक्-ध्वनि (Bronchophony) कहते हैं। जब फेफड़े मे विस्तृत सघनता या रध्र होते हैं और उनसे श्वासनल तथा वक्ष की दीवार में सम्बन्ध स्थापित होजाता है तो रोगी के उच्चारित शब्द स्पष्ट सुनाई देने लगते हैं। इस दशा को वक्ष-मौखर्य (Pectoriloquy) कहते हैं। रोग मे बोल की गूँज की तेजी सघनता या रध्रनिर्माण के अनुसार होती है।

जब पार्श्वकला में अर्थात् फेफड़ों और वक्ष की दीवार के बीच में स्राव होता है तो बोल की गूँज बहुत कम होजाती है अथवा बिलकुल मारी जाती है। पार्श्वकला के मोटेपन मे और वायुध्मान मे बोल की गूँज कम होजाती है।

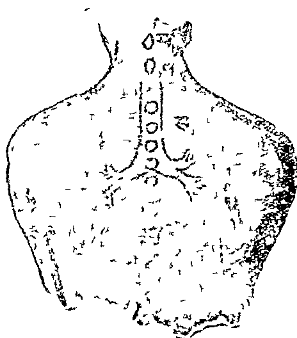
बोल की गूँज के रूप के परिवर्तन

कुछ दशाओं मे बोल की गूँज के रूप मे परिवर्तन होजाता है। इसका एक उदाहरण वक्ष मौखर्य ऊपर दिया जा चुका है। वायुवक्ष में भी बोल की गूँज के रूप मे अवेक्षणीय परिवर्तन होजाता है। बोले हुए शब्दों में एक विशेष प्रकार का अनुनाद, जिसको भृङ्गारिक अनुनाद या गूँज (Amphoric resonance) कहते हैं, आ जाता है। पार्श्वकला के प्रदाह के कुछ रोगियों मे बोल की गूँज के रूप मे कुछ परिवर्तन होजाता है। जब स्राव की मात्रा इतनी कम होती है कि फेफड़ा और वक्ष की दीवार के बीच मे स्राव की केवल पतली तह होती है तो बोले हुए शब्दों में कुछ मिमियाहट या अनुनासिकता आ जाती है। भेडों की मिमियाहट के सदृशहोने के कारण इसको रेभण-ध्वनि (Aegophony) कहते हैं। यह रेभणध्वनि पीठ या असफलक के निम्न कोण के निकट अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है।

फुसफुस वक्ष-मौखर्य—(Whispering Pectoriloquy) बोल की गूँज की परीक्षा मे रोगी से मामूली आवाज मे शब्दोच्चारण कराया जाता है, परन्तु फुसफुस वक्ष-मौखर्य की जाँच के लिए रोगी से बहुत धीरे धीरे कानाफूसी के समान आवाज से बोलवाया जाता है। इस प्रकार का शब्दोचारण निश्वास-काल मे करवाया जाता है। जब श्वास-शब्द कोष्ठीय या श्वासनल कोष्ठीय रूप का होता है अर्थात निश्वास प्रश्वास से छोटा होता है तो रोगी की फुसफुसाहट बिलकुल नही सुनाई देती, परन्तु जब

निश्वास प्रश्वास के बराबर होता है तो रोगी की फुसफुसाहट सुनाई देने लगती है। रान्ध्रिक, नालीय और भृ गारिक श्वास मे जब कि निश्वास प्रश्वास की भाँति पोला होजाता है, फुसफुसाहट भलीप्रकार सुनाई देती है। फुसफुस शब्द उरवीक्षक यत्र के वक्ष भाग पर उत्पन्न प्रतीत होते हैं। इस दशा को फुसफुस वक्ष-मोखर्य कहते हैं।

बोल की गूँज और बोल की खरखराहट की तुलना—बोल की गूँज की केवल श्वास के रूप से ही घनिष्ठता नही होती, बल्कि बोल की खरखराहट से भी सम्बन्ध होता है। जिन कारणो से बोल की गूँज बढती है, उनमे बोल की खराहट भी बढती है। बोल की गूँज ऊँचे स्वरवाले व्यक्तियो मे और बोल की खरखराहट नीचे स्वरवाले व्यक्तियो में अधिक सुव्यक्त होती है। इसलिए बोल की गूज स्त्रियों में और बोल की खरखराहट पुरुषों मे अधिक स्पष्ट होती है।



चित्र नं० १२— ईस्पिन का रोग चिह्न

बोल की गूँज तथा खरखराहट का अभाव या कमी वायुध्मान, श्वासनलों में रुकावट, पार्श्वकला के मोटापन, वायुवक्ष और पूयवक्ष मे होती है।

डैस्पिन का रोग-चिह्न—ऊपरी वक्ष कशेरुकटकों के ऊपर बोल की गूँज की जाँच करना बड़ा मूल्यवान होता है, विशेषकर बच्चों की परीक्षा में। नीरोगावस्था में फुस्फुस वक्ष-मौखर्य साधारणत सातवें ग्रीवा कशेरुकटक में ऊपर मिलता है। जब टेटुआ की लसिका ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं तो यह चौथे या पाँचवे वक्ष कशेरुकंटक तक सुनाई देने लगता है। डैस्पिन ने सबसे पहले इसका पता लगाया था। इसलिए इसको डैस्पिन का रोग-चिह्न कहते हैं (चित्र न० ९२)।

खाँसी की श्रवण-परीक्षा—स्वस्थ फेफड़े पर खाँसी एक तीव्र विच्छिन्न आवाज सी सुनाई देती है। इसमें नालीय लक्षण नहीं होता। रोग में इसके रूप में परिवर्तन होजाता है। फेफड़े की सघनता में यह कर्कश और अधिक तीव्र होजाती है। जब फेफड़े में रन्ध्र होता है तो खाँसी पोली और धातविक होजाती है। जब रन्ध्र होता है तो खाँसने के बाद रन्ध्र में वायु के खिंचने से सीत्कार सा शब्द होता है। इसको अनुकाश कर्षण (Post Tussive Suction) कहते हैं। खुले वायुवक्ष में, जब कि उसका श्वासनलो से अबाध सम्बध होता है, तो खाँसी का शब्द तेज और गूँजयुक्त सुनाई देता है।

खाँसी से उत्पन्न शब्द के अतिरिक्त तीन बाते और हो सकती हैं—(१) श्वास-शब्द यदि पहले अस्पष्ट हो तो खाँसी से अस्पष्ट हो सकता है, (२) ऊपरी शब्द जो पहले सुनाई देते हैं, खाँसी से विलीन हो सकते हैं और (३) खाँसी से कण उत्पन्न हो सकते हैं। खाँसने से जो कण उत्पन्न होते हैं, वे साधारत रोग के द्योतक होते हैं।

फेफड़े के क्षय-रोग में हृदय के शब्द

फेफड़े के क्षय-रोग मे हृदय के शब्दो के वादन मे भी कभी कभी अन्तर होजाता है। इसलिए प्रत्येक क्षय-रोगी के वक्ष की परीक्षा करते समय हृदय की भी परीक्षा कर लेनी चाहिए।

बाईसवाँ परिच्छेद

रोञ्जन किरण-परीक्षा

रोञ्जन किरण-परीक्षा का मूल्य—रोञ्जन किरणों से परिचित होने पर लोग आशा करने लगे कि अब वक्ष के अवयवों की दशा का और फेफड़ों, श्वासनलों तथा पार्श्वकला के विकारों का पता लगाने का एक सर्वोत्कृष्ट साधन मिल गया है, परन्तु कई वर्षों के अनुभव के बाद यह विदित हुआ कि क्षय-रोग में अन्य परीक्षा विधियों की भाँति रोञ्जन किरण-परीक्षा में भी अनेक कमियाँ होती हैं। फेफड़ों के रोगों की, विशेषकर क्षय-रोग की पहचान में रोञ्जन किरणों के मूल्य के विषय में बहुत कुछ वाद-विवाद हो चुका है और भिन्न-भिन्न विशेषज्ञों ने परस्पर विरोधी मत प्रकट किये हैं। उदाहरणार्थ, बोनी ने लिखा है कि क्षय-रोग की पहिचान में रोञ्जन किरणों से बहुत कम सहायता मिलती है। पाविल और हार्टले ने लिखा है कि जिन रोगियों में लक्षणों और रोग-चिह्नों से फेफड़ों का प्रारम्भिक विकार सूचित होता था, उनमें से अधिकांश में उनको रोञ्जन किरणों से कोई सहायता नहीं मिली। ओस्लर ने लिखा है कि सावधानी से वक्ष को परीक्षा करने पर जितनी सूचना मिलती है, रोञ्जन किरणों से उससे अधिक सूचना नहीं मिलती। किड का कहना है कि रोग के सम्बन्ध में रोञ्जन किरणों से उतनी ही शीघ्र और उतनी ही विश्वस्त सूचना मिलती है, जितनी कि पुरानी परीक्षा-विधियों से, इसमें बड़ा सदेह है। रोञ्जन किरणों के मूल्य के सम्बन्ध में जितने मत प्रकाशित हुए हैं, उन सब में बोस्टन नगर के डाक्टर विलियम्स का मत सबसे अधिक ठीक प्रतीत होता है। उनका कहना है कि रोञ्जन किरणों से केवल रोग के विस्तार का ही पता नहीं लगता, बल्कि

अन्य परीक्षा-विधियों से जब कि रोग के स्थान का कोई पता नहीं लगता, रोञ्जन परीक्षा से लग जाता है। क्षय-रोग के कार्यकर्ताओं को यह भलीभाँति विदित होगया है कि रोञ्जन किरण-परीक्षा वक्ष के अन्दर की दशाओं का पता लगाने के लिए उतनी ही अपरिहार्य है जितनी कफ की अनुवीक्षण यंत्र द्वारा परीक्षा करना। जब क्षय-रोग होता है तो कुशल परीक्षक को रोञ्जन चित्र (Radiogram) से इस बात का विशद पता चल जाता है कि क्या खराबी हो चुकी है, क्या हो रही है और क्या सम्भवतः होनेवाली है।

कुछ ऐसे रोगी देखने मे आते हैं जिनके वक्ष की परीक्षा करने पर रोग के निश्चित चिह्न नहीं मिलते, परन्तु अरुचि, आलस्य, वजन की कमी श्वास-कष्ट इत्यादि लक्षणों से रोग का सन्देह होता है। ऐसे रोगियों मे रोञ्जन किरण परीक्षा से चित्र मे प्राय अवरुद्ध रोग-रन्ध्रों की छायाये मिल जाती हैं। ऐसे रोगियो को यदि क्षय रोगी मानकर इलाज किया जाय तो सम्भव है कि अवरुद्ध रोग पुन जाग्रत न हो सके। जब तक रोग-चिह्न स्पष्ट न होजाय तब तक रोग को छोड रखने की अपेक्षा यदि उसी समय इलाज आरम्भ कर दिया जाय तो लाभ अधिक शीघ्र, अधिक स्थायी और अल्प व्यय मे हो सकता है।

रोञ्जन किरण और प्रारम्भिक क्षय की पहिचान

यह सच है कि रोञ्जन किरणों से क्षय-रोग के पूर्वतम विकारों का पता नहीं लग सकता। विकारों का पता लगने से पूर्व क्षयी अभिव्यापन इतनी मात्रा मे होना चाहिए कि चित्रपट पर उसकी छाया पड सके। परन्तु अन्य कोई परीक्षा विधि भी तो ऐसी नही है जिससे प्रारम्भ में इतनी शीघ्र रोग की निश्चितरूप से पहचान की जा सके। इस अवस्था मे रोग-चिह्न बहुत कम और बडे अनिश्चित होते हैं। जैसा विलियम्स ने बताया है, प्रारम्भिक क्षय के तीन प्रकार के रोगी होते हैं —

(१) वे, जिनमे निरीक्षण, विघातन और श्रवण-विधियों से पूर्व एक्सरे परीक्षाद्वारा रोग का पता लग जाता है।

(२) वे, जिनमे एक्सरे से और अन्य परीक्षाओं से साथ साथ रोग का पता लगता है।

(३) वे जिनमे उपरोक्त परीक्षाओं से रोग-चिह्न मिलते हैं परन्तु

एक्सरे परीक्षा से कोई विकार नहीं मिलता। इस अन्तिम श्रेणी के रोगी उतनी ही संख्या मे पाये जाते हैं जितने कि प्रथम श्रेणी के।

जब क्षय रोग भली-भाँति स्थापित होजाता है तो उसके विस्तार को दिखलाने में और पार्श्वकला मे थैलीबद्ध (Encysted) स्राव अथवा स्थानाबद्ध वायुवक्ष (Localized Pneumothorax) का पता लगाने में रोञ्जन किरणों की उपयोगिता के सम्बध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। उचित रीति से प्रयोग करने पर वक्ष के अन्दर के अनेक विकारों का, जिनका पहले पता नही चलता था, पता लगाने मे रोञ्जन किरणो से बडी सहायता मिलती है। फेफडे मे गहराई पर अवस्थित विकारों, पार्श्वकला में बंधनों, श्वासनलों की बढी हुई लसिका ग्रन्थियो, स्थानाबद्ध तथा फुफ्फुस-खडों के अन्तर्वर्ती स्रावों, फेफड़े के छोटे छोटे रध्रों, वक्षोदर मध्यस्थ पेशी की गति और फेफडे मे विद्रधि तथा प्रणाश इत्यादि का रोञ्जन किरणो से विशेष रूप से पता लगता है।

पारम्भिक क्षय के साधारण रोगी में फेफडे की दशा तथा रोगस्थान के विकारो का पता श्रवण और विघातन परीक्षाओं से आसानी से लग जाता है। श्रवण-परीक्षा से रोग की तेजी के सम्बध मे महत्वपूर्ण सूचना मिलती है। परन्तु रोञ्जन किरणो से परीक्षा पूर्ण होजाती है और प्राय गहराई पर स्थित विकारों का पता लग जाता है, जिनका अन्यथा पता नही चलता। जब क्षय-रोग के साथ साथ उपद्रव रूप पुरातन कास तथा वायुध्मान रोग होता है, जिससे रोग चिह्न छिप जाते हैं, तब एक्सरे परीक्षा रोग के पता लगाने का अद्वितीय साधन होती है। इसके अतिरिक्त कृत्रिम वायुवक्ष का इलाज, जिसका हाल में बडी सफलतापूर्वक व्यवहार किया जारहा है, यदि रोञ्जन-किरणे उपलब्ध न होती, इतना सर्वमान्य कभी न हो पाता।

रोञ्जन किरण परीक्षा को अन्य परीक्षा-विधियों का स्थान कभी न देना चाहिए। उनको स्थान लेने के बजाय केवल उनके समर्थन के लिए रोञ्जन-किरणो का प्रयोग करना चाहिए। जब तक एक्सरे परीक्षा न कर ली जाय तब तक वक्ष की परीक्षा कदापि पूर्ण परीक्षा नहीं कही जा सकती।

सारांश—संक्षेप मे एक्सरे परीक्षा के चार मुख्य उद्देश्य कहे जा सकते हैं —

(१) अन्य परीक्षा-विधियो से ज्ञात बातो की तसदीक करना—वक्ष की दीवार की बनावट और गति, हृदय की स्थिति, आकार तथा परिमाण, फेफडो की दशा तथा फुफ्फुस-मूलो के अवयवो की दशा और वक्षोऽदर मध्यस्थ-पेशी की ऊँचाई, आकृति तथा गति-परिमाण इत्यादि के सम्बध मे अन्य परीक्षाओंद्वारा ज्ञात बातो का समर्थन करना।

(२) अन्य-परीक्षा विधियो की परिपूर्ति करना—वक्ष के अन्दर के अवयवो की, विशेषकर फुफ्फुस मूल पर और गहराई पर अवस्थित ततुओ के सम्बध मे अधिक पूर्णता के साथ जाँच करना। जब पुरातन कास और वायुध्मान के कारण क्षय-रोग के रोग चिह्न आच्छादित होजाते हैं तो उनका पता लगाने के लिए रोञ्जन किरणे बडी उपयोगी होती हैं।

(३) कुछ अस्पष्ट दशाओ की पहचान करना—एक्सरे परीक्षा से पार्श्वकला के स्राव का तुरन्त और निश्चित रूप से पता लग जाता है। जब टकोरने पर मध्य वक्ष मे गूँज की मदता मिलती है तो उसका कारण स्थानिक प्रदाह है या रक्तकोप अथवा कोई नवोत्पत्ति अर्थात रसौली, इसका पता एक्सरे परीक्षा से निश्चित रूप से लग जाता है।

(४) रोग की प्रगति का स्थायी लेखा रखना—समय समय पर एक्सरे परीक्षा करने से रोगी के हृदय और फेफडे की दशा का पता चलता रहता है और यह ज्ञात होता रहता है कि रोगी कैसी प्रगति कर रहा है।

एक्सरे परीक्षा का यन्त्र और विधि—एक्सरे परीक्षा के यत्र का वर्णन इस ग्रन्थ की आलोचना का विषय नही है। जो इस सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों उनको तत्सम्बन्धी विशेष ग्रन्थो को देखना चाहिए।

एक्सरे परीक्षा की दो विधियाँ होती हैं—एक्सरे छाया निरीक्षण (Radioscopy) और एक्सरे छाया चित्रण (Radiography)

एक्सरे छाया-निरीक्षण—एक्सरे परीक्षा एक बिलकुल अंधेरे कमरे मे की जाती है। छाया-निरीक्षण परीक्षा में रोगी को एक तिपाई पर बैठाकर उसके सामने एक पर्दा लगा दिया जाता है और रोगी के पीछे से उसके शरीर से रोञ्जन किरणे इस प्रकार प्रेषित की जाती हैं कि उसके वक्ष की छाया उस पर्दे पर पडती है। परीक्षक पर्दे के सामने बैठकर उस छाया चित्र का निरीक्षण करता है।

छाया-चित्रण विधि— इस परीक्षा मे रोगी को बैठाकर एक्सरे प्रेषित करके उसके वक्ष का छाया-चित्र उतारते हैं और फिर साधारण छाया चित्रों की भॉंति तैयारकर उसका निरीक्षण करते हैं।

छाया-निरीक्षण के लाभ—छाया-निरीक्षण परीक्षा के निम्नलिखित लाभ होते हैं—

(१) यह परीक्षा शीघ्र और सुगमता से कम व्यय मे होजाती है।

(२) इस परीक्षा मे वक्ष के विभिन्न अवयवों का निरीक्षण गति की दशा मे किया जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि जो भाग धुँधले प्रतीत होते हैं, उन पर गहरे श्वास का और खाँसने का क्या प्रभाव होता है। रोग की दशा मे जो दो बाते बहुत साधारणत पाई जाती हैं, वे ये हैं—

(अ) रोग की ओर वक्षोऽदर मध्यस्थपेशी और पसलियो की गति की कमी।

(आ) रोग की ओर धुँधलापन जो खाँसने पर अथवा गहरा श्वास लेने पर दूर नही होता।

(३) परीक्षाकाल मे रोगी की स्थिति अदल-बदलकर उसकी हर ओर से परीक्षा की जा सकती है।

(४) यदि पार्श्वकला के गर्त मे तरलस्राव का सन्देह हो, तो रोगी को हिलाकर उसको गति की अवस्था मे देखा जा सकता है। यदि वहाँ तरल और वायु दोनों ही हों तो रोगी के शरीर को हिलाने से तरल की सतह पर लहरे उठती हुई दिखाई पडती हैं।

क्षय रोग के प्रारम्भ में रोञ्जन छायाचित्र की अपेक्षा छाया निरीक्षण प्राय अधिक उपयोगी होता है। कभी कभी प्रारम्भिक विकार छायाचित्र मे नहीं आता। परन्तु रोगी का छाया-निरीक्षण करने पर प्रकाश की कमी, फुप्फुस शिखर अथवा रोग के किसी अन्य स्थान पर गति की कमी और वक्षोऽदर मध्यस्थ पेशी के परिवर्तनो से न केवल रोग की उपस्थिति का ही पता लगता है, अपितु उसके स्थान का भी पता लग जाता है।

छाया-निरीक्षण-विधि में कमियाँ—इस विधि में निम्नलिखित कमियाँ होती हैं—

(१) इस विधि से इतना सविस्तर विवरण ज्ञात नही होता जितना छायाचित्रण विधि से होता है।

(२) इसका स्थायी लेखा नहीं रह सकता।

(३) एक्सरे के अधिक देर तक प्रयोग करने से परीक्षक या रोगी को त्वचाप्रदाह की सम्भावना होती है।

(४) बच्चों मे जाननेयोग्य बाते कम ज्ञात होती हैं।

छायाचित्रण के लाभ—छायाचित्रण विधि के निम्नलिखित लाभ होते हैं—

(१) मनुष्य की आँखों की अपेक्षा छायाचित्र के प्लेट अधिक चेतनाशील होते हैं, इसलिए उनसे अधिक विस्तृत विवरण ज्ञात होते है और प्राय ऐसे रोग-केन्द्र का पता चल जाता है जिसका छाया-निरीक्षण से सन्देह तक नही होता।

(२) इसका स्थायी लेखा रहता है जिसको सुभीते से देखा जा सकता है, अन्य लोगो को दिखाया जा सकता है और जिसकी इसी प्रकार के अन्य लेखो से तुलना भी की जा सकती है।

(३) यह निरीक्षक के व्यक्तित्व के प्रभाव से मुक्त होता है, इसलिए अधिक ठीक और विश्वस्त होता है।

छायाचित्रण में कमियाँ—छायाचित्रण की विधि मे निम्न-लिखित कमियाँ होती हैं—

(१) इसमें अधिक समय और व्यय लगता है।

(२) रुग्न भाग को विभिन्न मात्राओ के प्रकाशो मे नही देखा जा सकता और न उसका गति की अवस्था मे निरीक्षण किया जा सकता है।

छाया-निरीक्षण और छाया चित्रण दोनो में से कोई भी विधि स्वय पूर्ण नही होती। पूर्ण परीक्षा के लिए रोगी का छायाचित्रण और छाया-निरीक्षण दोनों ही होना चाहिए। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि छाया-निरीक्षण से इन्द्रियों के कार्यसम्बन्धी परिवर्तनो के सम्बन्ध मे अधिक सूचना मिलती है और छायाचित्रों से इन्द्रियों की बनावट सम्बन्धी विकारो का अधिक पता लगता है। चूँकि इन्द्रियों मे कार्य्यसम्बन्धी विकार बनावट सम्बन्धी विकारों से प्राय पहले होते हैं, इसलिए छाया-निरीक्षण से छायाचित्रण की अपेक्षा कुछ पहले रोग का पता चल जाता है।

स्वस्थ फेफडे का छायाचित्र—फेफडे के विकारो के रोञ्जन चित्रो का अध्ययन करने से पूर्व परीक्षक को स्वस्थ फेफडे के एक्सरे चित्र से भली-भॉति परिचित होना आवश्यक है। वक्ष के रोञ्जन चित्र का अध्ययन विधि-पूर्वक करना चाहिए। केवल ऐसा करने से ही यह निश्चय हो सकता है कि कोई बात छूट तो नही गई।

स्वस्थ वक्ष के रोञ्जन चित्र मे निम्नलिखित बाते देखने योग्य होती हैं —

(१) दोनो अक्षिकास्थियो के वाक्षिक सिरे रीढ से समान दूरी पर होते है। इससे सूचित होता है कि नली ठीक बीच मे लगाई गई है।

(२) पसलियों के किनारे सुस्पष्ट होते हैं। इससे विदित होता है कि रोगी हिला नही है।

(३) टेटुआ और दोनों श्वास सुगमता से दिखाई पडते हैं।

(४) फुफ्फुस शिखर से वक्षोऽदर-मध्यस्थ पेशी तक आठ पसलियाँ गिनी जा सकती हैं। इससे विदित होता है कि मध्य किरण का समतल ठीक है, न ऊँचा है और न नीचा।

(५) वक्षोऽदर-मध्यस्थ पेशी का गुम्बद सुस्पष्ट अङ्कित होता है।

(६) पृष्ठ-वश की कशेरुकाएं अलग अलग नही दिखाई देतीं।

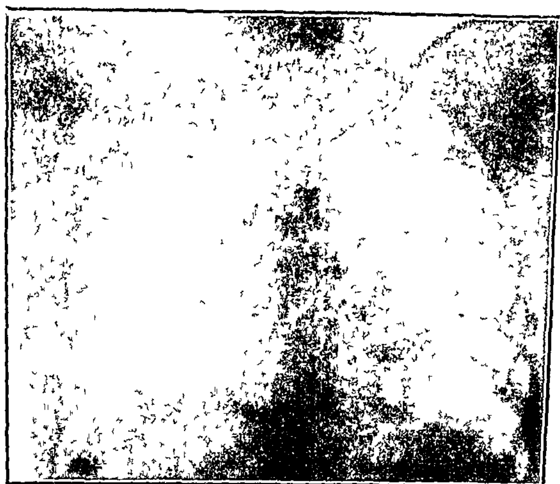
स्वस्थ वक्ष का एक अच्छा रोञ्जन चित्र चित्र न० ९३ मे दिखलाया गया है।

रोञ्जन चित्र की परीक्षा तथा उसके वर्णन का क्रम

रोञ्जन चित्र की परीक्षा के सम्बन्ध मे क्रमानुसार निम्नलिखित छ बातो पर ध्यान देना चाहिए —

(१) वक्ष के अस्थिपञ्जर की व्यापक बनावट—स्वस्थावस्था में, जैसा कि चित्र न० ९३ से विदित होता है, वक्ष का अस्थि-पञ्जर पूर्णतया यथाप्रमाण और दोनो ओर समान होता है। दोनो ओर की प्रत्येक पसली और अन्तर्पार्श्विक स्थल स्थिति और परिमाण में एक दूसरे के बिलकुल अनुरूप और समान होते हैं। वक्ष की कोठरी एक गुम्बद के समान प्रतीत होती है। श्वास में दोनों ओर की पसलियो की गति समान और यथा प्रमाण होती है।

दाहिना बायाँ



चित्र नं० ६३—स्वस्थ फेफड़े का रोंजनचित्र

नोट—(१) पसलियों की बनावट, दोनों ओर एक सी और सुडौल। (२) हृदय की छाया, उसकी दाहिनी सीमा वक्षोऽस्थि से कुछ परे तक और बाईं सीमा मध्या रेखा से कुछ परे तक जाती है। बाईं ओर तीन गोल उभार और दाहिनी ओर दो गोल उभार हैं। (३) मध्य वक्ष, यह वक्षोऽस्थि से थोड़ा ज्यादा चौड़ा है। महाधमनी की महराब बाईं ओर स्पष्ट दिखाई देती है। (४) फेफड़े, शिखर स्वच्छ है। मूल की छाया प्रमुख नहीं है और उनके बाहर फुप्फुस क्षेत्र में कोई धब्बा नहीं है। पाददेश भी स्वच्छ है। (५) वक्षोदरमध्यस्थ पेशी बाईं ओर की अपेक्षा दाहिनी ओर कुछ ऊँची है। चार कोण हैं—उपपर्शुका और वक्षोदर-मध्यस्थ पेशी के बीच के दाहिने और बायें कोण, हृदय की दाहिनी ओर हृदय और यकृत् के बीच का कोण और बाईं ओर हृदय और आमाशय के बीच का कोण।

(पृष्ठ ३६७)

(From Crocket's Physical and Radiological examination of lungs, by permission)

स्वस्थ फेफड़े का छायाचित्र—फेफड़े के विकारों के रोञ्जन चित्रों का अध्ययन करने से पूर्व परीक्षक को स्वस्थ फेफड़े के एक्सरे चित्र से भली-भाँति परिचित होना आवश्यक है। वक्ष के रोञ्जन चित्र का अध्ययन विधि-पूर्वक करना चाहिए। केवल ऐसा करने से ही यह निश्चय हो सकता है कि कोई बात छूट तो नहीं गई।

स्वस्थ वक्ष के रोञ्जन चित्र में निम्नलिखित बातें देखने योग्य होती हैं—

(१) दोनों अक्षिकास्थियों के वाक्षिक सिरे रीढ से समान दूरी पर होते हैं। इससे सूचित होता है कि नली ठीक बीच में लगाई गई है।

(२) पसलियों के किनारे सुस्पष्ट होते हैं। इससे विदित होता है कि रोगी हिला नहीं है।

(३) टेटुआ और दोनों श्वास सुगमता से दिखाई पड़ते हैं।

(४) फुप्फुस शिखर से वक्षोऽदर-मध्यस्थ पेशी तक आठ पसलियाँ गिनी जा सकती हैं। इससे विदित होता है कि मध्य किरण का समतल ठीक है, न ऊँचा है और न नीचा।

(५) वक्षोऽदर-मध्यस्थ पेशी का गुम्बद सुस्पष्ट अङ्कित होता है।

(६) पृष्ठ-वंश की कशेरुकाएं अलग अलग नहीं दिखाई देतीं।

स्वस्थ वक्ष का एक अच्छा रोञ्जन चित्र चित्र न० ९३ में दिखलाया गया है।

रोञ्जन चित्र की परीक्षा तथा उसके वर्णन का क्रम

रोञ्जन चित्र की परीक्षा के सम्बन्ध में क्रमानुसार निम्नलिखित छः बातों पर ध्यान देना चाहिए—

(१) वक्ष के अस्थिपञ्जर की व्यापक बनावट—स्वस्थावस्था में, जैसा कि चित्र न० ९३ से विदित होता है, वक्ष का अस्थि-पञ्जर पूर्णतया यथाप्रमाण और दोनों ओर समान होता है। दोनों ओर की प्रत्येक पसली और अन्तर्पार्श्विक स्थल स्थिति और परिमाण में एक दूसरे के बिलकुल अनुरूप और समान होते हैं। वक्ष की कोठरी एक गुम्बद के समान प्रतीत होती है। श्वास में दोनों ओर की पसलियों की गति समान और यथा प्रमाण होती है।

(२) हृदय— स्वस्थावस्था मे हृदय कुछ कुछ शंकाकार होता है। इसकी छाया दाहिनी ओर वक्षोऽस्थि से एक इंच दक्षिण की ओर तक जाती है और बाईं ओर मध्यान्तक रेखा से कुछ परे तक जाती है। छाया का ऊपरी किनारा वक्षोऽस्थि और अक्षकास्थि की संधि से लगभग एक इंच नीचे होता है और नीचे का किनारा छठवीं उपपर्शुका और वक्षोऽस्थि की संधि के समतल होता है। बाईं ओर हृदय की छाया मे तीन गुलाईं लिए हुए उभार होते हैं। ऊपर का उभार महाधमनी की गुलाई (Aortic arch) से बनता है। बीच का उभार फुफ्फुसिया धमनी (Pulmonary artery) और बाये ग्राहक कोष्ठ (Auricle) से बनता है। नीचे का उभार बायें क्षेपक कोष्ठ (Ventricle) से बनता है। दाहिनी ओर दो गोल उभार होते हैं। ऊपर का उभार बृहत धमनी और ऊर्द्ध महाशिरा से और नीचे का उभार हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ से बनता है।

(३) मध्य वक्ष का ऊपरी भाग और फुफ्फुस मूल— मध्य वक्ष प्रदेश (mediastinum) साधारणतः वक्षोऽस्थि से कुछ चौड़ा होता है और दाहिनी ओर की अपेक्षा बाईं ओर को अधिक निकला रहता है। महाधमनी की गुलाई की छाया पाँचवे वक्ष कशेरूका के समतल बाईं ओर को अधिक सुव्यक्त होती है। फुफ्फुस मूल सामने दूसरे से चौथे उपपर्शुका और वक्षोऽस्थि के जोडों तक और पीछे चौथे से छठवे वक्ष कशेरूकटक तक होता है। दाहिनी ओर यह अधिक सुस्पष्ट होता है, क्योंकि बाईं ओर यह हृदय की छाया से ढका होता है। फुफ्फुस मूल की छाया वहाँ के अवयवों (श्वासनल, रक्तनाडी, लसिकानाडी, और फुफ्फुस तन्तु) के समवाय से बनती है। आकार मे यह छाया अर्द्ध चन्द्राकार होती है और उपपर्शुकाओं से बाहर नहीं निकली होती। स्वस्थावस्था मे बच्चो मे पन्द्रह वर्ष की आयु तक फुफ्फुस मूल की छाया मे कोई विशेष बात देखनेयोग्य नही होती। प्रौढावस्था में, विशेषकर उन लोगो मे जो शहरों मे रहते हैं और धूलमय व्यवसायो को करते रहे हैं, फुफ्फुस मूल की छाया प्रायः प्रमुख होती है। वहाँ कभी कभी खटिक-संग्रह के कारण बडी सघन छायाये मिलती हैं। परन्तु उनकी सीमारेखाये अस्पष्ट या धुँधली नहीं होनी चाहिए, क्योंकि अस्पष्टता रक्तावष्टम्भ, अतएव सक्रिय रोग सूचित करती है। वहाँ की लसिका-ग्रन्थियो में श्वासनलो, फेफडो और पार्श्वकलाओं से नाना पदार्थों के

परमाणु आकर जमा होजाते हैं। वृद्धावस्था मे छायायें साधारणत सुस्पष्ट दिखाई देती हैं। मोटे तोरपर यह कहा जा सकता है कि यदि बाल्यावस्था या तरुणावस्था मे फुफ्फुस मूल की छाया इतनी प्रमुख हो, जितनी कि वृद्धावस्था मे होती है, अथवा वे बाहर की ओर फुफ्फुसक्षेत्र मे बढी हुई हों और अर्द्धचन्द्राकार न हो, तो यह निश्चय समझना चाहिए कि कोई रोग है और यदि अन्य कोई हृदय या फुफुस-विकार न मिले, तो उनका कारण क्षय-रोग समझना चाहिए।

अच्छे छाया चित्रो मे फुफुस मूल से ऊपर, नीचे और बाहर को जाती हुई श्वासनलो की शाखाए दिखाई दे सकती हैं। क्षय-रोग मे श्वासनल सम्बन्धी लसिका-ग्रन्थियों के बढ जाने से ये छायाये अधिक सघन होजाती है।

(४) **फुप्फुस शिखर**—स्वस्थावस्था मे फुफ्फुसशिखर बिलकुल साफ होते हैं। वक्षोऽस्थि और अक्षिकास्थि के बीच के दोनो ओर के कोनो पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यह कोन ऊपर अक्षकास्थि से और मध्यरेखा मे वक्षोऽस्थि तथा मध्यवक्ष के अन्तर्गत अवयवों की छाया से बनता है। अन्य स्थानों की अपेक्षा इस स्थान मे प्रारम्भिक क्षय के चिह्न अधिक मिलते हैं।

(५) **फुप्फुस-गात** (दूसरी पसली से धरातल तक)—स्वस्थ फेफडो मे से पार होने मे रोञ्जन किरणो को बहुत कम रुकावट होती है। स्वस्थ फेफडे के रोञ्जन चित्र का रूप समानान्तर स्वच्छ क्षितिजक्षेत्रो का सा होता है जो पसलियों की सघन छायाओ से एक दूसरे से पृथक् दिखाई पडते है। वायु की अधिकता से फेफडे की पारदर्शिता बढ जाती है और वायु की कमी से किरणों के प्रेषण मे रुकावट होने के कारण फेफडो की छाया की पारदर्शिता कम होजाती है।

स्त्रियों मे स्तनो की भी, जब व बडे होते है, कुछ छाया पडती है जिससे वक्ष के छायाचित्रो से भलीभाँति परिचित न होनेवालों को रोग का सन्देह हो सकता है। परन्तु पीठ की ओर से रोगी का छाया चित्र लेने से यह कठिनाई दूर होजाती है।

(६) **वक्षोऽदर मध्यस्थ पेशी**—बाई ओर स्वस्थावस्था मे इस मासपेशी की छाया वक्षोऽस्थि के गात के निचले किनारे के समतल तक पहुँचती

है और दाहिनी ओर यकृति के कारण कुछ ऊँची होती है। इस मांसपेशी की गति दोनों ओर समान होती है।

इस मांसपेशी का निरीक्षण करते समय चार कोनो पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पसली और इस पेशी के बीच के दाहिने और बाए कोन, जो दोनों पार्श्वों मे दिखाई देते हैं, पार्श्वकला मे थोडा सा भी श्राव होने पर मिट जाते हैं। दाहिनी ओर हृदय और यकृति के बीच का कोन लगभग ९०° का होता है। चौथा कोन हृदय और आमाशय के बीच में होता है जो लगभग १२०° का होता है।

स्वस्थ फेफडे के रोञ्जन चित्र के उपरोक्त विवरण को केवल पथ-प्रदर्शक मात्र ही समझना चाहिए। विभिन्न आरोग्य व्यक्तियो के फेफडों के चित्रों मे कुछ कुछ अन्तर होता है जिससे परीक्षक को परिचित होना चाहिए और छायाचित्रो मे जो परिवर्तन मिले उनसे किसी परिणाम पर पहुँच मे अत्यन्त सावधान होना चाहिए।

फेफड़े के रोग में रोञ्जन-किरण परीक्षा

जब फेफडो मे रोग होता है, विशेषकर क्षय-रोग होता है, तो रोगी के रोञ्जन चित्रो मे उपरोक्त छहों भागों, वक्ष के अस्थि-पञ्जर, हृदय, मध्यवक्ष, फुफ्फुस शिखर, फुफ्फुसगात और वक्षोऽदर मध्यस्थ पेशी मे से किसी भी भाग मे परिवर्तन हो सकता है। अतएव इन सब भागों की जाँच क्रमानुसार बडी सावधानी से करनी चाहिए।

रोग में वक्ष की दीवार की बनावट में परिवर्तन—वक्ष की बनावट मे जितना विकार अन्य परीक्षा-विधियों से सूचित होता है, एक्सरे परीक्षा से उससे प्राय कहीं अधिक मिलता है। यदि एक ओर की पसलियाँ गिरकर एक दूसरे के अधिक सन्निकट हो जायँ और इसका कारण पृष्ठवंश की वक्रता न हो, तो क्षय-रोग समझना चाहिए। पसलियो का थोडा सा गिराव सक्रिय रोग के प्रारम्भ मे मिल सकता है, परन्तु दूसरी ओर पुराने रोग मे सूत्रनिर्माण के कारण भी होता है।

जब फुफ्फुस प्रदाह में फेफडा अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त नहीं होता और उसमे सूत्र निर्माण हो जाता है, जब फुफ्फुस संकोच (Atelectasis) होता है, जब पुरातन वाहुवक्ष तथा पार्श्वकला का पुरातन प्रदाह होता है, विशेषकर उस दशा में, जब स्राव होकर सूख जाता है, पसलियाँ बहुत तिर्छी हो





चित्र न० ६५—एक रोगी के वक्ष का पीठ की ओर से लिया हुआ चित्र
ध्यान देने योग्य बातें —(१) बाईं ओर पाददेश में पसलियों का गिरना (२) हृदयका बाईं ओर को हटना, (३) मध्यवक्ष का बाईं ओर को चौड़ा होना, (४) बाएँ फेफड़े के निचले दो तिहाई भाग की सघनता, शिखर पर दो रन्ध्र। ये रन्ध्र वायुवक्ष के हैं, क्योंकि अन्तर्पार्श्विक स्थल चौड़े होगये हैं।
(५) दाहिने फेफड़े में परिपूरक वायुध्मान, यह अत्यधिक स्वच्छ है और वक्षोदरमध्यस्थपेशी नीचे को दब गई है। यह चित्र एक क्षय रोगी का है जिसको वायुवक्ष होगया था। फेफड़ा ठोस है और सूत्रनिर्माण द्वारा चिपक गया है। पार्श्वकला मे वायु शिखर पर एकत्रित होगई है।

(पृष्ठ ४०१)

(From Crocket's Physical and Radiological examination of lungs, by permission)

The Hindi Mandir Press, Allahabad

दाहिना बायाँ



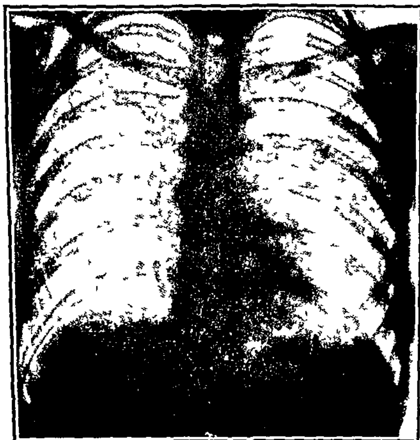
चित्र नं० ६६—इस चित्र में हृदय की छाया छोटी, लम्बी, पतली और मध्य रेखा में स्थित दिखाई देती है।

(पृष्ठ ४०१)

(From Crocket's Physical and Radiological examination of lungs, by permission)

The Hindi Mandir Press Allahabad

दाहिना बायाँ



चित्र नं० ६७—पुरातन क्षय के एक रोगी के वक्ष का रोञ्जन चित्र
ध्यान देने योग्य बातें। (१) बढ़ा हुआ और कदाकार हृदय, (२) फुप्फुस मूल की दबी हुई छाया—विशेषकर दाहिनी ओर, (३) दाहिने फेफड़े के शिखर पर सघनता, (४) बायें फेफड़े के शिखर पर वायुध्मान, (५) दाहिने फेफड़े में अभिव्यापन के कारण बिखरे हुए धब्बे, (६) बायें फेफड़े के बीच में पच्चड़ाकार भाग।

(पृष्ठ ४०१)

(From Crocket's Physical and Radiological examination of lungs, by permission)

The Hindi Mandir Press, Allahabad

जाती है और छत की खपरैल के समान ढालू देख पड़ने लगती है (चित्र न० ९४) अन्तर्पार्श्विक स्थल लगभग मिट से जाते हैं। लम्बी, संकीर्ण क्षयी वक्ष मे पसलियों का तिर्छापन दोनो ओर होता है। वायुध्मान और वायु-वक्ष रोगों मे पसलियाँ पहले की अपेक्षा अधिक समक्षितिज होजाती हैं और अतर्पार्श्विक स्थल अधिक चौडे होजाते हैं। जब वायुध्मान व्यापक होता है, तो सब पसलियाँ प्रभावित होजाती हैं। परिपूरक वायुध्मान और वायुवक्ष मे केवल रुग्न भाग की पसलियो मे ही परिवर्तन होता है (चित्र न० ९५)।

हृदय में परिवर्तन—क्षय-रोग मे हृदय की छाया के आकार परिमाण और स्थिति में भी परिवर्तन होजाते हैं। रोग के प्रारम्भ में और उग्र रोग में, जिसमे विष-व्याप्ति के लक्षण विद्यमान होते हैं, हृदय की छाया छोटी और लम्बी होती है और मध्यरेखा मे स्थित होती है (चित्र न० ९६)। पुरातन रोग मे, जब कि रोगी रोग का भली प्रकार प्रतिकार करता होता है, हृदय की छाया बडी और कन्दाकार होजाती है (चित्र न० ९७)। प्रारम्भिक और उग्ररोग मे अन्य मासपेशियों की भाँति हृदय की मांसपेशियाँ भी क्षीण होजाती हैं। हृदय की यह क्षीणता क्षय-रोग के अतिरिक्त वक्ष के अन्य किसी रोग में नहीं होती। पुरातन क्षय में फुफुस तंतु कम होजाता है और हृदय को अधिक बाधा का सामना करना करना पडता है। फलत हृदय की मासपेशियाँ मोटी होजाती हैं। इसलिए रोञ्जनचित्र मे हृदय की छाया बडी और कन्दाकार आती है (चित्र न० ९८)।

रोग की किसी भी अवस्था मे हृदय का छोटा होना शुभ लक्षण नही होता। यह इस बात का सूचक होता है कि रोगी को अब पूर्ण विश्राम करना चाहिए। यदि हृदय का आकार साधारण हो अथवा कुछ बडा होगया हो, तो रोगी की दशा सन्तोषजनक समझनी चाहिए। परन्तु फूले हुए हृदय को बढा हुआ हृदय नही समझना चाहिए। हृदय का फूलना रोगी के लिए शुभ लक्षण नहीं होता।

हृदय की स्थिति—हृदय का ऊपर को ऊँचा होना फेफड़े के रोगों मे बहुत विरल होता है, परन्तु उदर [illegible] न्य-कभी कभी कुछ ऊँचा उठ जाता है। व्यापक वायुध्मान [illegible] ातन कास-रोग मे हृदय कुछ नीचा [illegible], भी कभी कभी

जाती है और छत की खपरैल के समान ढालू देख पडने लगती है (चित्र न० ९४) अन्तर्पार्श्विक स्थल लगभग मिट से जाते हैं। लम्बी, संकीर्ण क्षयी वक्ष मे पसलियों का विक्षेपन दोनों ओर होता है। वायुध्मान और वायु-वक्ष रोगों मे पसलियाँ पहले की अपेक्षा अधिक समक्षितिज होजाती हैं और अतर्पार्श्विक स्थल अधिक चौडे होजाते हैं। जब वायुध्मान व्यापक होता है, तो सब पसलियाँ प्रभावित होजाती हैं। परिपूरक वायुध्मान और वायुवक्ष मे केवल रुग्न भाग की पसलियों मे ही परिवर्तन होता है (चित्र न० ९५)।

हृदय में परिवर्तन—क्षय-रोग मे हृदय की छाया के आकार परिमाण और स्थिति मे भी परिवर्तन होजाते हैं। रोग के प्रारम्भ में और उग्र रोग में, जिसमे विष-व्याप्ति के लक्षण विद्यमान होते हैं, हृदय की छाया छोटी और लम्बी होती है और मध्यरेखा में स्थित होती है (चित्र न० ९६)। पुरातन रोग मे, जब कि रोगी रोग का भली प्रकार प्रतिकार करता होता है, हृदय की छाया वडी और बन्दाकार होजाती है (चित्र न० ९७)। प्रारम्भिक और उग्ररोग मे अन्य मासपेशियों की भाँति हृदय की मांसपेशियाँ भी क्षीण होजाती हैं। हृदय की यह क्षीणता क्षय-रोग के अतिरिक्त वक्ष के अन्य किसी रोग में नही होती। पुरातन क्षय में फुफुस तंतु कम होजाता है और हृदय को अधिक बाधा का सामना करना करना पडता है। फलत हृदय की मासपेशियाँ मोटी होजाती हैं। इसलिए रोञ्जनचित्र में हृदय की छाया वडी और कन्दाकार आती है (चित्र न० ९८)।

रोग की किसी भी अवस्था मे हृदय का छोटा होना शुभ लक्षण नहीं होता। यह इस बात का सूचक होता है कि रोगी को अब पूर्ण विश्राम करना चाहिए। यदि हृदय का आकार साधारण हो अथवा कुछ बडा होगया हो, तो रोगी की दशा सन्तोषजनक समझनी चाहिए। परन्तु फूले हुए हृदय को बढा हुआ हृदय नहीं समझना चाहिए। हृदय का फूलना रोगी के लिए शुभ लक्षण नही होता।

हृदय की स्थिति—हृदय का ऊपर को ऊँचा होना फेफड़े के रोगो मे बहुत विरल होता है, परन्तु उदर के रोगो में हृदय कभी कभी कुछ ऊँचा उठ जाता है। व्यापक वायुध्मान मे और जब कभी पुरातन कास-रोग मे हृदय कुछ नीचा होजाता है। नवोत्पत्ति (रसौली) से भी कभी कभी

ऐसा होजाता है। रुग्नावस्था मे हृदय का एक ओर हटना बहुधा पाया जाता है ।

पार्श्विक स्थानच्युति के कारण—हृदय के एक ओर हटने के निम्नलिखित प्रमुख कारण होते हैं—(१) फुप्फुस रोगो मे सूत्रनिर्माण और वायुध्मान, (२) पार्श्वकला के रोगो मे स्राव, वायुवक्ष और पूय-वायुवक्ष, (३) मध्यवक्ष के रोगो मे रक्तकोप और नवोत्पत्तियाँ (वतौडियाँ) ।

पुरातन क्षय-रोग मे जब सूत्रनिर्माण अधिक होता है तो कभी कभी हृदय अपने स्थान से एक ओर को बहुत हट जाता है, जैसा कि चित्र न० ९४ में दिखलाया गया है। इस चित्र मे कुल हृदय दाहिनी ओर को चला गया है। इसी प्रकार की अतिशय स्थानच्युति पार्श्वकला मे स्राव या पीव पडने के फलस्वरूप भी पाई जाती है। इस दशा मे स्राव शोपित होने से पूर्व बहुत दिनो तक बना रहता है, जिसमे फेफडे में सूत्रनिर्माण होजाता है। सूत्रनिर्माण की अनुगामी इस स्थानच्युति के चिह्न रक्तकोप और मध्यवक्ष की नवोत्पत्ति के चिह्नों से इतने मिलते-जुलते होते है कि अन्य परीक्षाविधियो से उसका पहिचानना बडा कठिन होता है। परन्तु रोञ्जनकिरण-परीक्षा से तुरन्त इसका पता लग जाता है।

जब पार्श्वकला मे स्राव या वायु के कारण हृदय दूसरी ओर को हट जाता है तो स्थानच्युति की मात्रा स्राव या वायु की मात्रा के अनुसार होती है। स्राव अथवा वायु का शोपण हो जाने पर हृदय अपनी असली स्थिति मे लौट आता है। परन्तु पुरातन रोगियों में वायु या स्राव के कुछ रहते हुए भी हृदय उसी ओर को खिँच आता है जिस ओर की पार्श्वकला मे स्राव या वायु होती है। इसके दो कारण होते हैं। एक तो दूसरी ओर के स्वस्थ फेफडे मे परिपूरक वायुध्मान होने से हृदय और मध्यवक्ष रोग की ओर हट जाते हैं और दूसरे रोगाक्रान्त पार्श्वकला और फेफडे में बन्धन और सूत्रनिर्माण होने से हृदय और मध्यवक्ष उस ओर को खिँच जाते हैं।

मौरिस्टन डेवीज़ ने चिकित्सकों का ध्यान इस बात की ओर आकर्पित किया था कि जब फुप्फुस प्रदाह मे फुफ्फुस-तन्तु की सघनता की पार्श्वकला के स्राव से पहचान करना कठिन होता है, तो हृदय की स्थिति पथप्रदर्शक का काम करती है। पार्श्वकला के स्राव में हृदय दूसरी ओर को

हटता है, परन्तु इसके विपरीत फुप्फुस प्रदाह मे वह दूसरी ओर को बिलकुल नहीं हटता, अपितु कुछ कुछ रोग की ओर को ही हटता है।

मध्यवक्ष और फुप्फुसमूल की छाया में परिवर्तन—मृत शरीरो की परीक्षा से विदित होता है कि जिन स्थानों मे क्षय-रोग साधारणत होता है, उनमे से फुप्फुसमूलो में सब से अधिक होता है। राजयक्ष्मा के रोगियो में से लगभग ७० प्रतिशत मे मध्यवक्ष और फुप्फुसमूल की लसिकाग्रन्थियाँ बढ जाती हैं और किसी किसी मे तो बहुत बडी होजाती हैं। प्रौढावस्था मे क्षय-रोग प्राय इन्ही स्थानो से आरम्भ होता है। अन्य परीक्षा-विधियों से इन स्थानो के रोग का सन्देह तो हो सकता है, परन्तु निश्चितरूप से पता नही चलता। एक्सरे परीक्षा से तुरन्त और निश्चय पता लग जाता है।

जिन लोगों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता, जिनमे पाडुता, अवसाद श्वास कष्ट, कृशता इत्यादि लक्षण होते हैं, और जिनको बारबार बडी कष्टप्रद तथा साधारणत सूखी खाँसी आती है, उनमे से अनेकों के रोञ्जन चित्र मे मध्यवक्ष और फुप्फुसमूल की छाया बढी हुई मिलती है। मध्यवक्ष की लसिकाग्रन्थियो का क्षय रोग और तज्जनित विप व्याप्ति उनकी अस्वस्थता का कारण होती है। अनेक रोगियो में, जिनमें पहले फुप्फुस क्षय के कोई निश्चित लक्षण नही मिलते, अकस्मात फेफडों का विस्तृत क्षय होजाता है। इनमे वस्तुत पहले से मध्यवक्ष की ग्रन्थियो का क्षय होता है और जब कोई ग्रन्थि पककर श्वासनल मे फूट जाती है तो फेफडे मे क्षय-रोग एक दम फैल जाता है। ऐसे रोगियो का रोञ्जनचित्र देखने मे सूर्योदय के चित्र के समान होता है। इसमे फुप्फुसमूल पर छाया बहुत बडी और सघन होती है जो फेफडे के बाह्य पृष्ठ की ओर अनियमितरूप से कम होती जाती है और जिससे फेफड़ा धुँधला-सा दिखाई पडने लगता है।

सर डागलस पावेल का कहना है कि मध्यवक्ष की लसिकाग्रन्थियाँ श्वासनलों और फेफडो का कूडाघर और अनेक कीटाणुओ की श्मशान होती हैं। उनमें आक्रमणकारी कीटाणु और शरीर की प्रतिरोधशक्तियों मे निरन्तर युद्ध होता रहता है। कीटाणुओं तथा अन्य बाह्य पदार्थों की उत्तेजना से प्रकुपित होकर न केवल ग्रन्थियाँ ही फूल जाती हैं, बल्कि उनके परिवेष्टक तन्तुओ में भी प्रदाह होजाता है। इससे मटर से लेकर आलू के

ाकार तक की छायायें पडती हैं जो कभी गोल और कभी लम्बी होती हैं। ललत. फुप्फुस मूल की छाया अर्द्धचन्द्राकार रहने के बजाय फेफडो की ओर ाहर को बढ जाती है।

उग्र और सक्रिय रोग फुप्फुसमूल के बढे हुए अवयवों के किनारों के धुँधले ने से सूचित होता है। यह धुँधलापन कभी कभी सघन छायाओं के चारों ओर दीप्तिमडल के समान प्रतीत होता है। पुरातन और शान्त रोग छाया की ीमा के सुस्पष्ट होने से सूचित होता है। कोषवद्ध किलाटीय और ककडीली ोल्टियों की छायाओं की सीमा रोञ्जनचित्र मे सुस्पष्ट आती है (चित्र ं० ९८)।

जब क्षय-रोग होता है तो मध्यवक्ष और फुप्फुसमूल की छायाओं के ो और प्रतिरूपक चित्र होते हैं। एक में छाया एक गिरे हुए वृक्ष के समान होती है जिसकी बडी और अनियमित शाखाये ऊपर शिखर तक, नीचे पाददेश तक और बाहर को वक्ष तक जाती हैं। ऐसे रोगियों में परिश्वासनल प्रदाह (Peribronchitis) भी होता है। दूसरे मे छाया त्रिकोणाकार पत्ते के समान होती है जो फुप्फुसमूल से बाहर कक्ष तक फैली हुई होती है। फुप्फुसमूल की बढी हुई छायाओ का सबसे बडा कारण तो क्षय-रोग होता है, परन्तु वे कभी कभी अन्य रोगों में भी पाई जाती हैं। वक्ष की परीक्षा से इनकी पहचान की जा सकती है।

मध्य वक्ष की क्षय रोग से बढी हुई ग्रन्थियों की छाया रक्तकोष और बतौडी की छायाओं से मिलती जुलती होती है। रक्तकोष से इसकी इस बात से पहचान हो सकती है कि इसकी सीमारेखा अनियमित होती है और छाया निरीक्षण में फूलनेवाली नहीं होती, जैसी कि रक्तकोष में होती है (चित्र न० ९९)। मध्य वक्ष की नवोत्पत्ति की छाया साधारणत एक ओर कहीं अधिक होती है और वह गिरे हुए वृक्ष के समान नही होती (चित्र न० १००)।

फुप्फुस शिखरों के परिवर्तन—स्वस्थावस्था मे फुप्फुस-शिखर बिलकुल स्वच्छ होते हैं। शिखरों पर छाया साधारणत क्षय-रोग के कारण होती है। अक्षकास्थि और वक्षोस्थि के बीच के कोण पर विशेष ध्यान देना चाहिये। क्योंकि क्षय-रोग प्राय यहीं पर आरम्भ होता है।

फुप्फुस-गात में परिवर्तन—दूसरी पसली से पाददेश तक अर्थात् फुप्फुसगात मे अनेक प्रकार के परिवर्तन मिल सकते हैं।



चित्र नं० ६६—महाधमनी का रक्तकोष, बाईं ओर रक्तकोष की छाया दिखाई देती है। छाया-निरीक्षण में यह फूलती हुई दिखाई देती थी।

(From Crocket's Physical and radiological Examination of lungs, by permission)

(पृष्ठ ४०४)

The Hindi Mandir Press Allahabad



चित्र नं० १००—इस रोञ्जन चित्र में एक बड़ी वक्षान्तरिक बतौड़ी की छाया दाहिनी ओर दिखाई देती है।

(Skiagram taken by Dr E H Allon Pask, High Carby Sanatorium, by permission)

(पृष्ठ ४०४)

(अ) फुफ्फुसक्षेत्र बिलकुल सघन या काला हो सकता है। जब पार्श्वकला के गह्वर में तरलस्राव (रक्तरस या पीव) होता है तो उसमे से होकर रोञ्जनकिरणें पार नही हो सकतीं, इसलिए उनकी सबसे अधिक काली छाया पडती है (चित्र न० १०१)। सूत्रनिर्माण मे भी काली छाया होती है। साधारणत यह सब को सब एक-सी और इतनी गहरी नही होती, जितनी स्राव में होती है। परन्तु कभी कभी जब सूत्रनिर्माण बहुत होता है तो बहुत काली छाया पडती है और स्राव की छाया से उसकी पहचान केवल हृदय की स्थानच्युति से ही की जा सकती है (चित्र न० १०२)। अभिव्यापन और प्रदाहज ठोसपन की भी काफी काली छाया पडती है (चित्र न० १०३ और १०४)। परन्तु साधारणत इन दशाओं मे सब की सब छाया एक-सी गहरी नहीं होती। कुछ भाग अधिक गहरे होते हैं और कुछ कम। इस बात से इन दशाओं की पार्श्वकला के स्राव से पहचान की जा सकती है। यद्यपि अभिव्यापन की अपेक्षा किलाटीय परिवर्तन की छाया अधिक गहरी होती है, फिर भी छाया की गहराई से सदैव इन दोनो दशाओं की पहचान नहीं की जा सकती। अन्य दशाओं की भी, विशेषकर फेफडे की रसौलियों की ऐसी काली छाया पडती है जिससे भूल हो सकती है।

(आ) फेफडे छींटेदार या चितकबरे प्रतीत हो सकते हैं। छींटेपन या चितकबरेपन मे अर्द्धपारदर्शक भूमि पर विभिन्न परिमाणों के अस्पष्ट सीमावाले धब्बे अलग अलग अथवा अनेक एक साथ मिले हुए दिखाई पडते हैं (चित्र न० १०५)। क्षय-रोग के रोञ्जन-चित्र का यह लाक्षणिक रूप होता है। वस्तुत यह नियम होना चाहिए कि जब तक कुछ न कुछ निश्चित छींटापन या चितकबरापन न मिले, तब तक क्षय रोग नहीं समझना चाहिए। स्पष्ट सीमावाले पृथक पृथक सघनक्षेत्रों को, जिनकी गणना की जा सके, भूल से चितकबरापन नहीं समझना चाहिए। रोग जितना अधिक उग्र होता है, धब्बों की परिधि उतनी ही अधिक ऊनी (अस्पष्ट) प्रतीत होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धब्बों का कारण यक्ष्म-अभिव्यापन होता है। ऊनीपन रोगकेन्द्रों के चारोंओर रक्तावष्टम्भ होने से उत्पन्न होता है। पुरातन रोग में छींटों की सीमा अधिक सुस्पष्ट पृथक् और स्पष्ट सीमावाले सघन छींटे साधारणत

दाहिना बायाँ



चित्र न० १०८—इस रोञन चित्र में निम्नलिखित बाते ध्यान देने योग्य है —
(१) हृदय की बाई ओर को स्थानच्युति, (२) बाई ओर वक्षोदर-
मध्यस्थपेशी का ऊपर को खिच जाना, (३) दाहिनी ओर बढ़ी हुई
फुप्फुस मूल की छाया और फेफड़ेभर में बिखरी हुई
कक्ड़ीली गिल्टियाँ, (४) बाई ओर 'अ'
और 'ब' दो रन्ध्र और उन दोनो के
बीच में एक काली पट्टी ।

(From Crocket's Physical and Radiological Examination
of lungs, by permission)

(पृष्ठ ४०७)

The Hindi Mandir Press, Allahabad

श्वासनलों के परिवेष्टक अवयव मोटे होकर प्राय फुप्फुस मूल से किरणों की भाँति फैले हुए देख पडते हैं। कभी कभी ये धारी सी प्रतीत होते हैं और उनके सिरों पर गोलाकार या अडाकार छायायें होती हैं। सक्रिय रोग मे पक्षाकार छाया भी देख पडती है। पुरातन रोगियों मे फेफडे भर मे गोल गोल सघन क्षेत्र भी मिल सकते हैं, जो श्वासनलों की बढी हुई ग्रथियों अथवा ककडीले क्षयी केन्द्रों से उत्पन्न होते हैं।

कभी कभी फुप्फुस गात मे काले काले क्षेत्र दिखाई देते हैं जो सूखे हुए सेव के छल्लों के समान होते हैं। इनका कारण श्वासनलों के परिवेष्टक तन्तुओं का क्षय होता है और जब एक्सरे प्लेट को श्वासनल के छिद्र के समानान्तर रखकर चित्र लिया जाता है तो वे छल्लाकार प्रतीत होते हैं। यह देखा गया है कि कभी कभी यह छल्लाकार छाया कालान्तर में रुग्नभाग के श्वासनल में फूट जाने के कारण नारगी के आकार के ठोस काले क्षेत्रों मे परिणत होजाती है। यह भी देखा गया है कि बाद को वह कम सघन और अन्त मे विलीन भी होजाती है। श्वासनलस्फुलन रोग मे छायायें मधुमक्खी के छत्ते के समान अथवा वर्तुलाकार तथा कोशाकार होती हैं जिनका किनारा सुस्पष्ट और बीच का छिद्र पारदर्शक होता है।

यह दोहराना आवश्यक है कि सक्रिय क्षय रोग का लाक्षणिक चिह्न विभिन्न सघनता की छायायें होती हैं जिनके किनारे अस्पष्ट होते हैं जो उनके चारोंओर दीप्ति मडल से प्रतीत होते हैं (चित्र न० ९७)। ये क्षेत्र जितने अधिक सख्यक और जितने अधिक धुँधले होते हैं, रोग उतना ही अधिक सक्रिय होता है। अत्यन्त सक्रिय रोग के चित्र से हिमवर्षा का स्मरण होता है (चित्र न० १०७)।

पुरातन क्षय-रोग के चिह्न सुसघन क्षेत्र होते हैं जिनके बीच बीच मे वायुध्मान और चितकबरेपन के चकत्ते होते हैं। टेटुआ, मध्यवक्ष, हृदय इत्यादि स्थानान्युत होजाते हैं और वक्ष के रूप मे परिवर्तन होजाता है (चित्र न० १०८)।

रोग-शमन के ये चिह्न होते हैं। विभिन्न परिमाण की सुस्पष्ट सीमावाली बिखरी हुई छायाये, पृथक पृथक ककडीली गिल्टियाँ, विशेषकर फुप्फुस-मूल पर, और सूत्र-निर्माण जो मूल से त्रय्याकार फैला होता है और जिसके बीच बीच में वायुध्मान के प्रकाशमय क्षेत्र होते हैं। इस दशा में ऊनीपन अथवा

चितकवरापन नहीं होता (चित्र नं० ९८)। अतएव रोञ्जन किरण न केवल रोग का पता लगाने मे ही, अपितु उसकी तेजी, इलाज का परिणाम और इस बात का पता लगाने में भी उपयोगी होती हैं कि रोग शान्त हुआ है अथवा नही।

रन्ध्रो का पता कभी कभी अन्य परीक्षा-विधियो से बडी कठिनाई से लग पाता है, परन्तु रोञ्जन-परीक्षा से तुरन्त लग जाता है (चित्र न० १०८ व १०९)। सूत्र-निर्माण और सिकुडन होने से टेढुआ और मध्यवक्ष रन्ध्रो की ओर हट जाते हैं। रध्रो की आकृति उनके स्थान और उनके अन्तर्गत पदार्थों के अनुसार भिन्न भिन्न होती हैं। उनका पता लगाने के लिए परीक्षा से पूर्व रोगी को खाँसकर यथासम्भव सब कफ को निकाल देना चाहिए। प्राय आगे पीछे दोनो ओर चित्र उतारने की आवश्यकता होती है। यदि रध्र सम्मुख पृष्ठ के समीप हो तो पीछे से चित्र उतारने मे फल अनिश्चित होगा और आगे स उतारने मे चित्र विशद और स्पष्ट आवेगा तथा उससे रध्र का निश्चयात्मक पता लग जायगा।

यदि रध्र का परिवेष्टक भाग ठोस हो और रध्र के अन्दर पीव या श्लेष्मादि भरा हो, तो चित्र में एक सघन काले क्षेत्र के रूप में उसकी छाया पडेगी। यदि रंध्र मे वायु के सिवा और कुछ न हो तो उसकी छाया बहुत हलकी और स्वच्छ पडती है और उसकी सीमा सुस्पष्ट होती है।

छल्लाकार छायायें स्थानावद्ध वायुवक्षों से भी पडती हैं और क्षय-रोग अथवा विद्रधि के रध्र से उनकी पहचान करना बडा कठिन होता है (चित्र न० ११०)। जब छोटा वायुवक्ष होता है तो छाया का लाक्षणिक चिह्न उसका पतला तीक्ष्ण किनारा और उससे लगा हुआ चारोंओर का भाग स्वच्छ अथवा कुछ चितकबरापन लिए होता है। इसके विपरीत किलाटित क्षेत्र से उत्पन्न पुप्फुस रध्र की दीवारें साधारणत सघन होती हैं और उसके चारोंओर का तन्तु ठोस होता है।

जब रोग से कोई श्वासनल निर्बल होजाता है और खासने में जोर पडने से फट जाता है और उससे वायु अन्तर्वर्ती पुप्फुस तन्तु में पहुँच जाती है तो उससे भी छल्लाकार छाया रोञ्जनचित्र में आ जाती है। स्थानावद्ध वायुवक्ष से इसकी पहचान केवल रोञ्जन-चित्र से ही की जा सकती है।

दाहिना   बायाँ



चित्र न० १०६—फुप्फुस रंध्र का रोञ्जन चित्र,
बायें फेफड़े के ऊपरी भाग में एक बड़ा रंध्र है। रंध्र के
क्षेत्र में फुप्फुस तन्तु के कोई चिन्ह नहीं हैं और इसका
किनारा अनियमित है।
(From Wingfield's Pulmonary Tuberculosis,
by permission)

(पृष्ठ ४०८)

The Hindi Mandir Press Allahabad



चित्र नं० ११०—छल्लाकार छाया,
बायें फेफड़े के लगभग बीच में एक छल्लाकार छाया (क) दिखाई देती है।
(From Crocket's Physical and Radiological Examination of lungs, by permission)

(पृष्ठ ४०८)

The Hindi Mandir press, Allahabad



चित्र नं० १११—उग्र बजरीले क्षय का रोञ्जन चित्र
(From Crocket's Physical and Radiological Examination of lungs, by permission)
(पृष्ठ ४०६)

The Hindi Mandir Press, Allahabad



चित्र न० ११२—स्वयमोत्पन्न वायुवक्ष का रोञ्जन चित्र

वायुभरा भाग बिलकुल स्वच्छ है। तले में कुछ स्राव है जिसकी सतह समक्षितिज है।

(From Wingfield's Pulmonary Tuberculosis,
by permission)

(पृष्ठ ४०६)

The Hindi Mandir Press, Allahabad

उग्र यजरीले यक्ष्म जब तक बहुत पास पास नहीं होते तब तक दिखाई नहीं पडते । पास पास होने पर वे अनेक छोटे छोटे गोल दाने से फेफडों भर मे बिखरे हुए प्रतीत होते हैं (चित्र न० १११) । छायायें यक्ष्मो के समवाय से बनती हैं ।

पार्श्वकला की दशाएँ—रोञ्जन चित्र मे पार्श्वकला का नवीन प्रदाह सूचक कोई चिह्न नहीं होता । पार्श्वकला के पुरातन प्रदाह के छाया चित्र मे निम्नलिखित चिह्न होते हैं —

(१) व्यापक धुँधलापन, (२) अन्तर्पार्श्विक स्थलो की सकीर्णता, (३) वक्षोदरऽदर मध्यस्थपेशी की गति मे कमी और रूप मे परिवर्तन, (४) पृष्ठवश का टेढापन । पृष्ठवश रोग की ओर उन्नतोदर होजाता है । साधारण प्रदाह मे हृदय अपनी जगह से बहुत कम हटता है ।

पार्श्वकला का स्रावक प्रदाह—पार्श्वकला का स्रावक प्रदाह एक महत्वपूर्ण लक्षण होता है । स्रावक प्रदाह के रोगियो मे से लगभग ८० प्रतिशत क्षयी होते हैं । पार्श्वकला के स्रावक प्रदाह के चित्र स्राव की मात्रा के अनुसार विभिन्न रूप के होते हैं (चित्र न० ११२) । जब स्राव थोडा होता है तो केवल पसली और वक्षोदरमध्यस्थपेशी के बीच के कोण भर जाते हैं । स्राव की मात्रा मध्यम होने पर एक सघन काली छाया पडती है जिसका ऊपरी किनारा समक्षितिज नहीं होता, वरन टेढा होता है और बाहरी सिरे पर अथवा कक्षप्रदेश मे कुछ ऊँचा होता है ऊपरी किनारा कभी कभी अस्पष्ट होता है और उसके ऊपर फेफडा साधारणत स्वच्छ होता है । इसके अतिरिक्त हृदय दूसरी ओर को हट जाता है और पीछे एक काला त्रिकोण 'ग्रोको के त्रिकोण' के अनुरूप दिखाई पडता है । अधिक स्राव मे ऊपर से नीचे तक सघन काली छाया पडती है और हृदय, मध्य वक्ष अथवा की स्थान-च्युति सुस्पष्ट होती है। (चित्र न० १०१) ।

पार्श्वकला में पीब—पीब की वारीय स्राव से पहचान करना कठिन होता है । वारीय स्राव की अपेक्षा पूयस्राव की छाया अधिक सघन और उसकी सीमा अधिक सुस्पष्ट होती है । स्यूतबद्ध अर्थात थैली बन्द स्रावो, फुफ्फुस खडों के अन्तर्वर्ती स्रावों और पूय स्रावों की पहचान रोञ्जन किरण-परीक्षा से सबसे अधिक निश्चयात्मक होते हैं । स्राव के स्यूतबद्ध समहो के चित्र बडे लाक्षणिक होते हैं । वे बहुत स्पष्ट और

सुशोभित होते हैं और प्रधानतः पाद-देशो में पाये जाते हैं, परन्तु कभी कभी वे फुफ्फुस खडों के बीच में और मध्य वक्ष में भी मिलते हैं।

फुफ्फुस खडो के बीच के स्राव दोनों खडों की सधि रेखा पर मिलते हैं और उनके किनारे समक्षितिज, नतोदर अथवा उन्नतोदर होते हैं। कभी कभी वे पच्चराकार (Wedge shaped) प्रतीत होते हैं और उनका धरातल फुफ्फुसमूल की ओर होता है। स्यूत वद्धस्राव मे वहुधा हृदय और यकृत के बीच का कोण मिट जाता है। कभी कभी स्यूतवद्ध स्राव, रसौली और विद्रधि मे परस्पर पहचान करना वडा कठिन होता है। तीनो दशाओं के रोञ्जन चित्र कभी कभी बिलकुल एकसे होते हैं। इनकी परस्पर पहचान के लिए विभिन्न दिशाओं से कई एक चित्र लेने चाहिए और रोगी के लक्षणो तथा अन्य परीक्षा-विधियों द्वारा ज्ञात बातों से किसी निश्चय पर पहुँचने मे सहायता लेनी चाहिए।

वायुवक्ष—वायुवक्ष की पहचान अन्य विधियों से प्राय वडी कठिनता से होती है, विशेषकर जब कि वह स्थानावद्ध और अपूर्ण होती है, परन्तु एक्सरे द्वारा तुरन्त उसकी पहचान की जा सकती है। वायुवक्ष के रोञ्जन चित्र मे निम्नलिखित बाते होती हैं :—

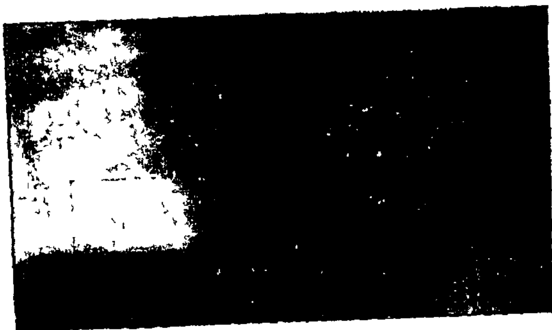
(१) असाधारण स्वच्छ क्षेत्र, जिसमें फेफडे के सामान्य लक्षणो का अभाव होता है, (२) वक्षोदरमध्यस्थपेशी का नीचा होजाना, (३) अन्तर्पार्श्विक स्थलो का चौडा होना, (४) पिचके हुये फेफडे की स्पष्ट सीमारेखा, (५) मध्यवक्ष, टेटुआ और हृदय का अपने स्थान से हटना (चित्र न० ९५ और ११२)।

छल्लाकार छायायें (चित्र न० ११०)—क्षय रोगियो में प्राय स्थानावद्ध वायुवक्ष की सूचक होती हैं। वे गोल अथवा अडाकार होती हैं। परिमाण मे वे कुछ सहस्राश मीटरो के व्यास के वृत्त से लेकर दो इच या उससे भी वडे व्यास के वृत्तो के बरावर होती हैं। उनका भीतरी किनारा बाहरी किनारे की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण होता है। फुफ्फुस-रध्रो की भी छल्लाकार छाया पड सकती है। शवच्छेद से भी गुप्त रंध्रो का पता लगा है। खाँसने से वायुध्मान के फफोलो के फटने से भी छल्लाकार छाया पड सकती है। बधनो के कारण वायु की केवल एक थैली बनकर रह जाती है, फैलने नहीं पाती।



चित्र न० ११३—वारि वायुवक्ष का रोञ्जन-चित्र
दाहिने पार्श्व के निचले भाग में स्राव की बिलकुल काली छाया है। इसकी सतह समक्षितिज है। इसके ऊपर का भाग जिसमें वायु है, अत्यधिक स्वच्छ है। इस चित्र की उपमा स्याही से अधभरे गिलास से दी गई है। बाईं ओर प्रतिपूरक वायुस्मान है।
(From Crocket's Physical and Radiological Examination of lungs, by permission)
(पृष्ठ ४११)

The Hindi Mandir press Allahabad



चित्र नं० ११४—पूयवायुवक्ष का रोञ्जन चित्र
इस चित्र में पूयस्राव की छाया बिलकुल काली और उसकी सतह
समक्षितिज है। वायुवाला ऊपर का भाग स्वच्छ है।
(From Crocket's Physical and Radiological Examination
of lungs, by permission)
(पृष्ठ ४११)



चित्र नं० ११५—पूयवायुवक्ष का चित्र
यह चित्र उसी रोगी का है जिसका ११४ नं० का चित्र है। इसमें यह
दिखलाया गया है कि रोगी के एक ओर झुकने पर भी
स्राव की सतह समक्षितिज रहती है।
(From Crocket's Physical and Radiological Examination
of lungs, by permission)
(पृष्ठ ४११)

The Hindi Mandir Press, Allahabad

अत इसकी भी छल्लाकार छाया पडती है। ऐसे स्थानावद्ध वायुवक्षों के निम्नलिखित लक्षण होते हैं —

(१) वे एकाएक उत्पन्न होते हैं, (२) उनमे एक सी चमक या स्वच्छता होती है, (३) तिरछी स्थिति मे चित्र लेने पर वे नही दिखाई पडती, (४) उरवीक्षक यत्र से वक्ष को श्रवण करने पर रध्रो के चिह्न नही मिलते, (५) वे शीघ्र वदल जाते हैं अथवा विलीन होजाते हैं। मध्य वक्ष मे भी कभी कभी वायुवक्ष होता है, इसका पता केवल रोञ्जन-परीक्षा से ही चल सकता है।

वारि-वायुवक्ष तथा पूय-वायुवक्ष—वारि-वायुवक्ष तथा पूय वायुवक्ष का चित्र वडा विचित्र और विलक्षण होता है। पार्श्वकला के साधारण स्राव या पीवरूप-स्राव से उसकी वडी सुगमता से पहचान की जा सकती है। वारि-वायुवक्ष की उपमा आधे भरे हुए काँच के गिलास से दी गई है (चित्र नं० ११३, ११४ और ११५)। तरल पदार्थ वायुवक्ष की कोठरी के निचले भाग मे रहता है और चित्र में बिलकुल काला दिखाई देता है। ऊपर का स्वच्छ भाग इसका बिलकुल उलटा होता है। तरल पदार्थ सदा समक्षितिज रहता है और रोगी को एकाएक झकझोरने से उसकी सतह पर हलकी लहर उठती हुई दिखाई देती है। जब वायु नही होती तो कभी-कभी यह निर्णय करना कठिन होजाता है कि पाददेश की काली छाया का कारण पार्श्वकला का स्राव है अथवा फेफडे का ठोसपन। निम्नलिखित बातो से निर्णय करने मे सहायता मिलती है —

(१) स्राव की छाया सदैव बिलकुल काली होती है और उसमे पसलियाँ नहीं दिखाई देती। (२) स्राव मे अन्तर्पार्श्विक स्थलो मे चौडे होने की प्रवृत्ति होती है। फुफ्फुस-रोग मे उनकी प्रवृत्ति सकीर्ण होने को होती है और उनसे खपरैल की-सी आकृति बन जाती है, (३) स्राव में उस ओर के पार्श्व की चौडाई बढ जाती है और फुफ्फुस-रोग मे कम होजाती है, (४) स्राव मे वक्षोदरमध्यस्थपेशी की सीमा स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती और समीपस्थ इन्द्रियाँ, जिस ओर स्राव होता है उससे दूसरी ओर को हटती हैं। फेफडे के ठोसपन मे इन्द्रियाँ यदि हटती हैं तो रोग की ही ओर को हटती हैं।

क्षय-रोग में वक्षोदरमध्यस्थपेशी के परिवर्तन—सन १९०७ ई० मे विलियम्स ने यह बतलाया था कि क्षय-रोग के प्रारम्भ में, जब कि रोञ्जन-चित्र में रोग की कोई छाया नही पडती, रोग की ओर वक्षोदरमध्यस्थपेशी

की गति कम होजाती है। कुछ रोगियो मे गति झटकेदार होजाती है। यह चिह्न क्षय-रोग का सूचक होता है परन्तु उसका निश्चयात्मक चिह्न नही होता। कुछ प्रारम्भिक रोगियो मे यह चिह्न नही भी मिलता है।

पार्श्वकला के प्रदाह मे बंधनों के कारण वक्षोदरमध्यस्थपेशी के रूप मे विकार होजाते हैं। कभी कभी यह शृङ्गाकार, कोणाकार अथवा अनियमितरूप का होजाता है (चित्र नं० १०५)। जब फेफडो मे सूत्र-निर्माण होजाता है तो वक्षोदरमध्यस्थपेशी बहुधा ऊपर को उठ जाती है।

एक्सरे छाया-निरीक्षण

एक्सरे छाया-निरीक्षण मे पूर्वोक्त उन्ही छ बातो का क्रमश निरीक्षण करना चाहिए जिनका उल्लेख छाया-चित्रण के सम्बन्ध मे किया जा चुका है।

(१) **वक्ष की बनावट**—स्वस्थ व्यक्तियों मे दोनो पार्श्वों मे पसलियॉ बनावट मे एक-सी होती हैं और श्वासक्रिया में दोनो ओर एक-सी गति होती है। श्वास मे वक्ष के एक पार्श्व की दूसरे पार्श्व से तुलना करनी चाहिए। जिस ओर रोग होता है उस ओर की पसलियो की गति कम होजाती है। जब दोनो ओर की पसलियॉ अधिक क्षितिज होती हैं तो वायुध्मान रोग की द्योतक होती हैं और जब यह क्षितिजता केवल एक ओर होती है तथा फेफडे के कोई चिह्न नही होते, तो वायुवक्ष की सूचक होती है।

(२) **और (३) हृदय और मध्यवक्ष**—इसमे हृदय के सम्बन्ध मे वही बाते देखने योग्य होती हैं जिनका उल्लेख छाया-चित्रो के सम्बन्ध में किया जा चुका है।

(४) **फेफड़ों के शिखर**—फेफड़ों के शिखरो का सावधानी से निरीक्षण करना चाहिए और उनकी पारदर्शिता की जॉंच करनी चाहिए। सिद्धान्तरूप मे दोनो शिखरों की छायाओं मे पारदर्शिता एक-सी होनी चाहिए, परन्तु व्यवहार में साधारणत कई कारणवश दोनो ओर की छायायें बिलकुल एकसी नही होती किसी न किसी ओर की छाया दूसरी ओर की अपेक्षा कुछ अधिक गहरी होती है। इस सम्बन्ध मे खॉसने पर जो विचित्र घटना होती है, वह उल्लेखनीय है। स्वस्थ मनुष्यों में शिखरो की छायाओ की पारदर्शिता मे विभिन्न दशाओ के अनुसार

अंतर पड़ जाता है। गहरी साँस लेने से शिखर की छाया कुछ अधिक स्वच्छ होजाती है। शिखरों की छाया पहले धुँधली होने पर भी खाँसने पर चमकने लगती है। परन्तु जब शिखर में रोग होता है तो रुग्न शिखर की छाया खाँसने पर भी स्वच्छ नहीं होती, काली ही बनी रहती है। यह घटना छाया-चित्रण की अपेक्षा छाया-निरीक्षण में कहीं अच्छी देखी जा सकती है। कुछ लोगों का मत है कि यह घटना छाया चित्रों में आ ही नहीं सकती।

(५) **फुप्फुस शरीर**—फेफड़ा के शरीर में छाया-निरीक्षण परीक्षा में।वही बातें ज्ञात होती हैं जिनका उल्लेख छाया-चित्रण के सम्बन्ध में किया जा चुका है। छाया-निरीक्षण में अधिक बात फेफड़ों की गति के सम्बन्ध में यह मालूम होती है कि स्वस्थ फेफड़े की अपेक्षा रुग्न फेफड़े की गति कम होजाती है और पार्श्वकला में यदि बंधन होते हैं तो उनका स्पष्ट पता चल जाता है।

(६) **वक्षोदरमध्यस्थपेशी**—छाया-निरीक्षण में इस मांस पेशी की गति पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अधिकाश क्षय रोगियों में रोग की ओर इस पेशी की गति कम होजाती है। गति केवल कम ही नहीं होती, किन्तु कभी कभी झटकेदार भी होजाती है।

वक्षोदरमध्यस्थ पेशी के बाहरी सिरों पर पसली और वक्षोदर-मध्यस्थपेशी के बीच के कोण होते हैं। इन कोणों की प्रत्येक रोगी में भली भाँति जाँच करनी चाहिए और दोनों ओर के कोणों की परस्पर तुलना करनी चाहिए। प्रश्वास में ये कोण बढ़ जाते हैं तथा स्वच्छ होजाते हैं, और निश्वास में सकुचित तथा कम स्वच्छ होजाते हैं। इन कोणों का कम अथवा विलीन होजाना पार्श्वकला या फेफड़े के रोग का सूचक होता है। हृदय और यकृति के बीच का कोण क्षय-रोग में, विशेषकर पार्श्वकला के प्रदाह में अधिक चौड़ा होजाता है या बिलकुल मिट जाता है।

साराश—साराश में यह कहा जा सकता है कि फेफड़ों के क्षयी-विकार तथा अन्य रोगावस्थाओं की पहचान करने में रोञ्जन किरणें निस्सन्देह बड़ी उपयोगी होती हैं। उनसे प्राय सब सन्देह दूर होकर पता लग जाता है कि रोग कौन सा है और कितना फैला हुआ है।

यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि केवल रोञ्जन किरण-परीक्षा से ही रोग की पहचान नहीं हो सकती। कुशल निरीक्षक केवल चित्र को देखकर

कदाचित् ही ऐसा कहेगा कि यह छायाये क्षय-रोग की हैं। वह यह कह सकता है कि इन छायाओं से क्षय-रोग सूचित होता है। रोगी के वृत्तान्त, शारीरिक परीक्षा तथा अन्य परीक्षाओं के फल से उस मत का मडन या खडन हो सकता है। रोञ्जन-किरण-परीक्षा को सदैव अन्तिम निर्णायक न्यायालय समझना चाहिए। इनको विचार का पहला या एकमात्र न्यायालय नही समझना चाहिए। क्षय-रोग मे रोञ्जन-किरण की सबसे अधिक उपयोगिता उन दुर्बोध रोगियो मे होती है जिनमे रोग का प्रारम्भ अज्ञात रूप से होता है। उदाहरणार्थ, जिनमे रक्त निष्ठीवन अथवा पार्श्वशूल ही केवल एकमात्र लक्षण होता है और परीक्षा करने पर कोई रोग-चिह्न नही मिलता। इलाज से रोगी को जो लाभ होता है उसकी प्रगति का अनुमान करने में और साध्यासाध्यता का निर्णय करने मे भी रोञ्जन-किरण परीक्षा बडी उपयोगी होती है। समय समय पर चित्र उतारने से रोगी की प्रगति का निश्चयात्मक पता लग सकता है और यह बताया जा सकता है कि अब सन्तोषजनक प्रगति होचुकी है और रोगी प्रकटत अच्छा होगया है।



शब्दानुक्रमणिका

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेजी के पर्यायवाची शब्द
अप्रयोग की क्षीणता	३१२	Disuse atrophy
अप्रत्यक्ष विधि	३५७	Indirect method
अफारा	३२६	Tympanites
अभिव्यापन	३०१	Infiltration
अभिव्यापक रूप (स्वर यन्त्र के क्षय का)	१७५	Infiltrative form of tuberculosis of Larynx
अभिव्यक्ति	१४१	Manifestation
अम्लस्थाई	८	Acid fast
अम्ल रगेच्छु श्वेत कण	२७३	Eosinophils
अर्द्ध पारदर्शक	१५०	Transluscent
अवरोध	३०४	Resistance
अव्यवहित विधि	३२६	Direct method
असफल क्षय	२३६	Abortive Tuberculosis
असाध्यालय	३	Institution for incurables
अक्षकास्थि	३०४, ३२२	Clavicle
आक्सिजन	६	Oxygen
आगर	६	Agar
आण्डहीन	११०	Castrated
आत्म-सक्रमण	१३१	auto-infection
आत्म-पुनर्संक्रमण	१३४	auto-reinfection
आन्तरिक या रचनात्मक कारण	६७	Endgenous or constitutional causes
आदर्शमान ध्वनि—वक्ष की	३४०	Standard note of chest
आयु वितरण	५४	Age distribution
आशावाद	२८३	Optimism
इन्फ्लुएन्ज़ा	११५, २४३, २४६	Influenza
उग्र धावमान क्षय	२६०	Acute galloping Phthisis
उग्र बाजरीका क्षय	१३,२७, १६१, २२३, ३११	Acute miliary Tuberculosis

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेजी के पर्यायवाची शब्द
ऋणात्मक	४२	Negative
ऋतुकाल	२१६	Menstrual period
एंटीफार्मिन	२०६	Antiformin
एंटीफार्मिन विधि	२०६	Antiformin method
एडीनाईड	१६०	Adenoids
एब्डामिनल ट्यूबरक्युलोसिस	२५	Abdominal Tuberculosis
एल्बुमिन	१६१, २७६	Albumin
एल्बुमिन प्रतिक्रिया	२११	Albumin reaction
एलिस का वक्र	२५१	Ellise's curve
एक्सरे छाया चित्रण	३६४	Radiography
एक्सरे छाया निरीक्षण	३६४	Radioscopy
एसिटिक एसिड	२०१	Acetic Acid
औद्योगिकता	६१	Industrialism
कन्डीला	२८, १२१, १२४,	Calcified
कटिबंध व्रण	१७७	Girdle ulcer
कंठमाला	१२५, १८६	Scrofula
कन्दाकार	४०१	Bulbous
कफ	२०१, २०३	Sputum
कफ—रक्तवर्ण	२०३	Sputum-blood tinged
कफ में कंकड़ी	२०४	Calcarious nodules in sputum
करकर कण	२७६, २७७	Crepitations
कर्ण भाग	३५६	Ear piece
कर्बोज	२५६	Carbohydrates
कशेरुका	३६७	Vertebra
कशेरुकण्टक	३२३	Spine of vertebra
कक्षस्वेद	२६५	Axillary sweat
काचभ फुप्फुस प्रदाह	१६३	Vitreous Pneumonia
कार्बल फुक्सिन	८	Carbol Fuchsin
कास कण-मञ्जुल	३७६	Sonorous rhonchi
कासीय खरखराहट	३०८	Rhonchal fremitus
कास-कण	३८०	Rhonchi

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेजी के पर्यायवाची शब्द
गिनीपिग पशु	१३, २३, २०६	Guinea pig
गुप्त क्षय	२४, २८	Latent Tuberculosis
गुप्तावस्था	१३०	Latency
गुप्तवाहक	१३१	Latent Carrier
गुप्त क्षयीविकार	१३०	Latent Tuberculous lesions
गुच्छ-ग्रन्थिल क्षय	१६२	Acinous-nodose Tuberculosis
गुदाताप	२१३	Rectal temperature
गूँज	३४०	Resonance
गूँजयुक्त	३३६	Resonant
गूँजाधिक्य	३५२	Hyperresonance
ग्रन्थि-क्षय	१५	Tuberculosis of glands
ग्राहक कोष्ठ	३६८	Auricle
ग्रोको का त्रिकोण	४०६	Groco's Triangle
ग्लिसिरीन	६	Glycerine
घंटीशब्द	३७२	Bell Sound
घर्षणशब्द	३२४	Friction Sound
चटपट या भर्जन ध्वण	३७८	Subcrepitant rales
चतुरस्रा पेशी	३४८	Trapezeus muscle
चपटा और पक्षवत्वक्ष	२६६	Flat and alar chest
चावल दाने	२०४	Rice bodies
चितकबरापन	४१२	Mottling
चुल्लिका ग्रंथि	११०	Thyroid gland
चुल्लिका ग्रंथि की तेज़ी	२६८	Hyperthyroidism
छलक शब्द	३२४, ३८०, ३८६	Succussion splash
छल्लाकार छायायें	४१०, ४१२	Annular shadows
छींटेदार	४०५	Mottled
छूत	३	Contagion
जन संकीर्णता	४५, ११७	Overcrowding
जनन तत्व	१०१	Germplasm

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेजी के पर्यायवाची शब्द
इसथ्मस—क्रानिग का	३३५	Isthmus of Kronig
डिप्थीरिया	१४६	Diphtheria
डिम्बप्रणाली	१०८	Fallopian Tube
डिम्ब	१०१	Ovum
डिम्बान्तरिक सक्रमण	१०२	Intraovular infection
डेस्पिन का रोगचिह्न	३६०	D'Espine's sign
तम्बूरीय गूंज	३२८	Tympanitic resonance
तम्बूरीय ध्वनि	३४०	Tympantic note
तापनियत्रक केन्द्र	२१२	Heat regulatingcentre
त्वचाकन	२११	Dermography
थर्मामीटर (तापमापक यत्र)	२१२	Thermometer
थाईसिस	२	Phthisis
थैलीबद्ध	३६३	Encysted
दानेदार ततु	१४१	Grannulation tissue
दीप्तिमडल	४०४	Halo
दप्ति	२६६	Flush
दैत्यसेल	१५१	Giant Cell
दौरेदार खाँसी	१६५	Paroxysmal Cough
दाम्पत्यिक क्षय	१३७	Marital Phthisis
द्वादशागुल	१७६	Duodenum
धनात्मक प्रतिक्रिया	४६	Positive reaction
धनात्मक एल्बुमिन प्रतिक्रिया		Positive albumin reac tion
धडकन	२०७	Palpitation
धातु-झकार	३७६, ३८०	Metallic tinkling
धातविक गूँज	३५४	Metallic resonance
धामनिक रक्त	१११	Arterial blood
धुकधुकी	२०३, ३१४	Apex beat
नकली खाँसी	१६५	Spurious Cough
नवोत्पत्ति	३०५, ४०१	Neoplasm

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेजी के पर्यायवाची शब्द
पारदर्शक	४०७	Transparent
पार्श्वकला का प्रदाह	११४	Pleurisy
पार्श्वकला में स्राव	३२५	Pleurisy with effusion
पार्श्विकधारा	३४२	Costal border
पार्श्विक स्थानच्युति	४०२	Lateral displacement
पिंगल नाड़ी मंडल	२७६	Sympathetic nervous system
पिता की रोगक्षमता	१३८	Paternal immunity
पिलपिलाहट	३१३	Fluctuation
पुनर्शोषण	१८०	Resorption
पुनर्संक्रमण	१३३, १३४	Reinfection
पुनरुद्दीपन	२१२, २२६	Exacerbation
पुरातन प्रदाह	३२१	Chronic Inflammation
पूय वक्ष	३८०	Empyema
पूय या वारि वायुवक्ष	३१२	Pyo or Hydro Pneumothorax
पूय-वायुवक्ष	१६७	Pyopneumothorax
पूय स्राव	४०६	Purulent effusion
पूर्णमान्द्य	३५४	Absolute dullness
पृष्ठ शारीरक	३२७	Surface Anatomy
पेशियों की फड़कन	३१३	Myotatic irritability
पोटास आयोडाइड	२७७	Potassium Iodidé
प्रकृतिस्थ ताप	२१५	Normal Temperature
प्रकृतिस्थ वक्ष	२८८	Normal Chest
प्रकृतिस्थ श्वास शब्द	३६२	Normal breath sound
प्रखर या कर्कश शब्द	३६६	Harsh or rough breathing
प्रणाली विहीन ग्रन्थियाँ	१०६, १८०, २३०	Ductless glands
प्रणाश	३६३	Gangrene
प्रत्यक्ष विधि	३५६	Direct Method

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेजी के पर्यायवाची शब्द
शुद्ध शस्य	१२७	Pure culture
शुष्क क्षण	३२८	Dry râles
शोथ	३२१	Oedema
शोष	१	Atrophy
श्यामता	२६४	Cyanosis
श्रवणपरीक्षा	३५६	Auscultation
श्लेष्मिक क्षण	३७८	Mucous râles
श्लेष्मकला	२४, १४६	Mucous Membrane
श्वास-कष्ट	२२३	Dyspnœa
श्वासनल	१५४	Bronchus
श्वासनल फुप्फुस प्रदाह	१६३	Bronchopneumonia
श्वासनल-फुप्फुस प्रदाहरूपी क्षय	२२३	Bronchopneumonic Phthisis
श्वासनलोत्फुलन	३५०, ४०३	Bronchiectasis
श्वासनालिक श्वास	३६४	Bronchial breathing
श्वासनल कोष्टीय श्वास	३६५,३७२, ३७७	Bronchovesicular breathing
श्वासनल-वाक् ध्वनि	३८८	Bronchophony
श्वेत रक्त कण	२७३	Leucocytes
श्वेत कणों की निरपेक्ष वृद्धि	२७३	Absolute lencocytosis
श्वेत कणों की सापेक्षिक वृद्धि	२७३	Relative lencocytosis
सङ्क्रमण	४	Infection
सक्रमण, आभ्यन्तरिक	१३४	Endogenous infection
सङ्क्रामक	३	Infectious
सन्निकट सम्पर्क	६८	Close contact
समकेन्द्रिक	१५१	Concentric
सम्पीडन सघनता	१६०	Collapse induration
सहज रचनात्मक कारण	१०७	Congenital constitutional causes
सहज क्षय	१०५	Congenital Tuberculosis

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेजी के पर्यायवाची शब्द
क्षय-कीटाणु	४, ७	Tubercle Bacilli
क्षय-कीटाणु, रूपान्तर	१०	Mutation of Type of Tubercle bacilli
क्षय ग्रहणशील	४१	Susceptible to Tuberculosis
क्षयातक	११५	Phthisiophobia
क्षयोत्पादन	५, ६८	Phthisiogenesis
क्षय प्रवणशीलता	१४४	Tuberculous predisposition
क्षय-संक्रमण	१६, ३२	Tuberculous infection
क्षयो परम्परा	१०१	Tuberculous Heredity
क्षयोविकार	१२४	Tuberculous lesion
क्षयी वक्ष	२६६	Tuberculous chest
क्षयी विस्फोटक	२६५	Tuberculides
क्षयी प्रक्रिया	१७८	Tuberculous process

